आचार्य वसुबन्धु कृत

अभिधर्म कोश

भाग ४

[सप्तम, अष्टम और नवम कोशस्थान]

अनुवादक

आचार्य नरेन्द्र देव

आचार्य वसुबन्धु कृत

अभिधर्म कोश

भाग ४

[सप्तम, अष्टम और नवम कोशस्थान]

अनुवादक

आचार्य नरेन्द्र देव

प्रकाशकीय

स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव द्वारा अनूदित और सम्पादित आचार्य वसुबन्धु के प्रसिद्ध बौद्ध-दर्शन-व्याख्या-ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' का पहला खण्ड १९५८ में, दूसरा खण्ड १९७३ में तथा तीसरा खण्ड १९८४ में प्रकाशित हुए थे। 'अभिधर्मकोश' को पूरा करने के लिए खण्ड ४ का प्रकाशन भी नितान्त आवश्यक रहा। इस प्रकार 'अभिधर्मकोश' अब चार खण्डों में पूरा हुआ। हिन्दुस्तानी एकेडेमी सम्पूर्ण 'अभिधर्मकोश' को प्रकाशित कर अपने को गौरवान्वित कर रही है।

प्रस्तुत खण्ड ४ के प्रकाशन में प्रयाग विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष प्रोफे० संगमलाल पाण्डेय का विशेष योगदान रहा है।

विश्वास है, विद्वत् समाज और सुधी जन इस चौथे खण्ड का भी स्वागत करेंगे।

जगदीश गुप्त
सचिव

विषय-सूची

सातवाँ कोशस्थान

ज्ञान-निर्देश

[१] हम क्षान्ति (६.२५ डी), ज्ञान (६.२६ बी), सम्यग्दृष्टि (६.५० सी) और सम्यग्ज्ञान (६.७६ सी) का वर्णन कर चुके हैं। यह प्रश्न पूछा जाता है कि क्या क्षान्ति ज्ञान नहीं है, क्या सम्यग्ज्ञान सम्यग्दृष्टि नहीं है।

नामलाः क्षान्तयो ज्ञानं क्षयानुत्पादधीर्न दृक्।
तदन्योभयथार्या धीरन्या ज्ञानं दृशश्च षट् ॥१॥[1]

१ ए. अमला क्षान्ति ज्ञान नहीं हैं।[2]

---

१. यह कोशस्थान दो भागों में विभक्त है। पहले भाग में (१) क्षान्ति, ज्ञान और दर्शन-दृष्टि (दृश्) का भेद बतलाया गया है (कारिका १); (२) १० ज्ञानों के लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं (का० २-९); (३) १० ज्ञानों के आकारों का उल्लेख है (१०-१३ बी); (४) विविध प्रश्नों का निर्देश किया गया है (प्रश्न-निर्देश, १३ सी-२७)। दूसरे भाग में ज्ञानमय गुणों का वर्णन है (२८-५५) [जापानी सम्पादक की विवृति के अनुसार]। वसुबन्धु ने जिन ग्रन्थों से सहायता ली है उनमें प्रकरणपाद, १३.१०, आगे १४ में इन विषयों का वर्णन है : १० ज्ञानों का लक्षण; दर्शन जो ज्ञान नहीं है; ज्ञानों का विषय (१४ बी ११); अन्योन्य संग्रह (१५ ए ३); क्यों ? (१५ ए ८); कौन ज्ञान सास्रव है; कौन अनास्रव है ? सास्रव अव्यय, संस्कृत आदि, क्या हैं ? देखिए पालि में, संयुत्त, (२.५७), दीघ, (३, २२६-२२७), पटिसंभिदामग्ग, विभंग, (३०६-३४४), विशेषकर ३२८।

२. नामलाः क्षान्तयो ज्ञानं क्षयानुत्पादधीर्न दृक्।
तदन्योभयथार्या धीरन्या ज्ञानं दृशश्च षट्॥

ज्ञान दर्शन पर (८. २७ सी) देखिए।

प्रज्ञा (२.२४) में वर्णित चैत्त जो सब चित्तों से सहगत है, अनास्रव या सास्रव है।

१. अनास्रव प्रज्ञा 'ज्ञान' या 'क्षान्ति' है।

ए. 'ज्ञान' से तात्पर्य निश्चित ज्ञान से है जो विचिकित्सा से रहित है। (निश्चित; ज्ञानं निश्चित रूपेण उत्पद्यते ज्ञान 'प्रत्यवेक्षणमात्र' हो सकता है (नीचे देखिए, ५. ३. टिप्पणी २) जैसे क्षयज्ञान और अनुत्पादज्ञान (६.६७ ए)।

यह सन्तीरण से, परिमार्गणाशय से सहगत हो सकता है। दूसरे शब्दों में यह उपनिध्यानपूर्वक मनसिकार (१.४१ सी-डी) हो सकता है; इस अवस्था में यह 'दर्शन' है। इस ज्ञान के लिए जिज्ञासा की आवश्यकता है; यह उपनिध्यानपूर्वक होता है। इसलिए

[२] आठ अनास्रव क्षान्तियाँ जो "दर्शन मार्ग" में संगृहीत हैं (आभिसमयान्तिक) (६.२५ डी-२६ सी) अपने स्वभाववश ज्ञान[1] नहीं हैं क्योंकि क्षान्ति क्षण में क्षान्ति प्रहेय विचिकित्सानुशय प्रहीण नहीं होता। किन्तु निश्चित ज्ञान इष्ट है; जब विचिकित्सा का प्रहाण होता है तब इसका उत्पाद होता है। यह आठ प्रकार की क्षान्तियाँ "दर्शन" हैं क्योंकि ये सन्तीरणात्मक हैं।[2]

हम कह सकते हैं कि यह 'परिमार्गणा' या उपपरीक्षा है। तिस पर भी पाश्चात्य समानार्थक शब्द अपर्याप्त हैं क्योंकि यहाँ विविध विषय के ज्ञान का विचार नहीं हो रहा है किन्तु एक ऐसे ज्ञान का जो केवल एक क्षण रह सकता है, जो वितर्क-विचार रहित समापत्ति की अवस्थाओं में उत्पन्न होता है।

बी. क्षान्ति विचिकित्सा से रहित नहीं है क्योंकि विचिकित्सा का अपनयन कर ज्ञान का उत्पाद इसका विषय है। यह निश्चयरूपेण नहीं उत्पन्न होतीं, किन्तु क्षमण रूपेण उत्पन्न होती हैं। कदाचित् हम इस सूक्ष्म भेद को यह कह कर व्यक्त कर सकते हैं कि क्षान्ति की अवस्था में योगी विचार करता है कि 'धर्म निस्सन्देह अनित्य हैं'...और ज्ञान की अवस्था में वह विचार करता है 'धर्म अनित्य हैं......।" इसलिए अमला क्षान्तियाँ शैक्षी सम्यग्-दृष्टि हैं (१.४१ ए)। वास्तव में दर्शन मार्ग की अवस्था में उनका उत्पाद होता है और इस-लिए वे शैक्ष की विशेषता हैं और वे दर्शन हैं।

२. सास्रव प्रज्ञा या तो पंच इन्द्रिय विज्ञान से (चक्षुर्विज्ञान आदि से) संप्रयुक्त होती है या मनोविज्ञान से।

पहली अवस्था में यह ज्ञान है; यह सदा 'दर्शन' नहीं है।

दूसरी अवस्था में यह ज्ञान (संवृतिज्ञान ७.२ बी) है, यह 'दर्शन' है।

ए. जब यह सास्रव प्रज्ञा कुदृष्टियों से (सत्काय दृष्टि आदि से १. ४१ ए) प्रतिसंयुक्त होती है।

बी. जब यह कुशल होती है अर्थात् सम्यग् दृष्टि से संप्रयुक्त होती है। तथापि यह कभी-कभी अयथार्थ रूप से "क्षान्ति" कहलाती है। तीसरा निर्वेधभागीय (६.१८ सी) वास्तव में "ज्ञान" है यद्यपि वह 'क्षान्ति' कहलाता है।

१. प्रकरण (२३.१०, १०बी ३), ७.७ की व्याख्या में उद्धृत है:—यत् तावज्ज्ञान दर्शनमपि तत्। स्यात्त दर्शनम् न ज्ञानमष्टावाभिसमयान्तिकाः क्षान्तयः [दुःखे धर्मज्ञान-क्षान्तिः.........]।

२. सन्तीरणात्मकत्वात्=उपनिध्यानस्वभावत्वात् (कोश, १.४१ सी; नीचे देखिए पृष्ठ ३, टिप्पणी २ और ८-१) (६१२.६)।

सास्रवा क्षान्ति (यथा ६.१८ सी) ज्ञान हैं, यथार्थतः संवृतिज्ञान हैं।

(७, पृ० १५ टि० ४) व्याख्या : अमला एव क्षान्तयो न ज्ञानमित्यवधारणात् सास्रवाः क्षान्तयो ज्ञानमित्युक्तं भवति (६११. १७)।

अमला क्षान्ति जो दर्शन हैं, ज्ञान नहीं हैं (१ बी) । उनके विपक्ष में

[३] १ बी. क्षय प्रज्ञा और अनुत्पाद प्रज्ञा दर्शन नहीं हैं ।[१]

क्षय ज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान (६.६७ ए-बी) जो बोधि है—दर्शन नहीं हैं क्योंकि उनको सन्तीरण की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वहाँ परिमार्गणाशय नहीं है ।[२]

१ सी. अन्य अनास्रव प्रज्ञा दोनों हैं ।

क्षान्ति और दो पूर्वोक्त ज्ञानों के अतिरिक्त आर्या प्रज्ञा दर्शन और प्रज्ञा दोनों है । यह दर्शन है क्योंकि यह उपनिध्यान में प्रवृत्त है; यह ज्ञान है क्योंकि यह विचिकित्सा से रहित है । यह अभिसमय के आठ ज्ञान हैं (दुःखे ज्ञान आदि; ६.२६) [और यह यावत् क्षय ज्ञान मार्ग की प्रत्येक प्रज्ञा है, अनास्रव भावना] ।

१ डी. अन्य प्रज्ञा ज्ञान है ।

जो प्रज्ञा अनास्रव नहीं है जो लौकिकी, सास्रव है [चक्षुर्विज्ञान आदि पंच विज्ञान से संप्रयुक्त प्रज्ञा, मनोविज्ञान से संप्रयुक्त प्रज्ञा] ।

१ डी. ६ दर्शन भी हैं ।

६ सास्रव प्रज्ञा ज्ञान और दर्शन दोनों हैं अर्थात् ५ क्लेशों से, जो दृष्टि स्वभाव हैं, (सकायदृष्टि आदि, ५.७) संप्रयुक्त मानसी प्रज्ञा और छठी कुशला प्रज्ञा जो लौकिकी सम्यग्दृष्टि (१.४१) है ।

[४] ज्ञान कितने हैं ?

---

१. **क्षयानुत्पादधीर्न दृक्** (देखिए ७.४ बी) धी=प्रज्ञा, दृश्=दृष्टि= दर्शन । **जो प्रज्ञा क्लेश क्षयज्ञानात्मक (क्षयज्ञान) है और जो प्रज्ञा नवीन क्लेशानुत्पादज्ञानात्मक (अनुत्पाद ज्ञान) है वह दृष्टि, दर्शन नहीं है ।**

२. **असन्तीरण परिमार्गणाशयत्वात्** (परिमार्गण आशयोऽभिप्रायः) **जब तक योगी अकृतकृत्य रहता है तब तक वह आर्यसत्यों का उपनिध्यान करता है,** (ध्यायति) **वह उनका परिमार्गण करता है (परिमार्गयति) । जब वह कृतकृत्य हो जाता है तब वह परिज्ञात दुःखादि का "प्रत्यवेक्षण मात्र" करता है और अन्य कोई जिज्ञासा नहीं करता । [समन्त पासादिका, १६८, मिलिन्द,** ३३८ **से** तुलना कीजिए, (२ पृ० २२५ अनुवाद **देखिए**), **पच्चवेक्खण ञाण]** (६१२, ६) ।

व्याख्या—यावदयमकृतकृत्यस्तावद् दुःखादीनि सत्यान्युपरि ध्यायति **परिमार्गयति चाशयतो यथोक्तैरनित्यादिभिराकारैः**············(६१२, १०) ।

ज्ञान १० हैं,[1] किन्तु संक्षेप में (समासेन) केवल दो हैं।

सास्रवानास्रवं ज्ञानम् आद्यं संवृति लक्षणम्।
अनास्रवं द्विधा धर्मे ज्ञानमन्वयमेव च ॥२॥

२ ए. ज्ञान अनास्रव है या सास्रव।[2]

सब ज्ञान, ज्ञान के दो प्रकारों के अन्तर्गत हैं—सास्रव या लौकिक ज्ञान और अनास्रव या लोकोत्तर ज्ञान।

२ बी. इन दो ज्ञानों में से पहला 'संवृत'[3] कहलाता है।

सास्रव ज्ञान लोक संवृति ज्ञान कहलाता है। क्यों? क्योंकि प्रायेण यह ज्ञान संवृति[4] सद्वस्तु का आलम्बन ग्रहण करता है (आलम्बते)—घट, पट, पुरुष, स्त्री आदि। ['प्रायेण' इसलिए कहते हैं क्योंकि यह वस्तु सत् के विशेष और सामान्य लक्षणों का भी ग्रहण करता है, ७.१० बी.]।

२ सी-डी. अनास्रव ज्ञान दो प्रकार का है—धर्मज्ञान और अन्वयज्ञान।[5]

---

१. युआन चाङ् (Hiuen Tsang) यहाँ १० ज्ञानों को गिनाते हैं: संवृति, धर्म, अन्वय, दुःख, समुदय, निरोध, मार्ग, परचित्त, क्षय, अनुत्पाद ज्ञान। मूलग्रन्थ में ये १० ज्ञान आगे चलकर पृ० ११ में गिनाये गये हैं किन्तु शास्त्र का यह क्रम नहीं है। नीचे पृ० १?, टिप्पणी ६ देखिए।

२. [सास्रवानास्रवं ज्ञानम्]।

३. [आद्यम्] सांवृतम् [उच्यते]।

७.३ ए, ७ ए, ८, १० बी, १२ ए-बी, १८ सी, २० सी-२१ देखिए।

व्याख्या: संवृतौ भवं सांवृतम्, और नीचे: स्वभावतः संवृतिर्ज्ञानम् संवृतौ वा ज्ञानं संवृतिज्ञानम्।

नीचे देखिये ७.२१।

माध्यमिकों के अनुसार दो संवृतिज्ञान हैं:—लोक संवृतिज्ञान और योगि संवृतिज्ञान।

(उदाहरण के लिए बोधिचर्यावतार, ९.२ देखिए)। यह दूसरा संवृतिज्ञान लौकिक ज्ञान पृष्ठलब्ध के अनुरूप है। देखिए कोश, ६, अनुवाद पृष्ठ १४१-१४२; और ७.१२ ए-बी (पृष्ठज), २० सी।

४. संवृति सद्वस्तु, ६.४; सूत्रालंकार १.१२, कथावत्थु, ५.६।

५. =[अनास्रवं द्विधा धर्मे ज्ञानमन्वय एव च]।

धर्मों के सामान्य लक्षणों का ज्ञान अनास्रवज्ञान है। जब वह कामधातु के धर्मों को आलम्बन बनाता है तब वह धर्मज्ञान कहलाता है; जब दो ऊर्ध्वभूमियों के धर्मों को आलम्बन बनाता है तब अन्वयज्ञान कहलाता है, ६.२६।

[५] इन दो ज्ञानों को और पूर्वोक्त ज्ञान को संगृहीत कर तीन ज्ञान होते हैं—लोक संवृति ज्ञान, धर्म ज्ञान, अन्वय ज्ञान।

सांवृतं सर्व विषयं कामदुःखादि गोचरम्।
धर्माख्यमन्वयज्ञानं तूर्ध्वदुःखादि गोचरम् ॥३॥

३ ए. इनमें सांवृत का गोचर सब धर्म हैं।

सब संस्कृत धर्म और असंस्कृत धर्म संवृति ज्ञान के विषय हैं।[1]

३ बी-सी. जो ज्ञान धर्म कहलाता है उसके विषय कामधातु के दुःखादि हैं।[2]

धर्म ज्ञान का गोचर कामधातु का दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध, दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपत्ति है।

३ सी-डी. अन्वय ज्ञान का गोचर ऊर्ध्वभूमियों का दुःखादि है।[3]

रूपधातु और अरूपधातु के दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध,......अन्वय ज्ञान के विषय हैं।

ते एव सत्यभेदेन चत्वार्य ते चतुर्विधे।
अनुत्पाद क्षयज्ञाने ते पुनः प्रथमोदिते ॥४॥

४ ए-बी. यह दो ज्ञान सत्यभेद से चतुर्विध हैं[4]—अर्थात् दुःख ज्ञान (जिसमें दुःखे धर्म ज्ञान और दुःखेऽन्वय ज्ञान संगृहीत हैं), समुदय ज्ञान, निरोध ज्ञान, मार्ग ज्ञान, क्योंकि इन दो ज्ञानों का आलम्बन दुःख, समुदय आदि हैं।

४ बी-सी. यह दो ज्ञान, जो चतुर्विध हैं, क्षय ज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान कहलाते हैं।[5]

---

१. = [सांवृतगोचरः सर्वम्]।
अन्धक (कथावत्थु, ५·६) कहते हैं: सम्मुतिञाणं पि सच्चारम्मणमेव। केवल आर्यसत्य ही लौकिक ज्ञान के विषय हैं। (औङ्ग रीज डेविड्स के अनुसार)

२. = [धर्मसंज्ञकस्य गोचरः। कामदुःखादि]।

३. = [अन्वयस्य तूर्ध्वदुःखादिगोचरः]।

४. = [सत्यभेदत एवैते चत्वारि (?)]।

५. एते चतुर्विधे। [क्षयानुत्पादयोर्ज्ञाने]।
देखिए ६.४४ डी, ५० ए, ७·१, ७, १२ ए-बी।

[६] अर्हत् के धर्मज्ञान और अन्वयज्ञान, जो आलम्बनभेद से चतुर्विध हैं, जब दृष्टि-स्वभाव[1] नहीं होते तो क्षय ज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान कहलाते हैं।

४ डी-५ ए. जिस क्षण में ये उत्पन्न होते हैं ये दुःखान्वयज्ञान, समुदयान्वयज्ञान होते हैं।[2]

दुःखहेत्वन्वयज्ञाने चतुर्भ्यः परचित्तवित्।
भूम्यक्षपुद्गलोत्क्रान्तं नष्टाजातं न वेत्ति तत्॥

प्रथमोत्पत्ति के क्षण में (प्रथमोदिते) क्षय ज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान का स्वभाव दुःखान्वय ज्ञान और समुदयान्वय ज्ञान का (ऊर्ध्वभूमियों के दुःख और समुदय के ज्ञान का) होता है क्योंकि उनका आलम्बन दुःख और समुदय के आकार में[3] भवाग्र[4] के स्कन्ध होते हैं। इसलिए इन दो ज्ञानों के आलम्बन एक ही हैं।

वज्रोपम समाधि (६ ४४ डी) के अनन्तर क्षय ज्ञान होता है; तदनन्तर अनुत्पाद-ज्ञान होता है। इसलिए प्रश्न होता है कि क्या उनके प्रथमोत्पत्ति के क्षण में वज्रोपम-समाधि का वही आलम्बन होता है जो इन दो ज्ञानों का है। हाँ, जब दुःख और समुदय इसके आलम्बन होते हैं; नहीं, जब निरोध और मार्ग इसके आलम्बन होते हैं।

---

१. परमार्थ "जब उनका स्वभाव अशैक्षी सम्यक् दृष्टि का नहीं है।"

हमने (६.५० डी) देखा है कि सब अर्हतों में अशैक्षी सम्यग्दृष्टि होती है; इस सम्यग्दृष्टि का स्वभाव दर्शन है; यह धर्म और अन्वयज्ञान हैं।

२. =ते पुनः प्रथमोदिते॥ [दुःखहेत्वन्वयज्ञानम्]।

३. क्षय और अनुत्पाद ज्ञान का आलम्बन आवश्यक रूप से भवाग्र है। जहाँ से अर्हत् अपने को वियुक्त करता है। सबसे पीछे भवाग्र का प्रहाण होता है। जैसे जब कोई पुरुष विष काण्ड से विद्ध हो मर जाता है तब विष उसके सब अंगों को व्याप्त कर मरण-काल में व्रण-देश में ही अवस्थित होता है, अन्यत्र नहीं, उसी प्रकार योगी का ज्ञान प्रहेय आलम्बन में अर्थात् भवाग्र के स्कन्धों में अवस्थित होता है। इस ज्ञान का गोचर दुःख (येन पीड्यते) और उसका समुदय है।

४. दुःख समुदयाकारैर्भावाग्रिकस्कन्धालम्बनत्वात् (६१३, १६; ६१३, २१)।

व्याख्या—दुःखाकारैरनित्यादिभिः। समुदयाकारैर्वा हेत्वादिभिः……………।

परमार्थ—"दुःख के चार आकारों से और समुदय के चार आकारों से"—शुआन चाङ् शोधते हैं: "दुःख समुदय के ६ आकारों से।"

जापानी सम्पादक की टिप्पणी: अनित्य, दुःख, हेतु, समुदय, प्रभव, प्रत्यय: दुःख के दो आकार, समुदय के चार आकार—नीचे देखिए ७.१२ ए-बी जो शुआन चाङ् के शोध को समीचीन ठहराता है।

[७] ५ बी. 'परचित्तज्ञान" ४ मे प्रवृत्त होता है।[1]

४ ज्ञानों से अर्थात् धर्म, अन्वय, मार्ग और संवृतिज्ञान से परचित्त ज्ञान प्रवृत्त होता है।[2] इस ज्ञान के आलम्बन को निश्चित करना चाहिए।

५ सी-डी. यह न ऊर्ध्वभूमि के चित्त को, न ऊर्ध्व इन्द्रियों को, न ऊर्ध्व आश्रय (पुद्गल) को और न अतीत अनागत को जानता है।[3]

एक चित्त या तो भूमि की दृष्टि से या इन्द्रियों की दृष्टि से या पुद्गल की दृष्टि से ऊर्ध्व है।

अधर भूमि का परचित्त ज्ञान ऊर्ध्व भूमि के चित्त को नहीं जानता।

मृदु इन्द्रिय के आर्य का अर्थात् श्रद्धाधिमुक्त और समयविमुक्त का (६.३१ सी) परचित्त ज्ञान तीक्ष्णेन्द्रिय के आर्य के अर्थात् दृष्टिप्राप्त और असमय विमुक्त[4] के चित्त को नहीं जानता।

अधर आर्य का परचित्त ज्ञान उत्तर आर्य के चित्त को नहीं जानता : क्रम यह है—अनागामिन्, अर्हत्, प्रत्येक बुद्ध, सम्यक् सम्बुद्ध।[5]

[८] जब दूसरे का चित्त अतीत या अनागत होता है तो परचित्त ज्ञान उसे नहीं जानता क्योंकि इस ज्ञान का आलम्बन प्रत्युत्पन्न चित्त है। क्या अन्य अवस्थाओं में दूसरे के चित्त को परचित्त ज्ञान ग्रहण नहीं करता ?

न धर्मान्वयधीपक्षमन्योन्यं दर्शनक्षणौ।
श्रावको वेत्ति खड्गस्त्रीन् सर्वान् बुद्धोऽप्रयोगतः ॥६॥

---

१. =चतुर्भ्यः परचित्तवित् (६१४, १)।

२. परचित्तज्ञान यथार्थ में संवृति ज्ञान है। किन्तु जब परचित्त अनास्रव चित्त होता है अर्थात् अनास्रव मार्ग (दर्शन या भावना) का समंगी चित्त, तो इस चित्त का मेरा ज्ञान अनास्रव होगा; यह मार्गज्ञान मार्ग का अनास्रव ज्ञान है; मार्गज्ञान यदि कामधातु से सम्बन्ध रखता है तो धर्मज्ञान है, यदि ऊर्ध्वभूमियों से, तो अन्वयज्ञान है। इसलिए "परचित्तवित्" में ४ ज्ञान सगृहीत हैं।

३. =[······क्षीणाजातं न वेत्ति सा ॥]

७.११ ए-डी बल, अभिज्ञा आदि देखिए।

४. भाष्य में है : श्रद्धाधिमुक्तसमयविमुक्तमार्गेण दृष्टिप्राप्तासमयविमुक्तमार्गं न जानाति : श्रद्धाधिमुक्तमार्ग द्वारा परचित्तज्ञान दृष्टिप्राप्तमार्ग को नहीं जानता···। (६१४,१५)।

५ भाष्य में है : परचित्त ज्ञान अधर द्वारा उत्तर को नहीं जानता। वह अनागामि-मार्ग से अर्हन्मार्ग को नहीं जानता······।

६ ए-बी. धर्मज्ञानपक्ष और अन्वयज्ञानपक्ष एक दूसरे को नहीं जानते।[1] जब इसका स्वभाव धर्मज्ञान का होता है तो परचित्त ज्ञान दूसरे के चित्त को, जिसका स्वभाव अन्वयज्ञान का है, नहीं जान सकता। जब यह स्वभाव से अन्वयज्ञान होता है तो यह दूसरे के चित्त को जिसका स्वभाव धर्मज्ञान का है, नहीं जान सकता।—क्यों? क्योंकि इन दो ज्ञानों के आलम्बन क्रम से वह धर्म है जो कामधातु के और ऊर्ध्वधातुओं के प्रतिपक्ष हैं।[2]

दर्शन मार्ग में परचित्त ज्ञान नहीं होता अर्थात् योगी जब दर्शन मार्ग में होता है तब उसको परचित्त ज्ञान नहीं होता क्योंकि दर्शनमार्ग का काल बहुत कम हो जाता है, क्योंकि सत्यदर्शन तीव्रगति से होता है। किन्तु जो परचित्त दर्शनमार्ग में पाया जाता है वह परचित्त ज्ञान का आलम्बन हो सकता है।

जब कोई परचित्त ज्ञान से दूसरे के उस चित्त को जो दर्शनमार्ग में पाया जाता है, जानना चाहता है तो वह एक प्रयोग करता है।

६ बी-डी. श्रावक दर्शन के दो क्षण जानता है; प्रत्येक बुद्ध तीन; बुद्ध बिना प्रयोग के सब क्षण जानते हैं।[3]

जब श्रावक दर्शन मार्ग में प्रवृत्त एक योगी के चित्त को जानने की इच्छा से

[९] परचित्त ज्ञान की भावना करता है तो वह प्रथम दो क्षण अर्थात् दुःखे धर्मज्ञान-क्षान्ति और धर्मज्ञान को जानता है[4] किन्तु बाद के क्षणों को (दुःखेऽन्वय ज्ञान क्षान्ति …) नहीं जानता क्योंकि दर्शन मार्ग के अन्वय भाग के ज्ञान (ऊर्ध्वधातुओं का दुःख) के लिए एक भिन्न प्रयोग चाहिए। इसलिए यदि यह श्रावक अन्वय भाग के ज्ञान की प्राप्ति के लिए उस समय एक प्रयोगान्तर आरम्भ करता है तो जब उसका प्रयोग [जो १३ क्षण रहता है] समाप्त होता है तो इस बीच में योगी १६वें चित्त क्षण को अनुप्राप्त होता है। इसलिए दूसरे और सोलहवें क्षण का सारा अन्तराल श्रावक के परचित्त ज्ञान के अगोचर रहता है (विभाषा, १००, २)।

इन्हीं अवस्थाओं में प्रत्येक बुद्ध ३ क्षण जानता है अर्थात् पहले दो और ८वाँ, समुदयेऽन्वय ज्ञान, क्योंकि पहले दो क्षण के ज्ञान के पश्चात् अन्वय भाग के ज्ञान के लिए

---

१. =[न धर्मान्वयधीपक्षमन्योन्यम्]।

२. कामधातूर्ध्वधातुप्रतिपक्षालम्बनत्वात्।

३. =[वेत्ति दृक्क्षणौ। श्रावकः खड्गकल्पस्त्रीन् सर्वान् बुद्धोऽप्रयोगतः॥]

४. वह प्रयोग उस समय आरम्भ करता है जब वह योगी को दर्शनमार्ग में प्रवेश करते देखता है। यह प्रयोग ऐसे समय में समाप्त होता है कि वह कामधातु के दुःख, दुःखे धर्मज्ञान में प्रवृत्त परचित्त को देख सकता है।

जो प्रयोग उसको करना चाहिए वह मृदु (=अल्प) है। अन्य आचार्यों के अनुसार वह प्रथम दो क्षण और १५वाँ क्षण जानता है।[1]

बुद्ध, बिना प्रयोग के, केवल इच्छावश दर्शनमार्ग के सब क्षणों में परचित्त को जानते हैं।

क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान के लक्षण क्या हैं?

क्षयज्ञानं हि सत्येषु परिज्ञातादि निश्चयः।
न परिज्ञेयमित्यादिरनुत्पादमतिर्मता ॥७॥

७. आर्य सत्यों के विषय में यह निश्चय कि वे परिज्ञात हैं, प्रहीण हैं, इत्यादि—यह क्षयज्ञान है; यह निश्चय कि उनको और जानना नहीं है, उनका और प्रहाण करना नहीं है, इत्यादि यह अनुत्पाद ज्ञान है।[2]

[१०] मूलशास्त्र[3] के अनुसार : क्षयज्ञान क्या है[4] ?—जब योगी अपने से कहता है कि "मैंने दुःख को भली प्रकार परिज्ञात किया है, मैंने समुदय का प्रहाण किया है, निरोध का सम्मुखीभाव किया है, मार्ग की भावना की है" तब इससे जो ज्ञान (तदुपादाय यज्ज्ञानम्[5]) जो दर्शन, जो विद्या, जो बोधि, जो बुद्धि, जो प्रज्ञा, जो आलोक, जो

---

१. प्रत्येक के परचित्त ज्ञान पर विभाषा ९९, १३, १००, २ और अन्यत्र।—संघभद्र के अनुसार चार मत हैं अर्थात् वसुबन्धु द्वारा उल्लिखित २ मत तथा "प्रत्येक १, २, ८, १४वाँ क्षण जानता है," "प्रत्येक १, २, ११, १२वाँ क्षण जानता है," तीसरा मत यथार्थ है क्योंकि यदि वह ८वाँ क्षण जानता है तो इसका कारण यह है कि अन्वय भाव के ज्ञान के लिए उसका प्रयोग केवल ५ क्षण का होता है। इसलिए वह ९-१३ क्षण में १४वें क्षण के ज्ञान के लिए अपने को तैयार कर सकता है।

२. नेत्तिपकरण, ११ : खीणा में जातीति इदं खये ञाणं नापरं इत्थत्ताया ति पजानाति इदम् अनुप्पादे ञाणम्।

३. परमार्थ : "अभिधर्म के अनुसार"—यह प्रकरण का वचन है। नञ्जियो, १२६६, टोकियो, २३.१० आगे १४ए १९ (शुआन चाङ् का अनुवाद)।

४. यह परमार्थ में नहीं है; प्रकरण और शुआन चाङ् में है।

५. व्याख्या में यह अंश पाया जाता है : मार्गो मे भावित इति तदुपादाय यज्ज्ञानम् ···व्याख्या तदुपादाय का अर्थ 'तत् पुरस्कृत्य' करती है।—नीचे देखिये पृ० २७-२८।

शुआन चाङ् 'तदुपादाय' का अर्थ 'उसके कारण' करते हैं (सम्पादक की विवृति "वह ज्ञान जो इन आकारों को ग्रहण करता है : दुःख परिज्ञात है···")

परमार्थ : "इस अर्थ को विचार कोटि में लेकर"; प्रकरण : ·····।

विपश्यना[१] उत्पन्न होती है वह क्षयज्ञान कहलाता है।—अनुत्पाद ज्ञान क्या है ? जब वह अपने से कहता है कि मैंने दुःख को भलीभाँति परिज्ञात किया है और अब फिर परिज्ञेय नहीं है·········मार्ग की भावना अब और नहीं करना है" तो जो ज्ञान होता है—वह अनुत्पाद ज्ञान कहलाता है। [व्याख्या के लिए लक्षण ७.१२ ए-बी में देखिए]

किन्तु अनास्रव ज्ञान से ऐसा ज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है ?[२]

कश्मीरक वैभाषिक कहते हैं : "दो संवृति ज्ञान दो अनास्रव ज्ञान के अनन्तर हैं : मैंने दुःख को परिज्ञात किया है···मैंने दुःख को परिज्ञात किया है.और अब और परिज्ञेय नहीं है।" इन दो संवृति ज्ञानों के लक्षण के कारण शास्त्र दो अनास्रव ज्ञान का लक्षण बताता है।

[इसीलिए शास्त्र ऐसा कहता है : तदुपादाय······][3]

[११] अन्य आचार्यों के अनुसार[४] योगी अनास्रव ज्ञान[५] द्वारा जानता है कि वह दुःख आदि का परिज्ञान रखता है। किन्तु हमने कहा है कि क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान दर्शन दृष्टि नहीं हैं। शास्त्र उन्हें दर्शन कैसे कह सकता है ?

शास्त्र का वचन कि ज्ञान दर्शन है भाष्याक्षेप से (भाष्याक्षेपात्[६]) है। (दुःख ज्ञान आदि) अन्य ज्ञानों का लक्षण बताने में दर्शन शब्द पठित है उसी पाठ का आक्षेप यहाँ भी हुआ है। (किन्तु क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान दर्शन-स्वभाव नहीं हैं) अथवा इनकी प्रत्यक्ष वृत्ति (प्रत्यक्ष वृत्तित्वात्) होने से यह दो ज्ञान 'दर्शन' कहलाते हैं। प्रत्यक्ष वृत्ति होने से शास्त्र[७] वचन है कि " जो ज्ञान है वह दर्शन भी है"।[८]

---

१. नेत्तिपकरण, ५४ में चक्खु, विज्जा, बुद्धि. भूरि, मेधा, आलोक।—कोश, ६·५४ डी से तुलना कीजिए।

२. वास्तव में अनास्रव ज्ञान के गोचर दुःख, धर्म और उनके सामान्य लक्षण हैं न कि "मेरा" दुःख का जानना। यह "मेरा" 'दुःखं मे परिज्ञातम्' इस वाक्य में पाया जाता है।—वह सब ज्ञान जिसमें 'मेरा' होता है संवृति ज्ञान है सास्रव है।

३. दो अनास्रवज्ञान जो निर्विकल्प हैं उनका विशेष दो संवृति ज्ञानों से जो उनके निष्यन्द हैं अनुमित होता है (अनुमीयते)।—नीचे देखिए ७·१२ ए-बी।

४. जापानी सम्पादक की विवृति के अनुसार : पाश्चात्यश्रमणसौत्रान्तिकादयः।

५. इन आचार्यों के अनुसार वैभाषिकों के षोडशाकार से अन्य (व्यतिरिक्त) अनास्रव आकार हैं। (देखिए नीचे ७.१२ सी)।

६. २. अनुवाद का पृष्ठ २५६, ४. अनुवाद का पृष्ठ २४२ देखिए।

७. व्याख्या में शास्त्र से उद्धृत किया है : यत्तावज्ज्ञानं दर्शनमपि तत्। स्यात्तु दर्शनं न ज्ञानमष्टावाभिसमयान्तिकाः क्षान्तयः।—जापानी सम्पादक की विवृति के अनुसार, ज्ञानप्रस्थान, ८, २ और प्रकरणपाद, १, ६ (टोकियो, २३.१०, १४ बो ३) (६१५, १४)।

८. परमार्थ में इतना और है : "इसके अतिरिक्त यह सूचित करने के लिए कि जिस 'दर्शन' का यहाँ उल्लेख है वह पूर्ववर्णित 'दृष्टि' से भिन्न है।"

इसलिए १० ज्ञान हैं : धर्म, अन्वय, लोकसंवृति, परचित्त, दुःख, समुदय, निरोध, मार्ग, क्षय, अनुत्पाद।[१]

इनका अन्योन्य संग्रह कैसे है।[२]

१. संवृति ज्ञान एक ज्ञान, अर्थात् संवृति ज्ञान और एक दूसरे ज्ञान का एक भाग [अर्थात् परचित्त ज्ञान का सास्रव भाग] है।[३]

[१२] २. धर्मज्ञान एक ज्ञान और सात ज्ञानों का एक भाग [अर्थात् कामधातु के दुःख, समुदय, निरोध, मार्ग, परचित्त, क्षय और अनुत्पाद ज्ञान का एक भाग] है।

३. अन्वय ज्ञान--अन्वय ज्ञान और इन्हीं दुःख ज्ञानादि ७ का एक भाग अन्वय-ज्ञान भाग। यह भाग कामधातु का न होकर दो ऊर्ध्वधातुओं का है।

४. दुःख ज्ञान एक ज्ञान और ४ ज्ञानों का एक भाग है अर्थात् धर्म, अन्वय, क्षय, और अनुत्पाद ज्ञान का एक भाग जिसका आलम्बन दुःख सत्य है।

५-६. इसी प्रकार समुदय और निरोध ज्ञान को भी जानना चाहिए।

७. मार्गज्ञान एक ज्ञान (मार्गज्ञान) और पाँच ज्ञानों का एक भाग है : धर्म, अन्वय, क्षय, अनुत्पाद और परचित्त ज्ञान का एक भाग।

८. परचित्त ज्ञान एक ज्ञान (परचित्त ज्ञान) और चार ज्ञानों का एक भाग है : धर्म, अन्वय, मार्ग, संवृति ज्ञान का एक भाग।

९. क्षय ज्ञान एक ज्ञान (क्षयज्ञान) और ६ ज्ञानों का एक भाग है : धर्म, अन्वय, दुःख, समुदय, निरोध, मार्ग ज्ञान का एक भाग।[४]

१०. अनुत्पाद ज्ञान इसी प्रकार।

ज्ञान जिनकी संख्या दो है (अनास्रव और सास्रव) १० ज्ञानों में कैसे विभक्त हैं ?

स्वभाव प्रतिपक्षाभ्यामाकाराकारगोचरात्।
प्रयोग कृतकृत्यत्व हेतूपचयतो दश ॥८॥

---

१. प्रकरण, २३.१०, आगे १४ ए १५ का यही क्रम है (शुआन चाङ्) का क्रम भिन्न है। (ऊपर देखिए पृ० ४ टि० १) महाव्युत्पत्ति, ५७ का क्रम भी भिन्न है।

२. परमार्थ और मूलग्रन्थ में यह प्रश्न नहीं दिया है। मूल में 'तत्र·········है= "इन ज्ञानों में संवृति ज्ञान······है।"

३. व्याख्या : संवृतिज्ञानं संवृतिज्ञानमेव स्वभाव संग्रहतः। एकस्य च परचित्त ज्ञानस्य भाग एकदेशः (६१५, १७)।

४. वह भाग जिसका आकार ज्ञान इस लक्षण का है : "मुझसे दुःख परिज्ञात हुआ है······।"

८. ज्ञान दस हैं। इनका भेद स्वभाववश, प्रतिपक्षत्ववश, आकारवश, आकार-गोचरवश, प्रयोगवश, कृतकृत्यत्ववश, हेतुविस्तरवश व्यवस्थित होता है।[1]

१. स्वभावतः संवृति ज्ञान है (संवृतौ वा ज्ञानम्) क्योंकि यह परमार्थ ज्ञान नहीं है (अपरमार्थ ज्ञानत्वात्)।[2]

[१३] २. प्रतिपक्षतः धर्म ज्ञान और अन्वय हैं : पहला कामधातु का प्रतिपक्ष है, दूसरा ऊर्ध्वधातुओं का प्रतिपक्ष है।[3]

३. आकारतः (७.१३) दुःख ज्ञान और समुदय ज्ञान हैं। इन दो ज्ञानों का आलम्बन एक ही है (पंचोपादान स्कन्ध) (६. अनुवाद का पृष्ठ १२२ और १३६) किन्तु आकार भिन्न हैं।[4]

४. आकार गोचरतः, निरोध ज्ञान और मार्ग ज्ञान है। यह दो ज्ञान आकार और आलम्बनवश व्यवस्थित होते हैं। इनके आकार और आलम्बन दोनों भिन्न हैं।[5]

५. प्रयोगतः परचित्त ज्ञान है। इसमें सन्देह नहीं कि यह ज्ञान दूसरे के चैत्यों को भी जानता है किन्तु प्रयोग चित्त को गोचर बनाता है। यद्यपि यह चैत्तों को जानता है तथापि प्रयोगवश इसे परचित्त ज्ञान कहते हैं।

१.=[स्वभावात् प्रतिपक्षत्वाद्] आकाराकारगोचरात्। प्रयोगात् कृतकृत्यत्वात् हेतु-विस्तारतो दश॥

२. व्याख्या में शास्त्रोक्त लक्षण नहीं दिया है—प्रकरण, आगे १४ ए १८ : लोक-संवृतिज्ञानं कतमत्। सास्रवा प्रज्ञा।

३. शास्त्रोक्त लक्षण व्याख्या में उद्धृत है और यह प्रकरण, १४ बी १५ के अनुसार है। धर्मज्ञानं कतमत्। कामप्रतिसंयुक्तेषु संस्कारेषु यदनास्रवं ज्ञानम्। कामप्रतिसंयुक्तानां संस्काराणां हेतौ यदनास्रवं ज्ञानम्। कामप्रतिसंयुक्तानां संस्काराणां निरोधे यदनास्रवं ज्ञानम्। कामप्रतिसंयुक्तानां संस्काराणां प्रहाणाय मार्गे यदनास्रवं ज्ञानमिदमुच्यते धर्मज्ञानम्। अपि खलु धर्मज्ञाने धर्मज्ञानभूयो च यदनास्रवं ज्ञानमिदमुच्यते धर्मज्ञानम् (६१६, २८)।

अन्वयज्ञानं कतमत्। रूपारूप्यप्रतिसंयुक्तेषु संस्कारेषु यदनास्रवं ज्ञानम्·········। देखिए ६.२६—अन्वेतीत्यन्वयज्ञानम् (६१३, ५)।

४. दुःखज्ञानं कतमत्। पंचोपादान स्कन्धान् अनित्यतो दुःखतः शून्यतोऽनात्मतश्च मनसिकुर्वतो यदनास्रवं ज्ञानमिदमुच्यते दुःखज्ञानम् (६१३, १३)।

समुदयज्ञानं कतमत्। सास्रवहेतुकं हेतुतः समुदयतः प्रभवतः प्रत्ययतश्च मनसिकुर्वतो यदनास्रवं ज्ञानम्·········।

६. अनुवाद पृ० १२३, टि० १ पंक्ति १५ के 'सास्रव हेतुक' को शोधिए।

५. निरोधज्ञानं कतमत्। निरोधं निरोधतः शान्ततः प्रणीततो निःसरणतश्च मनसि-कुर्वतो यदनास्रवं ज्ञानम्·········(६१७, १५)।

[१४] ६ कृतकृत्यत्वतः (कृतकृत्यत्वात्) क्षयज्ञान है। कृतकृत्य के सन्तान में यह ज्ञान पहले उत्पन्न होता है। [अनुत्पाद ज्ञान इसी सन्तान में उत्पन्न होता है किन्तु पीछे]।

७. हेतु विस्तरतः, अनुत्पाद ज्ञान है क्योंकि सब अनास्रव ज्ञान जो क्षयज्ञान में (६१७, २४) संगृहीत हैं इसके हेतु (=सभाग हेतु) हैं (सर्वानास्रवहेतुकत्वात्)।

हमने कहा है कि सकल धर्मज्ञान [अर्थात् ए. चार आर्य सत्यों पर आलम्बित, बी. दर्शनमार्ग और भावनामार्ग में संगृहीत] सकल कामधातु का प्रतिपक्ष है [अर्थात् आर्य सत्य दर्शन और भावना से प्रहातव्य कामधातु के पाँच प्रकार के क्लेशों का प्रतिपक्ष है।]

इसके अतिरिक्त

धर्मज्ञानं निरोधेऽन मार्गे वा भावनापथे।
त्रिधातु प्रतिपक्षस्तत् कामधातोऽस्तु नान्वयं ॥६॥

६ ए-सी. भावना पथ में जब धर्म ज्ञान निरोध और मार्ग को आलम्बन बनाता है तब यह तीन धातुओं का प्रतिपक्ष होता है।[1] भावना पथ में सम्मुखीकृत 'निरोधे धर्म ज्ञान' और मार्गे धर्म ज्ञान (आर्य सत्यों का पुनर्दर्शन) तीन धातुओं के प्रतिपक्ष हैं अर्थात् यह दो ज्ञान ऊर्ध्वधातुओं के भावना हेय क्लेशों के प्रतिपक्ष हैं।[2]

६ डी. अन्वयज्ञान कामधातु का प्रतिपक्ष नहीं है।[3]

[१५] अन्वय ज्ञान अपने प्रत्येक विभाग में (दुःखादि) कामधातु के क्लेशों का प्रतिपक्ष नहीं है।[4]

मार्गज्ञानं कतमत्। मार्गं मार्गतो न्यायतः प्रतिपत्तितो नैर्याणिकतश्च मनसिकुर्वतो यदनास्रवं ज्ञानमिदमुच्यते मार्गज्ञानम्।

१. **धर्मज्ञान निरोधे यन्मार्गे वा भावनापथे। त्रिधातुप्रतिपक्षस्तत्।**

२. **निरोधमार्गौ ह्यधातुपतितौ। तावधरावपि न हीनौ व्यवस्थाप्येते। दुःखसमुदय-सत्येत्वधरभूमिके निहीने। न तदालम्बन धर्मज्ञानं रूपारूप्यधातुप्रतिपक्ष इत्यवगन्तव्यम् (व्याख्या)** (६१७, ३३)।

निरोध और मार्ग धातु पतित नहीं हैं।

काम प्रतिसंयुक्त संस्कारों के निरोध (निरोधे धर्मज्ञान) ज्ञान का ऊर्ध्वधातुओं के क्लेशों का प्रतिपक्ष होना और भी युक्त है।

दर्शन मार्ग में अन्वय धर्मक्षान्तियाँ ऊर्ध्वधातुओं से अनुशयों का अपगम करती हैं।

३. =**नान्वयं कामधातुके**।

४. **कामधातोर्जितत्वात्। धर्मज्ञानेनैव कामधातुः पूर्वतरजितो भवति। तत पश्चादन्वयज्ञानमुत्पद्यते** (६१८, ६)।

१० ज्ञानों के आकार क्या हैं ?

धर्मज्ञानान्वयज्ञानं षोडशाकारमन्यथा ।
तथा च सांवृतं स्वैः स्वैः सत्याकारैश्चतुष्टयम् ॥१०॥

१० ए-बी. धर्म ज्ञान और अन्वय ज्ञान के १६ आकार हैं ।[1] इन १६ आकारों की व्याख्या आगे की जायेगी (७.१३ ए) ।

१० बी-सी. संवृति ज्ञान भी ऐसा ही है और अन्यथा भी है ।[2]

संवृति ज्ञान के १६ आकार हैं । यह स्वलक्षण और सामान्य लक्षणादि का भी ग्रहण करता है ।[3]

१० सी-डी. अपने-अपने सत्य के आकार से चार हैं ।[4]

दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग ज्ञान जो अपने सत्य के आकारों को आलम्वन वनाते हैं । इनमें से प्रत्येक के चार आकार हैं ।

तथा परमनोज्ञानं निर्मलं समलं पुनः ।
ज्ञेयस्वलक्षणाकारमेकैकद्रव्यगोचरम् ॥११॥

११ ए-बी. परचित्त ज्ञान जब अमल होता है तब इसी प्रकार होता है ।[5]

---

१. =[धर्मज्ञानान्वयज्ञानं षोडशाकृति] ।

२. =[सांवृतम् । तथान्यथापि] ।

३. व्याख्या : षोडशाकारमूष्मगतादिषु । स्वसामान्यलक्षणादिग्रहणादिति स्वलक्षणग्रहणात् सामान्यलक्षणग्रहणाच्च । आदिशब्देन 'भुंक्ष्व' 'तिष्ठ' 'गच्छ' इत्येवमाकारं च । न ह्येते स्वलक्षणाकाराः, किं तर्हि ? एवमाकारा एवेति ।

ऊष्मगतादि में (६.१७ सी) संवृतिज्ञान आर्यसत्यों के १६ आकार का ग्रहण करता है । संवृतिज्ञान सामान्य लक्षणों का ग्रहण करता है । (जैसे अनित्यता) स्वलक्षणों का ग्रहण करता है [उदाहरण के लिए रूप का स्वलक्षण] । "भुंक्ष्व, तिष्ठ, गच्छ ..." शब्दों से जो आकार व्यक्त होता है उसको भी यह ग्रहण करता है । ऐसे संवृति ज्ञान का आकार स्वलक्षणाकार नहीं है । हम इतना ही कह सकते हैं कि यह एवमाकार, 'इस आकार का' है ।

४. =[चत्वारि स्वस्वसत्याकृतीनि तु]—परमार्थ के अनुसार : स्वस्वसत्याकारतश्चतुष्टयम् ।

५ =[तथा परमनोज्ञानममलं समलं पुनः । ज्ञेयस्वलक्षणाकारं प्रत्येकवस्तुगोचरम् ॥]—परमार्थः परमनोज्ञानमपि तथामलम् । चेतोपरियाये आण या परिच्चे आण (=परचित्त ज्ञान) सम्मति आण (विभंग ३३०) नहीं है । अन्धकों का मत है कि यह केवल चित्त को आलम्वन बनाता है, कथावत्थु ५.७ । उनका यह विचार अयथार्थ है कि इस आण से श्रावक यह जान सकता है कि दूसरों को फल का अधिगम कब होता है (वही, ५.१०) ।

[16] परचित्त ज्ञान के अनास्रव भाग (7.5 बी-6, पृ० 7, टि० 1) के गोचर उसके सत्य के आकार हैं; इसलिए इसके चार आकार हैं। परचित्त ज्ञान का यह भाग वास्तव में मार्ग ज्ञान है।

11 बी-सी. जब यह सास्रव होता है तब इसके आकार इसके ज्ञेय के स्वलक्षण होते हैं।[1]

जब परचित्त ज्ञान सास्रव होता है तब यह अपने ज्ञेय अर्थात् दूसरे के चित्त-चैत्त के स्वलक्षणों को ग्रहण करता है।

उसके आकार इन स्वलक्षणों के अनुकूल होते हैं, इसलिए वे सास्रव या अनास्रव (उभयमपि तु), इन 16 में संगृहीत नहीं हैं।

11 डी. इसका गोचर प्रत्येक वस्तु है।[2]

जब चित्त इसका गोचर होता है तब चैत्त इसका गोचर नहीं होता; जब एक चैत्त (उदाहरणार्थ, वेदना) इसका गोचर होता है तब दूसरा चैत्त (संज्ञा) इसका गोचर नहीं होता। यदि ऐसा है तो भगवत् क्यों कहते हैं कि "वह सराग चित्त को सराग चित्त करके यथाभूत जानता है।"[3]

1-2. पूर्व पृष्ठ की टिप्पणी संख्या 6 देखिए।

3. व्याख्या सूत्र को उद्धृत करती है: सरागं चित्तं सरागं चित्तमिति यथाभूतं प्रजानाति। विगतरागं चित्तं विगतरागं चित्तमिति यथाभूतं प्रजानाति। यथा सरागं विगतरागमेव सद्वेषं विगतद्वेषं समोहं विगतमोहं संक्षिप्तं विक्षिप्तं लीनं प्रगृहीतमुद्धतमनुद्धतमव्युपशान्तं व्युपशान्तमसमाहितं समाहितमभावितं भावितमविमुक्तं विमुक्तमिति यथाभूतं प्रजानाति।

भाष्य की विवृतियों के अनुसार 'अव्युपशान्तं' से पहले दो युग्म जोड़ना आवश्यक है। अमहद्गत—महद्गत, स-उत्तर-अनुत्तर कुल 12 युग्म हैं।

विज्ञानकाय (23.9 आगे 4 बी) के उद्धृत सूत्र में और सूत्र के उस पाठ में, जो व्याख्या में नीचे 7.42 ए-डी उद्धृत हुआ है, यह दो युग्म नहीं पाये जाते।

किओकुगा सेकी के अनुसार एकोत्तर (14,2) की सूत्रि में 11 युग्म हैं, मध्यम (8, 23) की सूत्रि में 10 (उद्धत-अनुद्धत, अव्युपशान्त, व्युपशान्त को निकालकर और सदोष-अदोष जोड़कर); संयुक्त (21 12) की सूत्रि में 10 युग्म हैं।

पालिग्रन्थ, उदाहरण के लिए, संयुत्त 5.265, अंगुत्तर 4.32, विभंग, 329, विसुद्धि मग्ग (410) (इसकी व्याख्या अभिधर्म की व्याख्या से भिन्न है।) केवल 8 युग्म हैं: सराग-वीतराग, सदोस-वीतदोस, समोह, वीतमोह, संखित्त-विक्खित्त, महग्गत-अमहग्गत, सउत्तर-अनुत्तर, असमाहित-समाहित, अविमुत्त-विमुत्त।

[१७] परचित्त ज्ञान चित्त और चैत्त (राग आदि) का युगपद् ग्रहण नहीं करता जैसे वस्त्र और मल का युगपद्-ग्रहण नहीं होता।[1]

'सराग' शब्द के दो अर्थ हैं। चित्त संसृष्ट सरागता से सराग होता है क्योंकि यह राग संसृष्ट[2] है अथवा संयुक्त सरागता से सराग होता है क्योंकि यह राग संयुक्त[3] है।

राग संप्रयुक्त चित्त (२.५३ सी.) अर्थात् वह चित्त जो प्रत्युत्पन्न क्षण में रागाभिभूत होता है दो नाम से सराग है : यह राग संसृष्ट है, यह राग संयुक्त है।

तदन्य सास्रव[4] चित्त तभी तक सराग है जब तक वह राग संयुक्त है।

कुछ आचार्यों[5] का मत है कि सराग चित्त से सूत्र का अभिप्राय केवल राग संसृष्ट

[१८] चित्त से है अर्थात् वह चित्त जो राग संप्रयुक्त है।—
इन आचार्यों के अनुसार "विगतराग" रागप्रतिपक्ष चित्त है।

---

१. वस्त्रमलायुगपद्ग्रहणात्—व्याख्या : यथा यदा वस्त्रमिति परिच्छिन्नाकारं विज्ञानमुत्पद्यते न तदा मलं गृह्णाति। और इसका विपर्यय १. अनुवाद पृ० १६ देखिए। (६१८ २६)।

२. अर्थात् रागसंप्रयुक्त-संसृष्टसरागता रागसंप्रयोगात्।—यह परिच्छेद विभाषा, १६१, १४ के अनुसार है। किओकुगा सेकी २६.८ ए ने इसे उद्धृत किया है।

३. दो अर्थ : संयुक्तसरागता रागप्राप्त्यनुबन्धादित्येके। अनुशयानरागालम्बनत्वा-दित्यपरे (६१८, ३२)।

इन दो अर्थों की आलोचना और प्रतिषेध नीचे पृ० २४ में किया जायेगा।

४. अर्थात् सब क्लिष्ट चित्त किन्तु रागसंप्रयुक्त नहीं; सब अव्याकृत चित्त, सब कुशल लौकिक चित्त।—लोकोत्तर चित्त जब मार्ग में संगृहीत होता है सास्रव नहीं होता। नीचे पृ० २५, १.१ देखिए।

५. तीन मत हैं :—

प्रथम आचार्य : रागसंसृष्टचित्त सराग है; रागप्रतिपक्षचित्त विगतराग है।

द्वितीय आचार्य : रागसंप्रयुक्तचित्त सराग है [इसकी दो प्रकार से व्याख्या हो सकती है। देखिए ऊपर टिप्पणी ३]।

तृतीय आचार्य : रागसंसृष्टचित्त सराग है; जो चित्त राग से संप्रयुक्त नहीं है वह विगतराग है।

विभाषा के अनुसार दूसरा मत यथार्थ है। वसुबन्धु तीसरे मत का अनुसरण करते हैं।

उनका कहना है कि यदि राग से असंप्रयुक्त चित्त को विगतराग कहते होते तो अन्य क्लेशों से (द्वेष आदि से) संप्रयुक्त चित्त को विगतराग कहते क्योंकि यह राग से संप्रयुक्त नहीं है।

आपत्ति—इस विकल्प में अनिवृताव्याकृत चित्र (२.७१ बी.) सराग नहीं है क्योंकि यह राग से संप्रयुक्त नहीं है, यह विगतराग नहीं है। क्योंकि यह राग प्रतिपक्ष नहीं है। फलत: अन्य आचार्यों (आभिधार्मिकों) की यह उक्ति स्वीकार करनी पड़ती है कि राग-संयुक्तता के कारण चित्त सराग होता है और यह आवश्यक नहीं है कि वह राग संसृष्ट, राग संप्रयुक्त हो। इसी प्रकार सूत्र के अन्य शब्दों की यावत् समोह-विगतमोह व्याख्या करनी चाहिए। [देखिए पृ० १६, टि० ३]।

वैभाषिक कहते हैं : संक्षिप्त चित्त कुशल चित्त है क्योंकि यह अपने आलम्बन से विमुख नहीं होता।[1] विक्षिप्त चित्त क्लिष्ट चित्त है क्योंकि यह विशेष क्षोभ के संप्रयोग से उत्पन्न होता है।

पाश्चात्य अर्थात् गान्धार के आचार्य कहते हैं : मिद्ध से संप्रयुक्त चित्त संक्षिप्त[2] होता है, विक्षिप्त चित्त अन्य क्लिष्ट चित्त हैं।

वैभाषिक इस लक्षण को स्वीकार नहीं करते। वह कहते हैं कि "इस नय में एक ही चित्त अर्थात् मिद्ध से संप्रयुक्त एक क्लिष्ट चित्त एक साथ संक्षिप्त और विक्षिप्त दोनों होता है।

इसके अतिरिक्त यह नय मूलशास्त्र (ज्ञान प्रस्थान, १५, ९) का विरोध करता है। मूलशास्त्र कहता है कि "वह चार ज्ञानों से, धर्म, अन्वय, लोकसंवृति और मार्गज्ञान से समन्वागत संक्षिप्त चित्त को यथाभूत जानता है।" (विभाषा १९०, ५)। [नीचे देखिए पृ० २०-२१]।

क्लिष्ट चित्त लीन होता है क्योंकि यह कौशीद्य से संप्रयुक्त होता है।[3]

[१९] कुशल चित्त प्रगृहीत है क्योंकि यह सम्यक् प्रधान[4] से संप्रयुक्त है। क्लिष्ट-चित्त परीत्त है। इसका नाम ऐसा इसलिए पड़ा क्योंकि हीनसत्त्व इसमें आसक्त होते हैं।

---

१. परमार्थ : "क्योंकि उसका आलम्बन परीत्त है।"

२. विभाषा में शुआन चाङ् में······संयुत्त, ५.२७९ अज्झत्तं संखित्त चित्त थीन-मिद्धसहगत, थीनमिद्धसंपयुत्त है।

३. वही, अतिलीन चित्त कोसज्जसहगत, कोसज्जसंपयुत्त है।

४. वही, अतिपग्गहीत चित्त उद्धच्चसहगत उद्धच्चसंपयुत्त है। दिव्यावदान में 'प्रगृहीत' का अर्थ 'ऊँचा' (पर्वत, प्रासाद आदि) है।

कुशलचित्त महद्गत है क्योंकि महासत्त्व[1] इसमें आसक्त होते हैं। अथवा क्लिष्ट और कुशलचित्त क्रम से परीत्त और महद्गत इसलिए कहलाते हैं क्योंकि इनके मूल अर्थ परिवार, अनुपरिवर्त और बलक्रम से स्वल्प और बहु हैं। वास्तव में

१. क्लिष्ट चित्त अल्पमूलक है; इसके दो मूल होते हैं—एक मोह और दूसरा द्वेष या लोभ। कुशलचित्त सदा तीन कुशलमूलों से संप्रयुक्त होता है।

२. क्लिष्ट चित्त का अर्थ स्वल्प है क्योंकि इसका प्रतिलम्भ बिना प्रयत्न के होता है : कुशलचित्त का अर्थ प्रभूत है क्योंकि इसका प्रतिलम्भ कष्टसाध्य है;

३. क्लिष्ट चित्त का अल्प परिवार होता है क्योंकि क्लिष्ट चित्त तज्जातीय अनागत चित्त के प्रतिलम्भ से सहगत नहीं है।[2] कुशल चित्त का महापरिवार होता है क्योंकि यह तज्जातीय अनागत चित्त[3] के प्रतिलम्भ से सहगत होता है।

४. क्लिष्ट चित्त का अल्प अनुपरिवर्त होता है क्योंकि यह वेदना, संज्ञा और संस्कार केवल इन तीन स्कन्धों से अनुगत होता है; कुशल चित्त का महा अनुपरिवर्त होता है क्योंकि यह इन तीन स्कन्धों के अतिरिक्त रूप (ध्यानानास्रव संवर ४·४ ए, २६) से भी अनुगत होता है।

[२०] ५. क्लिष्ट चित्त का अल्प बल होता है क्योंकि कुशल मूल व्युच्छिन्न होकर पुनः प्रतिसन्धि ग्रहण करते हैं (२·३६, अनुवाद, पृ० १८४, ४·८० सी); कुशल चित्त का महान् बल है क्योंकि दुःखे धर्मज्ञान क्षान्ति १० अनुशयों का अत्यन्त समुच्छेद करती है। (६. अनुवाद, पृ० १८०)।

यही कारण है कि क्लिष्ट चित्त 'परीत्त' कहलाता है और कुशल चित्त महद्गत।

क्लिष्ट चित्त स-उत्तर है क्योंकि यह औद्धत्य से संप्रयुक्त है; कुशलचित्त अनुत्तर है क्योंकि यह औद्धत्य का प्रतिपक्ष है[4]।

---

१. सर्वश्रेष्ठ 'महासत्त्व' बुद्ध हैं। यह परिच्छेद विभाषा, १६०,६ के अनुसार है।—क्लिष्ट चित्त परीत्त है क्योंकि यह स्वल्पजन (*siao-cheng*) से प्रेषित है; कुशल चित्त महद्गत है क्योंकि यह महाजन से सेवित है।—आपत्ति : क्या हम नहीं देखते कि अप्रमेय सत्त्व अकुशल का आचरण करते हैं और स्वल्पजन कुशल का? यह कैसे कह सकते हैं कि क्लिष्ट चित्त स्वल्पजन से सेवित होता है? हम इसलिए "परीत्त" नहीं कहते कि यह पक्ष स्वल्प है, 'परीत्त' उसे कहते हैं जिसमें अनास्रवधर्म नहीं के बराबर हैं।

२. तज्जातीयानागतभावनाभावात्; भावना=प्रतिलम्भ के अनुसार "अनागत अवस्था में कुशल संस्कृत धर्मों का प्रतिलम्भ होता है।" नीचे देखिए ७.२५ डी। (६२०, १७)।

३. परमार्थ : "अतीत और अनागत।"

४. स-उत्तर पद ४.१२७ डी, ५, अनुवाद पृ० ६३ देखिए।

व्युपशान्त और अव्युपशान्त चित्तों की व्याख्या इस प्रकार की जाती है। क्लिष्ट चित्त असमाहित है क्योंकि यह विक्षेप का प्रतिपक्ष है।

क्लिष्ट चित्त अभावित है क्योंकि दो भावनाओं का (प्रतिलम्भ, निषेवणाभावना का ७.२७) वहाँ अभाव है। विपरीत कारणवश कुशलचित्त भावित है। क्लिष्ट चित्त अविमुक्त है अर्थात् स्वभाव विमुक्ति से विमुक्त नहीं है और सन्तान विमुक्ति से विमुक्त नहीं है।[1] कुशलचित्त दोनों रीति से विमुक्त हो सकता है; स्वभाव विमुक्ति से और सन्तान विमुक्ति से। यह वैभाषिकों की व्याख्या है।

सौत्रान्तिक कहते हैं कि यह व्याख्या सूत्र के अनुसार नहीं है और यह पदार्थों के अर्थ-विशेष का विचार नहीं करती (पदार्थानामर्थ विशेषः)।

यह सूत्र के अनुसार कैसे नहीं है?

सूत्र कहता है कि "अध्यात्म संक्षिप्तचित्त कौन-सा है?" स्त्यानमिद्ध सहगत [२१] (=संप्रयुक्त) चित्त या अध्यात्म संनिरोध सहगत चित्त; यह विपश्यना से समन्वागत नहीं होता।—वह कौन चित्त है जो बहिर्धा विक्षिप्त है?—वह चित्त जो पाँच कामगुणों में विसृत है या अध्यात्म विपश्यना से सहगत है किन्तु संनिरोध से समन्वागत नहीं है।[2]

---

१. जब वह कुशलसास्रव होता है, विमुक्त नहीं होता और जब वह एक सन्तान में उत्पन्न होता है जहाँ क्लेश क्षीण नहीं हुए हैं तब वह विमुक्त नहीं होता। चेतोविमुक्ति पर ६.७६ सी देखिए।

२. पालि के अनुसार और व्याख्या में उद्धृत अंशों के अनुसार : [अध्यात्मं संक्षिप्तं चित्तं कतमत्। यच्चित्तं] स्त्यानमिद्धसहगतमध्यात्मं [वा] संनिरोधसहगतं नो तु विपश्यनया समन्वागतम् (बहिर्धा विक्षिप्तं चित्तं कतमत्। यच्चित्तं पंचकामगुणानारभ्य) अनुविक्षिप्त-मनुविसृतम् [अध्यात्मं वा विपश्यनासहगतं नो तु संनिरोधेन समन्वागतम्]।

संक्षिप्त, परमार्थ : *'lio'* शुआनचाङ् *tsiu*; संनिरोध, परमार्थः (=संग्रह),...... (धर्), शुआनचाङ् : (=शमथ)। फिओकुगा का कहना है कि सौत्रान्तिकों के अनुसार विपश्यना और शमथ निरस्त हैं।

—संयुत्त, ५.२७९ कतमं च भिक्खवे अज्झत्तं संखित्तं चित्तम्। यं भिक्खवे चित्तं थीनमिद्धसहगतं थीनमिद्धसंपयुक्तम्। इदं वुच्चति......। कतमं च......बहिद्धा विक्खित्तं चित्तम्। यं......चित्तं बाहिद्धा पंचगुणे आरब्भ अनुविक्खित्तम् अनुविसटम्। इदं वुच्चति... (६२१,११)।

[इस सूत्र का यह परिणाम निकलता है कि मिद्ध सम्प्रयुक्त चित्त संक्षिप्त होता है] किन्तु वैभाषिक उत्तर देता है कि हमने (पृ० १८ पं० २३) कहा है कि यदि मिद्ध संप्रयुक्त चित्त संक्षिप्त है तो क्लिष्ट (और इसलिए विक्षिप्त) चित्त जब वह मिद्ध सम्प्रयुक्त होता है एक समय में संक्षिप्त और विक्षिप्त दोनों होगा। हाँ, हमने यह कहा है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है। वास्तव में यह प्रतिज्ञा नहीं की जा सकती कि मिद्ध सम्प्रयुक्त क्लिष्ट चित्त विक्षिप्त होता है[1]।

[२२] किन्तु वैभाषिक उत्तर देता है कि आपका वाद शास्त्र-विरुद्ध है। हो सकता है किन्तु सूत्र-विरोध से शास्त्र-विरोध अच्छा है।[2] [७ बी]

२. भिन्न पदार्थों का अर्थविशेष इस व्याख्या में क्यों नहीं कहा है?

क्योंकि यह भिन्न चित्तों के लक्षण को उनके भेद-विशेष निर्दिष्ट किये बिना सूचित करती है—एक पक्ष में, विक्षिप्त, लीन, उद्धत, अत्युपशान्त, असमाहित, अभावित, अविमुक्त; दूसरे पक्ष में, संक्षिप्त; प्रगृहीत आदि।[3]

---

१. मिद्धसहगतस्य क्लिष्टस्य विक्षिप्तत्वाप्रतिज्ञानात्।

शुआन चाङ् का अनुवाद: "वास्तव में (हम) यह प्रतिज्ञा नहीं करते (=नप्रतिज्ञायते) कि मिद्ध संप्रयुक्त क्लिष्ट चित्त विक्षिप्त है।"

इसी प्रकार परमार्थ: "[हम] व्यवस्था नहीं करते···।"

व्याख्या: किमिति कृत्वा विक्षिप्तत्वम् अत्र न प्रतिज्ञायते। किं मिद्धसहगते चित्ते विक्षिप्तत्वं नास्तीति न प्रतिज्ञायते आहोस्विद् विद्यमानमपि विक्षिप्तत्वं संक्षिप्तत्वेनावस्थापितत्वान्न प्रतिज्ञायते। उभयथाऽपि व्याचक्षते। केचिद् व्याचक्षते। मिद्धसहगताद् क्लिष्टाद् यद् अन्यत् क्लिष्टं तद् विक्षिप्तं प्रतिज्ञायते। मिद्धसहगतं तु क्लिष्टमक्लिष्टं वाविशेषण संक्षिप्तमेवेति। अपरे पुनर्व्याचक्षते। यन्मिद्धसंयुक्तं तत्संक्षिप्तमेव न विक्षिप्तम्। यत्तु विषयेषु विसृतं तदेव विक्षिप्तमित्यतोऽत्र मिद्धसंप्रयुक्ते चित्ते [विक्षिप्तत्वं] न प्रतिज्ञायते (६२१,११)।

२. वरं शास्त्रविरोधः—व्याख्या: अबुद्धोक्तमभिधर्मशास्त्रमित्यभिप्रायः। ···कोश, १·३,३·३२ से तुलना कीजिए। (६२१,१६)।

३. प्रथम पक्ष के चित्तों के क्लिष्टत्व के भिन्न लक्षण नहीं दिये हैं।

क्लेश महाभूमिकों से संप्रयोग क्लिष्टत्व है; कुशलमहाभूमिकों से संप्रयोग द्वितीय पक्ष के चित्तों का कुशलत्व है, २·२५, २६।

अभिन्नलक्षणवचनात्—व्याख्या: सर्वाणि तानि क्लिष्टान्युक्तानीति। क्लिष्टत्वलक्षणमेषां विक्षिप्तादीनाम् अविमुक्तान्तानाम्। क्लिष्टत्वं पुनः क्लेशमहाभूमिकैः संप्रयोगः। संक्षिप्तप्रगृहीतादीनां चाभिन्नलक्षणवचनान्नार्थविशेष उक्तो भवति···। कुशलत्वमेषामभिन्नम्। किं पुनः कुशलत्वम्। कुशलमहाभूमिकैः संप्रयोगः। (६२१,२०)।

वैभाषिक उत्तर देता है :—यह यथार्थ नहीं है कि हम भिन्न पदार्थों का अर्थ-विशेष नहीं देते। विक्षिप्तादि चित्तों का क्लिष्टत्व सामान्य (तुल्य) है किन्तु हम इन भिन्न क्लिष्ट चित्तों के दोष-विशेष उद्भावित करते हैं। इसी प्रकार हम भिन्न कुशल चित्तों के गुण-विशेष प्रदर्शित करते हैं यद्यपि उन सबका कुशलत्व सामान्य है।[1]

हमारा उत्तर है कि भिन्न पदों के अर्थ यथार्थरूप से व्यवस्थित नहीं हुए हैं क्योंकि आप सूत्र-विरोध का परिहार नहीं करते हैं।[2]

[२३] [वास्तव में सूत्र वचन है कि स्त्यान-मिद्ध-सहगत चित्त संक्षिप्त है। जो चित्त मिद्ध से संयुक्त होता है, स्त्यान-योग से क्लिष्ट होता है वह संक्षिप्त है। वह कुशल नहीं हो सकता क्योंकि स्त्यान क्लेश महाभूमिक है] और यदि [जैसी की वैभाषिक नीति है] सूत्र को यह अभिप्रेत होता कि लीन[3] ही उद्धत है तो वह लीन चित्त और उद्धत चित्त को पृथक्-पृथक् न कहता। किन्तु सूत्र में इनका अलग-अलग निर्देश है क्योंकि सूत्र कहता है कि जिस समय में चित्त लीन होता है या लीन होने की शंका करता है वह समय प्रश्रब्धि, समाधि, उपेक्षा इन बोध्यंगों की भावना करने का उपयुक्त काल नहीं है।

जब चित्त उद्धत होता है या उद्धत होने की शंका करता है तब धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, इन बोध्यंगों की भावना के लिए उपयुक्त काल नहीं होता[4]।

१. न वै नोक्तः पदार्थानामर्थविशेषः। क्लिष्ट सामान्येऽपि (=तुल्यक्लिष्टत्वे) विक्षिप्तादीनां तेषां दोषविशेषसंदर्शनादुक्त एवार्थ विशेषो भवति। (६२१, २६)।

हम कहते हैं कि 'अप्येतत् क्लिष्टं चित्तं विक्षेपयोगाद् विक्षिप्तम्। क्लिष्टं कौसीद्य-योगाल्लीनम्। औद्धत्ययोगादुद्धतम्। (६२१,२१)।

हम कहते हैं : लीनं चित्तं क्लिष्टं कौसीद्यसंप्रयोगात्। उद्धतं चित्तं क्लिष्टमौद्धत्य-संप्रयोगात्।

२. सूत्र विरोधस्यापरिहारात्—व्याख्या : सूत्रे हि स्त्यानमिद्धसहगतं संक्षिप्त-मुक्तम्। स्त्यानयोगेन यत् क्लिष्टं मिद्धसंयुक्तं तत् संक्षिप्तं न कुशलं स्त्यानस्य क्लेशमहा-भूमिकत्वात् (६२२,२)।

३. वैभाषिकों का मत है कि 'यदेव लीनं तदेवोद्धतम्', "लीनचित्त=उद्धतचित्त।" उनकी इस व्याख्या से "लीनं चित्तं क्लिष्टं कौसीद्यसंप्रयोगात्; उद्धतं चित्तं क्लिष्टमौद्धत्य-संप्रयोगात्" हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं (नीचे देखिए पृ० २४, टि० १ दूसरा पाठ)।

४. यस्मिन् समये लीनं चित्तं भवति लीनाभिशंकि अकालस्तस्मिन् समये प्रश्रब्धि-समाध्युपेक्षाबोध्यंगानां भावनायाः। यस्मिन् समये चित्तमुद्धतं भवत्यौद्धत्याभिशंकि अकाल-स्तस्मिन् समये धर्मविचयवीर्यप्रीतिबोध्यंगानां भावनायाः।

यदि लीन और उद्धत एक होते तो सूत्र का वचन इस प्रकार होता :—

"जब चित्त लीन होता है तब प्रश्रब्धि······प्रीति की भावना का काल नहीं

वैभाषिक की आपत्ति—क्या फिर बोध्यंगों की भावना यहाँ व्यग्र है[१] ?

[क्या यह मानना आवश्यक है कि कभी प्रश्रब्धि, समाधि, उपेक्षा की भावना होती है और कभी किसी काल में धर्मविचय, वीर्य, प्रीति की[२] ?] नहीं। 'भावना' से सूत्र का अभिप्राय सम्मुखीभाव से नहीं है। किन्तु 'मनिसकरणं, 'आलम्बनीकरण' से है (मनिसकरण=आलम्बनीकरण, आभोगकरण)।

वैभाषिक का उत्तर[३]—जहाँ कौसीद्य अधिक होता है और औद्धत्य

[२४] न्यग्भाव में रहता है (न्यग्भावेन वर्तते) वह चित्त लीन कहलाता है। जहाँ औद्धत्य अधिक होता है और कौसीद्य न्यग्भाव में रहता है वह चित्त उद्धत होता है। इसलिए इन दो चित्तों का विशेष है और सूत्र का पृथग्वचन मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। किन्तु यह विचार कर कि कौसीद्य और औद्धत्य इन दोनों का सहभाव है। यह एक कलाप में युगपद् होते हैं, हम कहते हैं कि जो चित्त लीन नहीं है वही उद्धत है[४]।

२. हम आभिप्रायिक सूत्र का निषेध नहीं करना चाहते किन्तु [उस चित्त को लीन कहना जिसमें कौसीद्य की अधिकता है] यह सूत्र का अभिप्राय नहीं है।[५]

पूर्व व्याख्यात (पृ० १७, १·३) इस वाद के बारे में कि सब राग संयुक्त चित्त सराग हैं, हम यह पूछना चाहते हैं कि 'रागसंयुक्त' इस पद का क्या अर्थ है।

१. यदि कोई चित्त रागसंयुक्त है और इसलिए सराग है, क्योंकि जिस सन्तान में यह चित्त उत्पन्न होता है उसमें राग की प्राप्ति का अनुबन्ध होता है (६२३, १३) (राग-

---

होता। जब चित्त उद्धत होता है तब प्रश्रब्धि··· ··प्रीति की भावना का काल नहीं होता। अथवा: ' जब चित्त लीन या उद्धत होता है तब प्रश्रब्धि······प्रीति की भावना का काल नहीं होता (६२२, ७)।''

१. किं पुनरत्र बोध्यंगानां व्यग्रा भावना—किन्तु बोधि के सात अंगों की भावना युगपत् है (६२२, २४)।

२. स्मृति के लिए भगवत् ने कहा है: स्मृतिं खल्वहं सर्वत्र गतां वदामि।

३. शुआन चाङ्: ''किन्तु हमारा सूत्र से विरोध नहीं है। प्रत्येक क्लिष्ट चित्त लीन और उद्धत हो सकता है। जिस चित्त में कौसीद्य की अधिकता होती है उसे सूत्र 'लीन' कहता है; जिसमें 'औद्धत्य' की अधिकता होती है उसे सूत्र 'उद्धत' कहता है। किन्तु उनका निरन्तर संयोग देखकर मैं कहता हूँ कि उनका स्वभाव एक है।''

४. लीनं क्लिष्टं कौसीद्यसंयोगादुद्धतं क्लिष्टमौद्धत्यसंयोगात्। कौसीद्य के संयोग से क्लिष्ट चित्त लीन होता है; औद्धत्य के संयोग से क्लिष्ट चित्त उद्धत होता है। तुलना कीजिए २. अनुवाद पृ० १६३-४। (६२३, ५)।

५. व्याख्या: आचार्य आह नाभिप्रायिकं यावत् सूत्रे तु नायमभिप्राय इति (६२३, ६)।

प्राप्त्यनुबन्धात्), तो शैक्ष का अनास्रव चित्त भी सराग होगा क्योंकि शैक्ष सन्तान में राग का अवशेष है, राग का आत्यन्तिक क्षय नहीं हुआ है (शैक्ष सन्ताने रागस्य सावशेषत्वात्)[1]।

२. यदि कोई चित्त केवल इस कारण रागसंयुक्त और सराग है क्योंकि यह अनुशयान राग[2] का

[२५] आलम्बन है तो अर्हत् का भी सास्रव चित्त सराग होगा क्योंकि यह चित्त परकीय राग का आलम्बन हो सकता है।[3]

यदि आप यह नहीं स्वीकार करते कि अर्हत् का चित्त परकीय राग का आलम्बन हो सकता है तो यह चित्त सास्रव कैसे कहलायेगा ?

क्या आपका कथन है कि यह सास्रव इसलिए नहीं है क्योंकि परकीय राग इसको आलम्बन बनाता है किन्तु इसलिए कि यह परकीय 'सामान्य क्लेश' का आलम्बन है (५.१२ अर्थात् अविद्या या मोह) ?

इस विकल्प में यह नहीं कहा जा सकता कि यह चित्त सराग है किन्तु यह कहना चाहिए कि यह चित्त समोह है क्योंकि यह परकीय मोह का आलम्बन है।

किन्तु हमारे मन में इनमें से कोई भी अर्थ युक्तियुक्त नहीं है। वास्तव में परचित्त ज्ञान परकीय सन्तान की "प्राप्तियों" को आलम्बन नहीं बनाता। इसलिए जब मैं दूसरे के चित्त को सराग जानता हूँ तो यह परचित्त सराग नहीं होता क्योंकि यह राग प्राप्ति-सहित होने से, एक ऐसे सन्तान में होने से जहाँ से इस प्राप्ति का अपनयन नहीं हुआ है, राग संयुक्त है। परचित्त ज्ञान उस राग को नहीं जानता जो परकीय चित्त को आलम्बन बनाता है जैसे वह उस राग को नहीं जानता जो परकीय चित्त का आलम्बन होता है। इसलिए इस सार्थक राग संयोग के कारण चित्त सराग नहीं कहलाता।

---

१. इस शैक्ष का प्रत्युत्पन्न चित्त अनास्रव है। उदाहरण के लिए मानिए कि अनित्यता का चित्त है। किन्तु यदि वह अनागामिन् नहीं है तो उसमें कामधातु के राग की प्राप्ति बनी रहती है······।

२. अनुशयानरागालम्बनत्वात्, देखिए, ५.१७।

३. अर्हत् के वे चित्त जो अर्हन्मार्ग में संगृहीत हैं कभी सास्रव नहीं होते क्योंकि इन चित्तों का लक्षण ही अनास्रव है और यह परकीय अनुशयान क्लेशों के आलम्बन नहीं होते, ५.१८ ए-बी किन्तु उनका संवृति ज्ञान इस अर्थ में उनके कार्य के सदृश सास्रव है कि परकीयक्लेश वहाँ आश्रय ले सकते हैं (१.४ बी)—देखिए, ८.२५ सी।

परमार्थ का अनुवाद विशद है : "यदि कोई चित्त इस कारण सराग है कि वह राग को आलम्बन के रूप में ग्रहण करता है······।"

आपत्ति[1]—यदि ऐसा है तो चित्त सराग कैसे होता है ?

वसुबन्धु—सूत्र का अभिप्राय निश्चित करना आवश्यक है ।

[२६] क्या सरागचित्त रागसंयुक्त चित्त नहीं है ? किन्तु रागसंप्रयुक्त चित्त है वह चित्त जिसमें प्रत्युत्पन्न क्षण में राग होता है । क्या विगतराग वह चित्त है जो राग से असंप्रयुक्त है यद्यपि वह चित्त रागप्राप्ति सहित हो ?

आपत्ति—'विगतराग' का यह अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि एक दूसरे सूत्र का वचन है कि विगतराग, विगत द्वेष, विगत मोह चित्त फिर भवत्रय में नहीं पड़ता । किन्तु यदि यह चित्त रागादि प्राप्ति-सहित है तो भवत्रय में इसका पुनरावर्तन होगा ।

वसुबन्धु—'विगतराग चित्त' से इस दूसरे सूत्र का अभिप्राय 'विगतराग प्राप्ति-चित्त' से है, वह चित्त जो राग-प्राप्ति-सहित नहीं है ।

आपत्ति—हमने क्या आपके मन का प्रतिषेध नहीं किया है ? वास्तव में हमने कहा है (पृ० १८, १.१) कि यदि उस चित्त को विगतराग कहते हैं जो राग से असंप्रयुक्त (रागेण असंप्रयुक्तम्) है अर्थात् वह चित्त जिसमें प्रत्युत्पन्न क्षण में राग का समुदाचार नहीं है तो अन्य क्लेश संप्रयुक्त चित्त भी विगतराग होगा । किन्तु द्वेष संप्रयुक्त चित्त को कोई विगतराग नहीं कहता ।

वसुबन्धु—यह कहना आवश्यक नहीं है कि राग से असंप्रयुक्त चित्त विगतराग है, किन्तु राग से असंप्रयुक्त और द्वेष से संप्रयुक्त चित्त को कोई विगतराग नहीं मानता किन्तु उसे 'सद्वेष' मानते हैं । इस प्रकार द्वेष संप्रयोग के उसके विशेष लक्षण से उसे अभिलक्षित करते हैं ।[2]

क्या परचित्त ज्ञान परकीय चित्त के आलम्बन को ग्रहण करता है ? क्या यह दूसरे के चित्त को उतना ही जानता है जितना कि दूसरा ?—नहीं, जब वह परकीय चित्त को जानता है तब वह परकीय चित्त के आलम्बन को नहीं देखता; वह उस चित्त को उतना नहीं जानता जितना कि दूसरा जानता है; वह केवल इतना जानता है कि यह क्लिष्ट आदि है; वह रूपादि उस आलम्बन को नहीं जानता जिसके कारण यह क्लिष्ट होता है । अन्यथा परचित्त ज्ञान का आलम्बन रूप आदि होते और ऐसा होने पर वह परचित्त ज्ञान न होता; परचित्त

[२७] ज्ञान स्वभाव या स्वात्मा का भी ग्रहण कर सकता है : क्योंकि यह सम्भव है कि परचित्त ज्ञान द्वारा जिस आश्रय के चित्त को मैं ग्रहण करता हूँ वह भी उसी क्षण में मेरे चित्त को आलम्बन बनावे ।

---

१. द्वितीय आचार्य, ऊपर देखिए पृ० १७, टि० ५ ।

२. न तु तद् द्वेषादिसंप्रयुक्तं चित्तं विगतरागमिति गृह्यते ? किं तर्हि ? सद्वेषं समोहमित्येवमादि द्वेषादिसंप्रयोगतया विशिष्टत्वात् (६२४,८) ।

परचित्त ज्ञान के लक्षण निश्चित हैं : यह द्रव्य का स्वलक्षण, (न कि स्वसन्तति का) न कि संवृति-सद् का सामान्य लक्षण जानता है, यह पर-सन्तति का चित्त-चैत्त जानता है, रूप नहीं; यह प्रत्युत्पन्न जानता है अतीत और अनागत नहीं।

कामरूप-प्रतिसंयुक्त और अप्रतिसंयुक्त इसके विषय हैं; आरूप्य प्रतिसंयुक्त नहीं। अथवा यह सभाग पक्ष के अनास्रव चित्त और अनास्रव चैत्त जानता है। यदि यह अनास्रव है तो यह अनास्रव चित्त-चैत्तों को जानता है। यदि यह सास्रव है तो सास्रव चित्त-चैत्तों को जानता है। परचित्त ज्ञान दर्शन मार्ग और आनन्तर्य मार्ग में प्रतिषिद्ध है, शून्यता समाधि और आनिमित्त समाधि से विप्रयुक्त है; क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान में संगृहीत नहीं है। अन्य अवस्थाएँ प्रतिषिद्ध नहीं हैं; इसलिए भावनामार्ग में (विमुक्ति और विशेष मार्ग में) परचित्त ज्ञान की उपलब्धि होती है, अप्रणिहित समाधि आदि से यह संप्रयुक्त हो सकता है। परचित्त ज्ञान का निर्देश समाप्त हुआ।

शेषे चतुर्दशाकारे शून्यानात्मविवर्जिते।
नामलः षोडशेभ्योऽन्यश्चाकारोऽन्यैर्अस्ति शास्त्रतः ॥१२॥

१२ ए-बी. शेष के शून्याकार और अनात्माकार को छोड़कर १४ आकार हैं।[1]

"शेष" क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान हैं।

दोनों के शून्य और अनात्मक इन दो आकारों को छोड़कर १४ आकार हैं (७.१३ ए)। वास्तव में यद्यपि यह दो ज्ञान पारमार्थिक हैं[2] तथापि यह संवृति का आश्रय लेते हैं (६.४)।[3] इसलिए इनके शून्य और अनात्मक यह दो आकार नहीं होते। जब योगी विपश्यना से व्युत्थान करता है जिसमें पारमार्थिक ज्ञानों का सम्मुखी भाव होता है

[२८] तब इन ज्ञानों के बल से पृष्ठ जात[4] ज्ञान उत्पन्न होते हैं और यह इस आकार के संवृति-ज्ञान हैं : क्षीणा में जातिः, उषितं ब्रह्मचर्यम्, कृतं करणीयम्, नापरम-स्मादृभवं प्रजानामि[5]।

---

१. =[शेषं चतुर्दशाकारं शून्यानात्मकवर्जितम्]।

२. परमार्थनिमित्ते परमार्थेन वा दीव्यतः पारामार्थिके।— (६२५, ६)
"यद्यपि उनका आलम्बन द्रव्य-सत् ही क्यों न हो।"

३. ऊपर देखिए, पृ० १०, १.१३।

४. ऊपर देखिए, पृ० १०, १.५।

५. "मेरी जाति क्षीण हो चुकी है" : अर्थात् समुदय प्रहीण हो चुका है, यह समुदय सत्य को उसके चार आकारों में देखता है (७.१३ए); "मैंने ब्रह्मचर्य का पालन किया है ?" मार्ग के चार आकार, "जो करणीय था वह कर लिया है" : निरोध के चार आकार; "इसके पश्चात् कोई दूसरा मन में नहीं जानता" : दुःख सत्य के दो आकार, अनित्यता और दुःख।

इस चतुरंग वाक्य की टीकाओं में समन्तपासादिका, १.१६८ देखिए, 'निर्वाण' १६२५ पृ० ६० की सूचनाएँ जिनके सम्बन्ध में मुझे सन्तोष नहीं है।

क्षय और अनुत्पाद—यह दो ज्ञान इसलिए मुख्य वृत्या नहीं किन्तु अपने निस्यन्द वश (निस्यन्देन) संवृति का आश्रय लेते हैं (तयोः संवृति भजनम्)।

क्या यह अनास्रव आकार १६ आकारों के बाहर हैं ?

१२ सी-डी. १६ के बाहर अमल आकार नहीं हैं। शास्त्र के अनुसार दूसरे कहते हैं कि १६ के बाहर भी आकार हैं।

कश्मीर के आचार्य कहते हैं कि १६ के बाहर अनास्रव आकार नहीं हैं। बाह्य आचार्यों का प्रतिपक्ष मत है। [अन्य आचार्यों का मत, पृ० ११, १.१]

[२८] मूलशास्त्र कहता है।[1] "क्या कोई निर्दिष्ट कर सकता है कि कामप्रति-संयुक्त धर्मों का धातु-अपर्यापन्न (अप्रतिसंयुक्त अर्थात् अनास्रव) चित्त से क्या अन्तर है ?

हम इन धर्मों को जान सकते हैं; हम इनको अविपरीत भाव से जान सकते हैं (योगविहिततः), जैसे, अनित्यतः, दुःखतः, शून्यतः, अनात्मतः, हेतुतः, समुदयतः, प्रभवतः, प्रत्ययतः, यह लक्षण (स्थान) है, यह हेतु (वस्तु) है।"

---

१. ......अनित्यतो दुःखतः शून्यतोऽनात्मतो हेतुतः समुदयतः प्रभवतः प्रत्ययतः अस्त्येतत् स्थानमस्त्येतद् वस्तु योग विहिततो विजानीयात्।

[व्याख्या : अस्त्येतत् स्थानमित्यस्त्येतल्लक्षणमित्यर्थः। अस्त्येतद् वस्त्व इत्ययं हेतुरित्यर्थः। योगविहिततो विजानीयादित्यविपरीततो विजानीयादित्यर्थः।] (६२५, २, १८)।

कोश के जापानी सम्पादक के अनुसार (विज्ञानकाय, ६, १७, ७, ५ से उद्धृत)—यह वाक्य और असम्यक् दृष्टि का वाक्य (नीचे पृष्ठ २८, १.१८) विज्ञानकाय में चित्त के विविध प्रकार के अधिकार में (पाठभेद के साथ) पूरे दुहराये गये हैं। "क्या काम प्रतिसंयुक्त चित्त १. काम के धर्मों को, २. रूप के धर्मों को, ३. आरूप्य के धर्मों को, ४. धातुओं में अप्रतिसंयुक्त धर्मों को, ५. काम और रूप के धर्मों को जानता है ?"—यह चित्त कुशल है, अकुशल है, अव्याकृत है, दुःख दर्शनादि से प्रहातव्य है। विविध धर्मों को देखने का चित्त का प्रकार उसके स्वभाव और इन धर्मों के स्वभाव पर निर्भर करता है।

विज्ञानकाय के जिस परिच्छेद में वह प्रकार समझाया गया है जिससे "धातु अप्रति-संयुक्त" चित्त कामधातु के धर्मों को देखता है वह मुझको नहीं मिलता। किन्तु शैक्ष-अशैक्ष चित्त (दो प्रकार के चित्त जो धातु-अर्थापन्न नहीं हैं) के प्रकरण में, २३.८ आगे ३० बी इसकी व्याख्या दी गयी है।—उसका सूत्र वही है जिसे वसुबन्धु उद्धृत करते हैं; केवल इतना अन्तर है कि 'अस्त्येतत् स्थानम् अस्त्येतद्वस्तु' इस वाक्य के पूर्व 'अस्त्येषो हेतु (?)', 'अस्त्येव उत्पाद (?)' यह शब्द पाये जाते हैं। (२७ बी १५, २८ बी १ और देखिए)।

शैक्ष अथवा अशैक्ष चित्त केवल कामप्रतिसंयुक्त धर्मों को पहले दो सत्यों के आकार में जानता है (अनित्य......प्रत्ययतस्); काम का कुशल चित्त धर्मों को उन आकारों में जानता है जिन्हें वसुबन्धु ने (६.४८ बी) "लौकिक मार्ग" के लक्षण रूप में निर्दिष्ट किया है : औदारिकतस्, दुःखिलतस्, आवरणतस् और शल्यतस् इत्यादि (आगे ४३ बी १७)।

इसलिए 'अस्त्येतत् स्थानम्', 'अस्त्येतद् वस्तु' इन दो वाक्यों से निर्दिष्ट आकारों को हमें दो अनास्रव आकार मानना चाहिए। दुःख समुदय के ८ आकारों में यह २ आकार जोड़ दिये जाते हैं। कश्मीर के आचार्यों के अनुसार शास्त्र दो अतिरिक्त आकारों की शिक्षा नहीं देता। हमें समझना चाहिए "........यह युक्त है (अस्त्ययं योगः) कि एक अनास्रव चित्त इन धर्मों को अनित्यतः........जानता है।" बाह्य आचार्य उत्तर देते हैं कि यह इसका अर्थ नहीं है। क्योंकि यदि शास्त्र अनास्रव आकारों को लक्ष्य किये बिना, केवल वाक्य-विन्यासवश 'अस्त्येतत् स्थानम्......' इन पदों का प्रयोग किये होता तो वह इसी तरह के एक दूसरे वाक्य में भी इन पदों का प्रयोग करता। इस वाक्य में शास्त्र बताता है कि "क्या कोई काम प्रतिसंयुक्त धर्मों को सत्य-दर्शन प्रहातव्य चित्त से विशिष्ट कर सकता है? हाँ! उन्हें जाना जा सकता है अर्थात् एक आसक्त है, एक द्वेष करता है, एक मान करता है, एक मूढ़ है, एक मोहवश इन धर्मों को आत्मतः आत्मीयतः (सत्काम-दृष्टि से) जानता है, शाश्वततः उच्छेदतः (अन्तग्राह दृष्टि से) जानता है;

[३०] अहेतुतः—अक्रियातः—अपवादतः (मिथ्यादृष्टि से) जानता है, अग्रतः—श्रेष्ठतः—विशिष्टतः—परमतः (दृष्टि परामर्श से) जानता है, शुद्धितः-युक्तितः--नैर्याणिकतः (शीलव्रत परामर्श से) जानता है, कांक्षातः—निमतितः—विचिकित्सातः (विचिकित्सा से) जानता है।"[1]

इस वाक्य में 'अस्त्येतत् स्थानम्......' यह पाठ होना चाहिए था। यदि यह पद केवल 'अस्त्ययं योगः' का अर्थ रखते थे और इनका अभिप्रेत अर्थ यह था कि सत्य दर्शन-प्रहातव्य चित्त के लिए धर्मों को आत्मीयतः, आत्मतः जानना घातक है।

१६ आकारों के कितने द्रव्य होते हैं?

द्रव्यतः षोडशाकाराः प्रज्ञाकारस्तया सह।
आकारयन्ति सालम्बा सर्वमाकार्यते तुसत् ॥१३॥

---

१. आत्मत आत्मीयत उच्छेदतः शाश्वततोऽहेतुतोऽक्रियातोऽपवादतोऽग्रतः श्रेष्ठतो विशिष्टतः परमतः शुद्धितो मुक्तितो नैर्याणिकतः कांक्षातो विमतितो विचिकित्सातो रज्येत द्विष्यान् मन्येत मुह्येद् अयोगविहिततो विजानीयात् (६२५ २६)।

सत्यदर्शन (कम-से-कम आंशिक रूप से) राग, द्वेष, मान, मोह का अपनयन करता है। सत्यदर्शन-प्रहातव्य चित्त में रागादि होंगे; इसलिए पाठ में रज्येत आदि है, यह चित्त सत्काय दृष्टि से विमुक्त नहीं है; इसलिए वह धर्मों को आत्मा, आत्मीय करके जानता है। यह अन्तग्राह दृष्टि से विमुक्त नहीं है, इसलिए वह धर्मों को उच्छेदतः या शाश्वततः जानता है......। विज्ञान काय, आगे २६ बी ११, २६ बी ६, ४२ बी ८ तथा अन्यत्र यह वाक्य पाया जाता है।

१३ ए. आकारों के १६ द्रव्य होते हैं ।[1]

कुछ आचार्यों का कहना है कि आकार जो संज्ञावश १६ हैं, द्रव्यतः केवल सात हैं । चार दुःखाकार वास्तव में एक दूसरे से विशिष्ट हैं । समुदयादि अन्य सत्यों के आकार नाम से चार-चार हैं किन्तु वास्तव में एक-एक द्रव्य हैं । हेतु, समुदय, प्रभव, प्रत्यय

[३१] पर्यायमात्र हैं, यह हेत्वाकार हैं, अर्थ भेद नहीं है किन्तु एक द्रव्य हैं, जैसे शक्र, इन्द्र, पुरन्दर एक ही व्यक्ति के भिन्न नाम हैं । योगी (योगिनः) दुःख सत्य के ४ आकार और शेष तीन सत्यों के हेतु आदि आकारों में से एक-एक (एकैकम्) का पृथक्-पृथक् सम्मुखीभाव करेंगे[2] ।

किन्तु वैभाषिक मत है कि १६ आकार वास्तव में हैं [क्योंकि उन सबका सम्मुखीभाव एक-एक करके करना चाहिए] ।[3]

१. दुःख सत्य के लिए यह आकार हैं ।

१. (६२६,१२) अनित्य, क्योंकि इनका जन्म प्रत्ययों के अधीन है । (प्रत्ययाधीनत्वात्=प्रत्यय प्रतिबद्ध जन्मत्वात्) ।

२. (६२६,१३) दुःख, क्योंकि इनका स्वभाव पीड़ा पहुँचाने का है । (पीडनात्मकत्वात्) (६.३) ।

३. शून्य, क्योंकि आत्मीय दृष्टि का प्रतिपक्ष है । (आत्मीय दृष्टि विपक्ष) ।

४. अनात्मक, क्योंकि आत्मदृष्टि का विपक्ष है ।

२. समुदय सत्य के लिए :

१. (६२६,१५) हेतु, क्योंकि इसका बीज धर्म है (बीजधर्म योगेन), हेतु विप्रकृष्ट हेतु है । 'योग' शब्द का यहाँ अर्थ 'न्याय' है ।

---

१. =द्रव्यतः षोडशाकाराः—विभाषा, ७६,३; नञ्जियो १२८७, ६,६ ।

विमोक्ष मुख के आकार, ८.२४ ।

अभिधर्म के आकारों का निर्देश अभिधम्म में नहीं पाया जाता (उदाहरण के लिए देखिए पटिसंभिदामग्ग, १, १०७, ११८, २४१, विशुद्धि, ४६४); यह पिटक में नहीं है : अंगुत्तर, १.३८ (सञ्ञा की सूची), ४.४२२ जहाँ योगी अमाता धातु को सन्तपणीत आदि करके अवधारित करता है और उस अवस्था की वस्तुओं को दुःख, रोग, गण्ड आदि करके जानता है ।—६.४६ में हमने लौकिक मार्ग के आकार देखे हैं : हमें कहना पड़ता है कि वसुबन्धु पर विज्ञानकाय आगे ५६ बी, १.१८ और अन्यत्र का प्रभाव पड़ा है ।

२. दुःखाकारांश्चतुरः पृथग् योगिनः सम्मुखीकुर्युस्, हेत्वाद्याकाराणामेकैकमित्येकीयमतम् । द्रव्यतः षोडशेति वैभाषिका वर्णयन्ति ।

३. इससे यह परिणाम निकलता है कि अभिसमय अनुपूर्व है, ६.२७ ।

२. (६२६,१७) समुदय, क्योंकि यह प्रादुर्भाव करता है (प्रादुर्भाव योगेन)। यह सन्निकृष्ट कारण है : वह जिससे क्षणानन्तर में धर्म उत्पन्न होता है (उत्पद्यते) या समुदित होता है (समुदेति)।

३. (६२६,१८) प्रभव, हेतु परम्परा क्योंकि सन्तति योग होता है (प्रबन्ध योगेन, सन्तति योगेन); जैसे बीज, अंकुर, काण्ड......।

४. प्रत्यय, क्योंकि हेत्वादि बहुप्रत्ययवश निष्पत्ति होती है (अभिनिष्पादनयोगेन); जैसे मृत्पिण्ड, दण्ड, चक्र, रज्जु, जल आदि प्रत्यय सामग्रीवश घट निष्पन्न होता है। (देखिए २.६४)।

३. निरोध सत्य के लिए :

१. निरोध [सास्रव] स्कन्धों के क्षय के कारण।

[३२] २. शान्त, राग, द्वेष और मोह (८.२६ सी) इन तीन अग्नियों के निर्वाण के कारण।

३. (६२६,२२) प्रणीत, सर्वदुःख से रहित होने के कारण (निरुपद्रवत्वात्) (उपद्रव =दुःख)।

४. (६२६,२३) निःसरण, सर्वदुःख कारण से विमुक्त होने से (सर्वापक्षालवियुक्तत्वात्=सर्व दुःख कारणविमुक्तत्वात्)।

४. मार्ग सत्य के लिए :

१. (६२६, २४) मार्ग, क्योंकि निर्वाणाभिमुख हो उस पर जाते हैं (गमनार्थेन)।[1]

२. न्याय, उचित या अभ्यास क्योंकि यह योगयुक्त है अर्थात् उपपत्तियुक्त, प्रमाणसमन्वागत, या उपाययुक्त, साधनयुक्त।

३. प्रतिपद्, अधिगम, क्योंकि इसकी सहायता से सम्यक् प्रतिपादन होता है। (६२६,२५) (सम्यक् प्रतिपादनार्थेन), अर्थात् इसके द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

४. (६२६,२६) नैर्याणिक, अत्यन्त निर्याण (अत्यन्त निर्याणाय प्रभवति), क्योंकि यह अत्यन्त रूप से संसारातिक्रमण में समर्थ होता है।

व्याख्यान का एक दूसरा नय भी है।

१.१ (६२६,२७) अनित्य, क्योंकि आत्यन्तिक नहीं है (अनात्यन्तिक)।

२. दुःख, क्योंकि भारभूत है।[2]

३. शून्य, क्योंकि पुरुष (कारक आदि) का अभाव है।

---

१. मार्ग और प्रतिपद् के अर्थ के लिए ६.६५ बी-डी, ६६ ए, ७.२८ सी देखिए।

२. अभिन्यासभूतत्वादिति। भारभूतत्वादित्यर्थः दुःखेन भारभूतेन हि स पुद्गलो भिद्यते। अपक्रम्यत इत्यर्थः (६२६, २८)।

४. अनात्मक, क्योंकि यह कामकारी नहीं है ।[१]

२.१. हेतु, क्योंकि इसका वहाँ से आगमन हुआ है (आगमनयोगेन), 'हि' धातु गत्यर्थक है, हेतु का अर्थ है 'हिनोत्यस्मात्' ।[२]

[३३] २. समुदय, क्योंकि उन्मज्जन योग है : मानों धर्म अनागत अध्व से निकलता है (उन्मज्जतीव) ।[३]

३. प्रभव, प्रसरण योग से ।[४]

४. प्रत्यय क्योंकि आधार है अर्थात् उत्पत्ति क्रिया के लिए प्रधान भूत है ।[५]

३.१ निरोध, पूर्व दुःख का उपरम और उत्तर दुःख का असम्बन्ध ।[६]

२. शान्त, क्योंकि तीन संस्कृत लक्षण (२.४५ सी) से विमुक्त है ।

३. प्रणीत, क्योंकि यह परमार्थ शुभ है (४.८ सी.) ।

४. निःसरण, क्योंकि परम आश्वास का देने वाला है (४.८ बी) ।[७]

४.१ मार्ग, क्योंकि मिथ्यामार्ग का प्रतिपक्ष है ।

२. न्याय, क्योंकि अन्याय का प्रतिपक्ष है ।

३. (६२७,८) प्रतिपद, क्योंकि यह निर्वाणपुर का विरोध नहीं करता । (निर्वाण-पुराविरोध नार्थेन) ।[८]

---

१. अकामकारित्वादिति । कामतः कर्तुं शीलमस्येति कामकारी, न कामकार्यकाम-कारी । तद्भावाद् अनात्मा । सूत्रेऽप्ययमर्थ उक्तः । (६२६, ३०) रूपं चेद् भिक्षव आत्मा अभविष्यन्न रूपमात्मव्याबाधाय संवर्तेत । लभ्येत च रूपे एवं भवत्वेवं मा भूदिति काम कार्यात्मेति (संयुत्त, ३.६६, पाठभेद) ।

२. निर्वर्तितपरिग्रहात् । हेतुरागमनयोगेनेति हि गतौ हिनोत्यस्मादिति हेतुः । अस्मा-दुत्पद्यत इत्यर्थः (६२७, १) ।

३. उन्मज्जनयोगेनेति । अनागतादध्वन उन्मज्जतीवेत्यर्थः तुलना कीजिए ५.२७, अनुवाद पृ० ६५ (६२७, २) ।

४. प्रसरणयोगेनेति प्रबन्धयोगेन (६२७, ३) ।

५. प्रतिसरणार्थेन प्रत्यय इति । जनिक्रियां प्रतिप्रधानभूत इत्यभिप्रायः (६२७, ३) ।

६. असम्बन्धोपरमादिति । पूर्वस्य दुःखस्योपरमात् । उत्तरस्यासम्बन्ध उपरमो निरोध इत्यर्थः (६२७.४) ।

७. परमाश्वासकरत्वादिति सर्वदुःखोच्छित्त्या परमक्षेमत्वात्···तुलना कीजिए ६.६० ए (६२७, ७) ।

८. यस्मादनेन निर्वाणपुरं न विरुध्यते न विसंवाद्यते । किं तर्हि ? प्रतिपद्यत एवेत्यतः प्रतिपत । प्रतिपद्यतेऽनयेति कृत्वा (६२७, ८) ।

४. नैर्याणिक, क्योंकि भवत्रय का प्रतिषेध प्रहाण करता है।

क्योंकि प्राचीन निरूपण एक दूसरे से भिन्न हैं इसलिए हम एक तीसरी व्याख्या कर सकते हैं :

१.१ अनित्य, क्योंकि इसका उत्पाद और निरोध होता है।

२. दुःख, क्योंकि आर्यचित्त को (६. पृ० १२४) यह पीड़ा पहुँचाता है।

३. शून्य, क्योंकि किसी आत्मा की उपलब्धि नहीं होती।

४. अनात्मक, क्योंकि यह आत्मा नहीं है।

[३४] २.१ द्वितीय सत्य के चार आकार : हेतु, समुदय, प्रभव और प्रत्यय की व्याख्या इस सूत्र के अनुसार है : "पाँच उपादान स्कन्ध (सास्रव स्कन्ध, १.८ ए) छन्द-मूलक, छन्द समुदय, छन्दजातीय, छन्द प्रभव है" अर्थात् उनका मूल या हेतु छन्द=काम (=तृष्णा) है, उनका समुद्गम (समुदय) छन्द से है, उनका प्रत्ययछन्द है (छन्द जातीय =छन्द प्रत्यय), उनका सन्निकृष्ट हेतु (प्रभव[१]) छन्द है।

सूत्र और शास्त्र में केवल इतना अन्तर है कि शास्त्र में प्रत्यय शब्द, न कि प्रभव-शब्द अन्त में पठित है।[२]

इन चार प्रकार के प्रसरण का क्या विशेष है ?

छन्द की चार अवस्थाएँ हैं :

शुआन चाङ् "जाओ, निर्वाणपुर में प्रवेश करो।"

६.६८ से तुलना कीजिए : प्रतिपन्निर्वाणप्रतिपादनात्।

१. यह व्याख्यान विवृति और संगति के अनुसार है—

व्याख्या : छन्दमूलका इति छन्दहेतुका इत्यर्थः—तृष्णापर्याय इह छन्दः—छन्द समुदया इति छन्दसमुत्थाना इत्यर्थः (समुत्थाना पठ्यते)—छन्दजातीया इति छन्दप्रत्यया इत्यर्थः (६२७,११)।

परमार्थ 'जातीय' का अनुवाद 'उत्पन्न' और प्रभव का 'भव' करते हैं।

शुआन चाङ् इनका अनुवाद क्रम से 'जाति' और 'उत्पाद्य' देते हैं। संयुत्त, ३.१०० मज्झिम, ३.१६, पंचुपादानक्खन्धा किं मूलका·· छन्दमूलका, एक दूसरी संगति में अंगुत्तर, ४.४०० : तण्हतमूलक। पटिसंभिदामग्ग, २.१११ : जरामरणं किंनिदानं किंसमुदयं किंजातिकं किंप्रभवम्।

२. व्याख्या : प्रभवशब्दः केवलं पश्चात् पठितव्यः। आभिधार्मिकैरिति वाक्याध्याहारः। सूत्रानुसरणं हि कर्तव्यमित्यभिप्रायः।—आभिधार्मिकों को इस सत्य के आकारों की सूची में प्रत्यय आकार के पीछे प्रभव आकार रखना चाहिए क्योंकि सूत्र का अनुसरण करना आवश्यक है (६२७, १३)।

१. अस्मीत्यभेदेन अथवा आत्मभावच्छन्द[1]; २. स्यामित्यभेदेन पुनर्भवच्छन्दः[2]; ३. इत्थं स्यामितिभेदेन पुनर्भवच्छन्दः[3]; ४. प्रतिसन्धिबन्धच्छन्द या

[३५] कर्माभिसंस्कारच्छन्द[4]—अर्थात् १. जब विचारता है कि "मैं हूँ" और प्रत्युत्पन्न आत्मभाव को प्रकारान्तर से विशिष्ट नहीं करता; अतीत या अनागत आत्मभाव का आलम्बन नहीं लेता तब आत्मभाव के लिए जो प्रार्थना उत्पन्न होती है वह पहला छन्द।

२. पुनर्भाव मात्र के लिए छन्द विना किसी विशेष रूप की प्रार्थना के। यह दूसरा छन्द है।

३. 'मैं इस प्रकार का होऊँ' ऐसी पुनर्भव की प्रार्थना तृतीय छन्द है।

४. प्रतिसन्धि के लिए प्रार्थना वह प्रार्थना जो कर्म का अभिसंस्कार करती है प्रथम छन्द दुःख का आदि कारण है जैसे बीज फल का आदि कारण है, इसे हेतु कहते हैं।[5]

दूसरा छन्द वह है जिससे पुनर्भव का समुदागम होता है, जैसे अंकुर काण्डादि का प्रसव वह समुदय परम्परा है जिससे फल का आगम होता है। इसलिए इसे समुदय कहते हैं, अर्थात् समुदागम-हेतु। तीसरा छन्द दुःख प्रकार का प्रत्यय है यथा क्षेत्र, उदक, खाद्यादिक, पाश्यादिक फल के वीर्य, विपाक और प्रभव को निश्चित करते हैं इसलिए इसे प्रत्यय कहते हैं[6]।

---

१. भाष्य और व्याख्या : समस्तेषु पंचसूपादानस्कंधेष्वस्मीत्यभेदेन [प्रकारान्तर-विशिष्टस्य प्रत्युत्पन्नस्य आत्मभाववस्तुनोऽनालम्बनतस्त्रैयध्विकात्मभावानालम्बनतो वा आत्मभावप्रार्थना] आत्मभावच्छन्दः प्रथमः (६२७ १७)।

२. स्यामित्यभेदेनेति [पुनर्भवमात्रप्रार्थना न विशेषरूपा प्रार्थना इति] द्वितीयः। (६२७, २०)।

३. इत्थं स्यामिति [इदं प्रकारः स्यामिति] भेदेन पुनर्भवच्छन्दस्तृतीयः। (६२७, २१)।

४. प्रतिसन्धिबन्धच्छन्दश्चतुर्थं इति कर्माभिसंस्कारच्छन्दो वा प्रतिसन्धिरेव बन्धः। प्रतिसन्धेरेव वा बन्धः प्रतिसन्धिबन्धः। तत्र छन्दः प्रार्थनेति चतुर्थः। कर्माभिसंस्कारच्छन्दो वा चतुर्थः—कर्मणो वाभिसंस्कारः। तत्रच्छन्दः। एवं चैवं च दानं दास्यामीति (६२७, २२)।

५. इसलिए इस प्रकार का छन्द पाँच उपादान स्कन्धों का मूल या हेतु कहलाता है।

६. तृतीयच्छन्द इत्थं स्यामिति तज्जातीयदुःखप्रत्यय इति। यत्प्रकारः पुनर्भवच्छन्दस्तत्प्रकारस्य दुःखस्य प्रत्ययः सम्भवति। तस्यविशेषरूपत्वाद्विशेषरूपं फलमुत्पद्यत इत्यभिप्रायः। कृत्स्नेन क्षेत्रोदकपाष्यादिकमिति। पाषिः (?) शुष्को गोमयः। आदिशब्देन वातातपादि-

चतुर्थ छन्द वह हेतु है जिससे फल का सम्भव-उत्पाद होता है; जैसे पुष्प फल का साक्षात् हेतु है। इसलिए इसे प्रभव[1] कहते हैं।

[३६] चतुर्थ छन्द साक्षात् हेतु (साक्षाद्धेतुः) है; पहले तीन परम्परा से हेतु हैं (पारम्पर्येण हेतवः)।

और (अथ च) सूत्र के अनुसार[2] तृष्णाविचरितों (तृष्णा के आचार) के दो पंचक-गण और दो चतुष्कगण हैं। यह क्रम से पूर्वोक्त चार छन्द हैं। पहले दो छन्दों के पाँच-पाँच आकार हैं, तृतीय और चतुर्थ छन्द चार-चार आकार के हैं।

ए. जब कोई विचारता है कि 'मैं हूँ' (अस्मि) तो सामान्य आत्मभावच्छन्द उत्पन्न होता है। यह आत्मभाव के लिए अभेदेन प्रार्थना है, यह छन्द पाँच प्रकार का है :— इत्थमस्मि, एवमस्मि, अन्यथास्मि, सदस्मि, असदस्मि—"मैं ऐसा हूँ, मैं वैसा ही हूँ, [जैसा पहले था], मैं अन्यथा हूँ, मैं सत् हूँ, मैं असत् हूँ।"

बी. जब कोई विचारता है कि "मैं हूँगा" (भविष्यामि) तब सामान्यपुनर्भवच्छन्द उत्पन्न होता है अर्थात् बिना किसी विशेष प्रार्थना के पुनर्भव मात्र छन्द उत्पन्न होता है, यह भी पाँच प्रकार का है, इत्थं भविष्यामि, एवं भविष्यामि, अन्यथा भविष्यामि, सद् भविष्यामि. असद् भविष्यामि : मैं ऐसा हूँगा; मैं वैसा ही हूँगा (जैसा पहले था)…

सी. चार प्रकार का विशेष पुनर्भवच्छन्द उत्पन्न होता है : स्याम्, इत्थं स्याम्, एवं

गृह्यते। ततोऽपि हि फलसंपदिति। वीर्यं शीतवीर्यता उष्णवीर्यतेति। विपाकः उष्णपरिणामता मधुरपरिणामतेति। प्रभावः सामर्थ्यविशेषः। तद्यथाऽम्लत्वे तुल्ये बीजपूरकरसः पित्तं जनयति। आमलकरसस्तु शमयतीति। खाद्य, फल या औषध के वीर्य, विपाक और प्रभाव पर सर्वदर्शनसंग्रह, १६,२२, कन्दली, १३०, सुश्रुत, १.१ और ४० देखिए (६२७, ३३)।

१. भाष्य-तत् एव तत्संभवात् फलस्येव पुष्पावसानम्—(६२८, ६)

व्याख्या : तत एव प्रतिसन्धिबन्धच्छन्दात् प्रतिसन्धिबन्धस्य पुनर्भव लक्षणस्य संभवादुत्पादात् ··यथा पुष्पावसानं फलस्य प्रभवस्तद्वत्।—

२. परमार्थः "तृष्णाविचरित सूत्र के अनुसार पाँच-पाँच के दो गण और चार-चार के दो गण हैं।" इसके अनन्तर जो कुछ है, पृष्ठ ३७, १.३ वह सब छोड़ दिया गया है। हमारा सूत्र अंगुत्तर, २.२१२ से बहुत मिलता-जुलता है। यह सूत्र तृष्णा विचरितों पर है, पाठ अनिश्चित है। विभंग, ३९२-४०० का पाठ निश्चित है किन्तु अर्थ कठिन है। (श्रीमती रोज़ डेविड्स ने कृपा करके सम्मोह विनोदनी और मनोरथपूरनी का पाठ मेरे पास भेजा है। अगले पृष्ठ की टिप्पणी देखिए।

हम सूची प्रस्तुत कर सकते हैं : "क्या मैं अतीत में था?······कोश, ३.२२ सी, मज्झिम, १.८, १.१११, विसुद्धिमग्ग, ५९९, मध्यमकवृत्ति, ५९३।

२. अनुवाद पृ० २८१ के अनुसार छन्द अनागत के प्रति होता है।

स्याम्, अन्यथा स्याम्, "मैं होऊँ, मैं ऐसा होऊँ, मैं वैसा ही होऊँ (जैसा पहले था), मैं अन्यथा होऊँ।"

डी. चार प्रकार का प्रतिबन्धच्छन्द उत्पन्न होता है : अपि नु स्याम्, अपीत्थंस्याम्, अप्येवं स्याम्, अप्यन्यथास्याम् : "यह अत्यन्त आवश्यक है कि मैं होऊँ, मैं ऐसा होऊँ, वैसा होऊँ (जैसा पहले था), मैं अन्यथा होऊँ[1]।" प्रथम छन्द दुःख का

[३७] आदि कारण होने से हेतु हैं। शेष की योजना पूर्ववत् होनी चाहिए।

३·१ निरोध, क्योंकि यह संसरण का उपच्छेद करता है।[2]

२. शान्त, क्योंकि यह सर्व दुःख का उपरम है। कहा है, "हे भिक्षु, सब संस्कार दुःख हैं, केवल निर्वाण सर्वथा शान्त है।"[3]

३. प्रणीत, क्योंकि इससे कोई अनुत्तर नहीं है।

४. निःसरण, क्योंकि विवर्तन नहीं है (अविवर्त्य)।

---

१. तृष्णाविचरितानां द्वौ पंचकौ गणौ द्वौ चतुष्कौ चत्वारश्छन्दा यथाक्रमं भवन्ति। प्रथमच्छन्दः पंचाकारः······। कथम्। अस्मीति भिक्षवः सत्यात्मदृष्टौ सत्याम् इत्थमस्मीति भवति। इदं प्रकारोऽस्मीतिभवति। तद्योगात् तृष्णाम् उत्पादयतीत्यर्थः। एवमस्मीति यथापूर्वमेव नान्यथेत्यर्थः। अन्यथाऽस्मीति अन्येन प्रकारेण वर्णबलप्रतिभानादिदर्शनात्। सदस्मीति भवति। विपर्ययादसदस्मीति। अयमभेदेन पंचधात्मभावच्छन्दः प्रथमः॥ भविष्यामीत्यस्य भवतीति शाश्वतरूपेण। न भविष्यामीत्युच्छेद-रूपेण॥ इत्थं भविष्यामीति विस्तरेण पूर्ववद् व्याख्यानमित्ययमभेदेन पंचधा पुनर्भवच्छन्दो द्वितीयः। स्यामिति अस्य भवति। (६२८, १०)।

इत्थं स्यामेवं स्यामन्यथा स्यामित्यस्य भवतीत्ययं भेदेन चतुर्धा पुनर्भवच्छन्दस्तृतीयः॥ अपि नु स्यामित्यस्य भवति। अपीत्थं स्यामप्येवं स्यामप्यन्यथा स्यामित्यस्य चतुर्धा प्रतिसन्धिबन्धच्छन्दश्चतुर्थः। 'सदस्मीति' और 'असदस्मीति' के स्थान में विभंग में १. असं स्मीति (=निच्चोऽस्मि) और २. सात स्मीति या सतस्मि (=उच्छिज्जिस्सामि न भविस्सामि) है। अब कथा कहती है कि "अत्थाति अस्। निच्चस्सेतमधिवचनम्।"

श्रीमती रीज़ डेविड्स की इस पर टिप्पणी है : अस्=अस=असन्=असन्तो= 'बुरा', जातक ४.४३५ : सतं वा असन् (द्वितीया का एकवचन)। "मैं बुरा हूँ, मैं अच्छा हूँ।"—मनोरथपूरणीः 'सत' का अर्थ 'हविति' (अनिच्च के अर्थ में) : (कोश ५, पृ० १६) में सत्काय का यही अर्थ मिलता है। विभंग को अर्थ कथा के अनुसार स्याम्="क्या मैं हूँगा?"

२. मूलं कदाचित् प्रवृत्युपच्छेदात् है।—प्रवृत्ति पर २.६ देखिए। कदाचित् वट्टूपच्छेद=वर्त्मोपच्छेद है। मैं समझता हूँ कि महावस्तु, २.२८५, ३.२०० का जो कोश २. अनुवाद पृ० २८५, टिप्पणी में उद्धृत है, देखना आवश्यक है।

३. संयुत्त, १७, १६।

४·१ मार्ग, क्योंकि यथार्थ मार्ग के सदृश है।

२. न्याय, क्योंकि सत्य है।[1]

३. प्रतिपद्, क्योंकि प्रतिनियत है : अर्थात् इसी मार्ग से आगमन होता है, दूसरे मार्ग से नहीं[2],

[३८] जैसा कहा है : "यह विशुद्धि का मार्ग अन्य मार्ग द्वारा विशुद्धि का प्रतिपादन नहीं होता।"

४. नैर्याणिक, क्योंकि अत्यन्त रूप से यह भवत्रय से विमुक्त करता है।

[चौथी व्याख्या][3]

१. इसके अतिरिक्त नित्य, सुख, आत्मीय और आत्म-दृष्टि चरित पुद्गलों की चिकित्सा के लिए अनित्य, दुःख, शून्य, अनात्मक आकार व्यवस्थित हुए हैं।[4]

२·१ हेतु आकार 'नास्ति हेतुः' इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है। (५·७ अनुवाद पृ० १८)।

२. समुदय आकार 'एको हेतुः ईश्वरः प्रधानं च' इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है (२·६४)। हेतु एक नहीं है किन्तु समुदय है (समुदयो हेतुः)।

३. प्रभव-आकार परिणाम दृष्टि का प्रतिपक्ष है। यह इस वाद का प्रतिपक्ष है कि आदि भव परिणत होता है, भव का आरम्भ होता है।[5]

४. प्रत्ययाकार इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है कि यह लोक बुद्धि पूर्वकृत है (बुद्धि पूर्वकृत दृष्टि) (४·१) उस-उस प्रत्यय वश यह-यह होता है। वस्तु अनेक प्रत्ययजनित हैं।[6]

---

१. कदाचित् 'यथाभूतवर्तनात्।'

२. प्रतिनियतत्वात् प्रतिपदिति। प्रतिनियता यत् पदम् प्रतिपत्। कथं पुनः प्रतिनियता। अनयैव तद्‌गमनात् (६२८, २५)।

३. यह दिखाने के लिए कि आकारों की संख्या १६ है, संघभद्र अपनी छोटी पुस्तिका में इस विवेचन का विचार करते हैं।

४. नित्यादिदृष्टिचरितानां पुद्गलानां प्रतिपक्षेण—व्याख्या : नित्यं सुखमात्मीयम् आत्मेति च दृष्टिश्चरितमेषां त इमे नित्यसुखात्मीयात्मदृष्टिचरिताः (६२८, २७)।

५. आदिभावोऽयं न तु पूर्वमवस्थिताः परिणमत इति। देखिए, ५.२६, अनुवाद पृ० ५४, टि० ३, ३.५० ए (६२९, १)।

६. नेदमीश्वरबुद्धिकृतं जगत्। किं तर्हि ? तत्तत्प्रतीतं तत्तद् भवतीति, वीप्सार्थो हि प्रति शब्दः। तस्माद् अनेकप्रत्ययजनितं जगदिति ज्ञापितं भवति (६२९, २)।

प्रतीत्य समुत्पाद के प्रत्यय के अर्थ पर, कोश, ३.२८ में विचार हुआ है।

३ १ निरोधाकार इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है कि "मोक्ष नहीं है।"

२. शान्ताकार इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है कि "मोक्ष दुःख है।"

३. प्रणीताकार इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है कि ध्यान और समापत्ति का सुख प्रणीत है (५.७, अनुवाद पृ० १८)।

[३६] ४. निःसरणाकार इस दृष्टि का प्रतिपक्ष है कि मोक्ष परिहाणिशील है, आत्यन्तिक नहीं है।

४. मार्ग, न्याय, प्रतिपद्, नैर्याणिक—यह आकार यथाक्रम इन दृष्टियों के प्रतिपक्ष हैं कि कोई मार्ग नहीं है, एक मिथ्यामार्ग मार्ग है। एक दूसरा मार्ग है, मार्ग-परिहाणि हो सकती है।

१३ बी 'आकार'' प्रज्ञा हैं।[1]

आकारों का स्वभाव प्रज्ञा—(प्रविचय) चैत्त का है (२.२४)। किन्तु हमारा कहना है कि यदि ऐसा है तो वह प्रज्ञा जो धर्मों का प्रविचय करती है आकारों से समन्वागत न होगी क्योंकि प्रज्ञा प्रज्ञा से संप्रयुक्त नहीं हो सकती। इसलिए सौत्रान्तिकों के समान यह कहना युक्त है कि "आकार" चित्त-चैत्तों द्वारा आलम्बन ग्रहण का प्रकार है।[2] क्या केवल प्रज्ञा आलम्बनों के विशेष (१.१४ सी) का ग्रहण करती है?

१३ बी-सी. जो सालम्ब है वह ग्रहण करता है, प्रज्ञा और सब अन्य धर्म जो "सालम्ब" हैं[3] ग्रहण करते हैं।

[४०] १३ डी. क्या उपलब्धि का आलम्बन वह सब है जो वर्तमान है? यत्किञ्चित् वर्तमान है वह "सालम्ब" धर्मों से गृहीत होता है। इसलिए प्रायः तीन बृहत् पक्ष हैं—

१. प्रज्ञा आकार, ग्राहक, गृह्य हैं;

२. अन्य चित्त-चैत्त जो प्रज्ञा से संप्रयुक्त हैं ग्राहक और गृह्य हैं;

---

१. आकार पर २.३४ बी-डी, अनुवाद पृ० १७६ टि० ५ देखिए।

२. एवं तु युक्तं स्यादिति सौत्रान्तिकमतम्। आलम्बनग्रहणप्रकार आकारः। (६२६, ६)।

यह व्याख्या सन्तोषप्रद है क्योंकि धर्मों का विनिश्चय करने वाली प्रज्ञा (२.२४) साकार हो सकती है अर्थात् आलम्बनों का एक विशेष प्रकार से (जैसे अनित्यतः आदि) ग्रहण कर सकती है। इसके अतिरिक्त यह व्याख्या 'आकार' शब्द की नैरुक्त विधि बताती है।

'आलम्बन' शब्द से 'आकार' और 'प्रकार' शब्द से 'कार' शब्द लेकर और शेष वर्णों का लोप कर (—'लम्बन ग्रहणप्र'—का लोप कर) 'आकार' रूप सिद्ध होता है।

३. सालम्बा इति। आलम्बेत्याकारान्तम् एतच्छन्दरूपं घञन्तं वा आलम्ब इति। सहालम्बया सहालम्बेन वा वर्तन्ते सालम्बाः सालम्बना इत्यर्थः (६२६, ६)।

३. अन्य सब धर्म—संस्कृत अथवा असंस्कृत—केवल गृह्य हैं।[1]

हमने १० ज्ञानों के आकारों का निरूपण किया है। अब हम उनका स्वभाव उनकी भूमि और उनका आश्रय (person), जहाँ उनका उत्पाद होता है, बतायेंगे '

त्रिधाद्यं कुशलान्यन्यान्याद्यं सर्वासु भूमिषु।
धर्माख्यं षट्सु नवसु त्वन्वयाख्यं तथैव षट् ।।१४।।

१४ ए. पहला तीन प्रकार का है। शेष कुशल हैं।[2]

पहला अर्थात् लोकसंवृतिज्ञान, क्योंकि कारिका में (७.२बी)[3] वह ज्ञान सबसे पहले पठित हैं, तीन प्रकार का है—कुशल, अकुशल, अव्याकृत।

शेष ९ ज्ञान केवल कुशल हैं।

१४ बी. प्रथम, सब भूमियों से प्राप्त[4] होता है।

सब भूमियों में, कामधातु से लेकर भवाग्र तक (नैव संज्ञानासंज्ञायतन)।

१४ सी. ६ में धर्माख्यज्ञान।[5]

धर्मज्ञान चार ध्यानों में या ४ ध्यानों से अनागम्य में या अनागम्य से और ध्यानान्तर में या ध्यानान्तर से प्राप्त होता है।

[४१] १४ सी-डी. ९ में अन्वयाख्य ज्ञान।[6]

पूर्वोक्त ६ भूमि में और इनके अतिरिक्त तीन आरूप्यों में अन्वय ज्ञान प्राप्त होता है।

'सालम्ब' धर्मों पर कोश, २.३४ बी, कथावस्तु. ९.३-७, विभंग, ४२८, धम्म संगणि ११८५, १५०८ देखिए।—

मध्यमक वृत्ति, ८४, आगम से उद्धृत करती है : सालम्बना धर्माः कतमे ? सर्वे चित्त-चैत्ताः।

१. **विभाषा, ३९,१०—तीन नय : १. प्रज्ञा आकार, ग्राहक, गृह्य है; प्रज्ञा संप्रयुक्त चित्त-चैत्त ग्राहक और गृह्य हैं। जो प्रज्ञा का सहम् है और जो चित्त विप्रयुक्त है वह गृह्य है। २. सब चित्त-चैत्त आकार, ग्राहक, गृह्य हैं; अन्य धर्मगृह्य हैं। ३. प्रत्येक आकार है, संप्रयुक्त धर्म आकार, ग्राहक और गृह्य हैं; विप्रयुक्त आकार और गृह्य हैं। (यहाँ आकार का अर्थ सर्वथा भिन्न है)।**

२. =**आद्यं [त्रिधान्यानि कुशलानि]।**

३. **शास्त्र में सूची के आदि में धर्मज्ञान पठित है।**

४. =**[आद्यं सर्वभूमिषु]।**

५. =**धर्माख्यं षट्सु (६२९, १५)।**

६. =**[नवसुत्व-त्वयाख्यम्]।**

१४ डी. इसी प्रकार ६ ज्ञान ।[1]

६ ज्ञान हैं—दुःख, समुदय, निरोध, मार्ग, क्षय, अनुत्पाद। जब उनका युगपत् विचार होता है तो वे ९ भूमियों में पाये जाते हैं। जब वे धर्म ज्ञान के भाग होते हैं तो वे ६ भूमियों में पाये जाते हैं; जब वे अन्वय ज्ञान के भाग होते हैं तो वे ९ भूमियों में पाये जाते हैं।

ध्यानेष्वन्यमनोज्ञानं कामरूपाश्रयं च तत्।
कामाश्रयं तु धर्माख्यमन्यत् त्रैधातुकाश्रयम् ॥१५॥

१५ ए. परचित्त ज्ञान चार ध्यानों में[2] पाया जाता है।

परचित्त ज्ञान केवल चार ध्यानों में, अन्यत्र नहीं, पाया जाता है।

१५ बी. इसकी भूमि काम और रूप का आश्रय है।

काम और रूप के सत्त्व परचित्त ज्ञान का सम्मुखीभाव करते हैं।

१५ सी. धर्मज्ञान कामाश्रय है।[3]

---

१. =[तथैवषट्]।

२. =[चतुर्ध्याने परमनोज्ञानम्]।

३. =[कामाश्रयं तु धर्माख्यम्]।

हम यह समझ सकते हैं कि आरूप्यभव में उपपन्न सत्त्व कामावचर दुःख समुदयादि को आलम्बन बनाने वाले धर्मज्ञान का "सम्मुखीभाव" नहीं कर सकते। किन्तु रूप धातु के सत्त्व इसको सन्मुख क्यों नहीं कर सकते? हमने देखा है कि (रूप के) ध्यानों में प्रवेश करके एक सत्त्व इस ज्ञान का सम्मुखीभाव करता है। (७·१४ सी) कुछ का कहना है कि "धर्मज्ञान का उद्देश्य कामधातु की विदूषणा है। किन्तु रूपधातु में उपपन्न सत्त्व ने वैराग्यभूमि (काम से विरक्त) में संचरण कर काम का परित्याग किया है (वैराग्यभूमि संचारात्), इसलिए धर्म ज्ञान की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। किन्तु कामोपपन्न सत्त्व जो 'काम से विरक्त' (वीतराग) है [और इस वैराग्यवश ध्यान में प्रविष्ट है] धर्मज्ञान का सम्मुखीभाव कर सकता है क्योंकि उसकी कामधातु की उपपत्ति सावशेष है (कामधातूपपत्तेः सावशेषत्वात्)"। आचार्य संघभद्र इस बात को कि धर्मज्ञान का सम्मुखीभाव केवल कामधातु के सत्त्व करते हैं प्रकारान्तर से समझते हैं: तत्समापत्तिव्युत्थानचित्तानां कामधातावेव सद्भावात्। अनुपरिवर्तकाश्रयाभावाद्वा। धर्मज्ञानानुपरिवर्तकस्य हि शीलस्य कामावचराण्येव भूतान्याश्रया दौःशील्यसमुत्थापकक्लेशप्राप्तिविबन्धकत्वात् प्रतिपक्षिकत्वात्। तानि च तत्र न सन्तीति धर्मज्ञानं कामधात्वाश्रयमेव: "क्योंकि कामधातु में ही [धर्मज्ञान का सम्मुखीभाव करने वाले] ध्यान के व्युत्थान चित्तों की सम्भावना है; अथवा, क्योंकि दो ऊर्ध्वभूमियों में उन भूतों का अभाव है जो धर्मज्ञानानुगतशील का आश्रय हो सकते हैं। यह शील दौःशील्य समुत्थापक क्लेशों का प्रतिपक्ष है। दौःशील्य केवल कामधातु में होता है; इसलिए प्रतिपक्षशील को आश्रय दे सकने वाले भूत केवल काम में पाये जाते हैं।

[४२] धर्मज्ञान का सम्मुखीभाव केवल कामधातु का सत्त्व कर सकता है; रूप या आरूप्य का सत्त्व नहीं कर सकता।

१५ डी. अन्य तीन धातुओं के आश्रय।[1]

अन्य ज्ञान क्या हैं। आठ ज्ञान, परचित्त ज्ञान और धर्मज्ञान का प्रतिषेध कर जो शेष रहते हैं।

हमने उन भूमियों का वर्णन किया है जिनसे ज्ञान का लाभ होता है और उस धातु का भी जिसके आश्रय ज्ञान का लाभ कर सकते हैं।

अब हम ज्ञान और चार स्मृत्युपस्थानों का सम्बन्ध बतायेंगे (६.१५)।

स्मृत्युपस्थानमेकं धीर्निरोधे परचित्तधीः।
त्रीणि चत्वारि शेषाणि धर्मधीगोचरो नव ॥१६॥

१६ ए. निरोध ज्ञान एक स्मृत्युपस्थान है।[2]
निरोध ज्ञान धर्मस्मृत्युपस्थान है।
१६ बी. परचित्त ज्ञान तीन हैं।

परचित्त ज्ञान जो परकीय चित्त को आलम्बन बनाता है आवश्यक रूप से वेदना, संज्ञा और संस्कार को आलम्बन बनाता है।

१६ सी. अन्य, चार।

[४३] निरोध ज्ञान और परचित्त ज्ञान को अलग कर शेष ८ ज्ञानों का स्वभाव चार स्मृत्युपस्थानों का है। [दुःख ज्ञान भी कभी काय को आलम्बन बनाता है ········ मार्गज्ञान का आलम्बन जब अनास्रव संवर[3] होता है तो वह काय स्मृत्युपस्थान होता है।]

विविध ज्ञान कितने ज्ञानों के आलम्बन होते हैं?
१६ डी. ९ ज्ञान धर्मज्ञान के आलम्बन हैं।[4]
अन्वय ज्ञान का प्रतिषेध कर।

नव मार्गान्वयधियोर्दुःख हेतु धियोर्द्वयं।
चतुर्णां दश नैकस्य योज्याधर्माः पुनर्दश ॥१७॥

---

१. =[अन्यात् धातुत्रयाश्रयम्]।

२. =[स्मृत्युपस्थानमेकं निरोधधीः परचित्तधीः। त्रीणि शेषाणि चत्वारि], (परमार्थ के शब्दों का क्रम)।

३. ४.१३ सी देखिए।

४. =[धर्मधीगोचरो नव॥ नव मार्गान्वयधियोर्दुःखहेतुधियोर्द्वयम्। चतुर्णां दश नैकस्य]।

१७ ए. ६ अन्वय और मार्गज्ञान के आलम्बन हैं ।

अन्वय ज्ञान के पक्ष से धर्मज्ञान का निरसन कर; मार्गज्ञान के पक्ष से लोकसंवृति ज्ञान का प्रतिषेध कर, क्योंकि मार्गज्ञान संवृतिज्ञान को आलम्बन नहीं बनाता ।

१७ बी. दुःख और समुदयज्ञान के दो आलम्बन हैं ।

लोकसंवृति-ज्ञान और परचित्त-ज्ञान का सास्रव भाग दुःख और समुदय ज्ञान के आलम्बन हैं ।

१७ सी. १०, चार के ।

लोकसंवृति, परचित्त, क्षय और अनुत्पादज्ञान के १० ज्ञान आलम्बन हैं ।

१७ सी. एक का कोई आलम्बन नहीं है ।

निरोध ज्ञान का कोई ज्ञान आलम्बन नहीं है । इसका एकमात्र आलम्बन प्रति-संख्या निरोध है ।

सब मिलाकर, कितने धर्म १० ज्ञानों के आलम्बन होते हैं ? कितने धर्म प्रत्येक ज्ञान के आलम्बन हैं ?[१]

[४४] १७ डी. उनके कुल आलम्बन १० धर्म हैं ।[२]
यह १० प्रकार के धर्म क्या हैं ?

त्रैधातुकामला धर्मा अकृताश्च द्विधा द्विधा ।
सांवृतं स्वकलापान्यद् एकं विद्यादनात्मतः ।।१८।।

१८ ए-बी. तीन धातुओं के धर्म, अमल धर्म, असंस्कृत धर्म, इनमें से प्रत्येक द्विविध ।[3]

संस्कृत धर्म ८ भागों में विभक्त हैं : कामधातु, रूपधातु, आरूप्यधातु, के धर्म तथा अनास्रव धर्म, चित्त-संप्रयुक्त-चित्तविप्रयुक्त भेद से इनमें से प्रत्येक द्विविध है। (२.२२)

असंस्कृत धर्म दो प्रकार का है : कुशल और अव्याकृत ।[४]

---

१. परमार्थ में यह भूमिका नहीं है ।

२. (शुआन चाङ्) के अनुसार—परमार्थमूल का अक्षरार्थ अनुवाद देते हैं । तिब्बती में इस प्रकार अनुवाद दिया है ":·······: १० धर्मों का सम्बन्ध बताना चाहिए" और वह भाष्य देते हैं : "ज्ञानों का आलम्बन निश्चित करने के लिए १० ज्ञानों का १० प्रकार के धर्मों से सम्बन्ध स्थापित करना आवश्यक है । यह दस प्रकार के धर्म क्या हैं ?······"

३. =[त्रैधातुकामला धर्मा असंस्कृता द्विधा द्विधा] ।

४. पहले भाग में प्रतिसंख्यानिरोध या निर्वाण, दूसरे भाग में अप्रतिसंख्यानिरोध और आकाश ।

इन १० प्रकार के धर्मों में से कौन १० ज्ञान के आलम्बन हैं ?

१. लोक संवृति ज्ञान १० धर्मों को आलम्बन बनाता है;

२. धर्म ज्ञान ५ को आलम्बन बनाता है : कामधातु के दो धर्म, चित्त संप्रयुक्त या चित्त विप्रयुक्त, २ अनास्रव धर्म (मार्ग), चित्त संप्रयुक्त या चित्त विप्रयुक्त[१] और कुशल असंस्कृत;

३. अन्वयज्ञान ७ को आलम्बन बनाता है : रूपधातु के दो, आरूप्य के दो, दो अनास्रव, यह ६ हुए और कुशल असंस्कृत;

४-५. दुःखज्ञान और समुदयज्ञान ६ को आलम्बन बनाते हैं। प्रत्येक धातु के दो-दो;

६. निरोध ज्ञान का आलम्बन केवल कुशल असंस्कृत है;

७. मार्ग ज्ञान का आलम्बन दो अनास्रव धर्म हैं;

८. परचित्त ज्ञान का आलम्बन तीन हैं : कामधातु, रूपधातु के चित्त संप्रयुक्त धर्म, अनास्रव;

९-१०. क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान के आलम्बन अव्याकृत असंस्कृत को छोड़कर ९ धर्म हैं।

[४५] क्या कोई एक ज्ञान से सब धर्मों को जान सकता है ?[२] नहीं, तथापि

१८ सी-डी. संवृति ज्ञान स्वस्कन्ध अतिरिक्त सब धर्मों को अनात्मवत् जानता है। जब संवृति ज्ञान का एक क्षण सब धर्मों को अनात्मवत् जानता है, अर्थात्

१. मार्ग धर्मज्ञान मार्ग को आलम्बन बनाता है। अनास्रव संवरशील, अर्थात् रूप (४.१३ सी) मार्ग के अन्तर्भूत है।

२. शुआन चाङ् : क्या कोई ऐसा ज्ञान क्षण है जो सब धर्मों को आलम्बन बनाता है ?—मूल में है : स्योदके। ज्ञानेन सर्वान् धर्मान् जानीयात्। न स्यात्। यह विभाषा, ९, ८ के शास्त्रार्थ का आरम्भ प्रतीत होता है। किओकुगा सेकी ने इसे उद्धृत किया है : "क्या कोई ऐसा ज्ञान है जो सब धर्मों को जानता है ? नहीं। जो ज्ञान जानता है कि सर्व धर्म अनात्म हैं उसके लिए क्या है जिसे यह नहीं जानता ?—यह स्वात्मा को नहीं जानता; यह उन धर्मों को नहीं जानता जो इससे संप्रयुक्त या इसके सहभू हैं। यह कह कर कि यह स्वात्मा को नहीं जानता हम यहाँ सांघिकों के मन का प्रतिषेध करते हैं; यह कह कर कि यह संप्रयुक्त धर्मों को नहीं जानता, हम धर्म गुप्तों के वाद का खण्डन करते हैं; यह कह कर कि यह सहभू धर्मों को नहीं जानता हम महीशासकों के मत का खण्डन करते हैं; यह कह कर कि ज्ञान जानता है हम वात्सीपुत्रियों के मत का खण्डन करते हैं [जो ज्ञान को पुद्गल का धर्म बताते हैं। (??)]"

कथावत्थु ५.९ से तुलना कीजिए, जहाँ अन्धक एक सुत्त का एक अंश उद्धृत करते हैं : सब्ब संसारे सुअनिच्चतो दिट्ठे सुतोम्पजाणं अनिच्चतो दिट्ठे होति।

१. स्वभाव को छोड़कर, संवृतिज्ञान के इस क्षण को छोड़कर, क्योंकि जो विषयी है वह स्वयं अपना विषय नहीं होता। (विषयी विषय भेदात्)।[1]

२. स्वसंप्रयुक्त चैत्त धर्मों को छोड़कर, क्योंकि उनका वही आलम्बन है जो इसका है (एकालम्बनत्वात्);

[४६] ३-४. सहभू[2] विप्रयुक्त धर्मों को छोड़कर, उदाहरण के लिए, उसके लक्षणों (२.४५ सी) को छोड़कर, क्योंकि वे अतिसन्निकृष्ट हैं।

यह सर्वज्ञानमय संवृतिज्ञान कामधातु में होता है (=तच्च काम धात्ववचरमेव) यह श्रुतमयी, चिन्तामयी प्रज्ञा है (६. अनुवाद पृ० १४४), भावनामयी प्रज्ञा (४. पृ० १२३ सी) नहीं है। इस तृतीय प्रकार की प्रज्ञा के संवृतिज्ञान का आलम्बन सदा एक व्यवच्छिन्न भूमि होती है। यदि अन्यथा होता तो सब भूमियों से युगपत् वैराग्य प्राप्त हो सकता।[3]

व्याख्या इस सूत्र को उद्धृत करती है: इहास्माकं भो गौतम उपस्थानशालायां संनिषण्णानां संनिपतितानामेवंरूपोऽन्तराकथासमुदाहारोऽभूत्। श्रमणो गौतमः किलैवमाह। नास्ति स कश्चिच्छ्रमणो वा ब्राह्मणो वा यः सकृत् सर्वं जानीयात् सर्वं पश्येदिति। तथ्यमिदं भो गौतम (६३०, ३)।

१. स्वात्मनि वृत्ति-निरोधात्। न हि सैवासिधारा तयैवच्छिद्यते। बोधिचर्यावतार ९.१८: न छिनत्ति यथात्मानमासिधारा तथा मनः।—यह भारतीय दर्शन का सामान्य उदाहरण है। सौत्रान्तिक सदा इस उदाहरण का प्रयोग करते हैं। 'विज्ञानवादी कहेंगे कि दीप अपने को प्रकाशित करता है।—यह एक विचित्र विरोध है कि वैभाषिक जो इस बात को स्वीकार नहीं करते कि चित्त अपने को जानता है वही स्वीकार करते हैं कि वेदना दूसरी वेदना से नहीं, किन्तु केवल सम्मुखीभाव होने से (४.४९) प्रतिसंवेदित होती है (६३१, ६)।

२. अतिसंनिकृष्टत्वादिति चक्षुषोऽञ्जनांजनशलाकादर्शनवत् (६३१, ११)।

३. शुआन चाङ् के अनुसार—परमार्थ में अन्तिम वाक्य ("यदि ऐसा न होता…") नहीं है, वह अनुवाद करते हैं: जब यह कामधातु का ज्ञान है तब यह श्रुतमयी और चिन्तामयी प्रज्ञा है; जब रूपधातु का ज्ञान है तब यह केवल श्रुतमयी प्रज्ञा है, भावनामयी नहीं क्योंकि इस अन्तिम प्रकार की प्रज्ञा का आलम्बन सदा एक व्यवच्छिन्न भूमि होती है।"

वसुबन्धु नञ्जियो, १२८७ (१०, १५) का अनुसरण करते हैं: "यह ज्ञान श्रुतमयी, चिन्तामयी प्रज्ञा है, भावनामयी नहीं, क्योंकि भावना प्रज्ञा का एक व्यवच्छिन्न आलम्बन होता है।"

व्याख्या: तस्य व्यवच्छिन्नभूम्यालम्बनत्वादिति। यस्माद् भावनामयं रूपावचरं संवृतिज्ञानं व्यवच्छिन्नामेव भूमिम् आलम्बते। कामधातुं वा प्रथमं वा ध्यानं यावद् भवाग्रं वा। किं कारणम्? आनन्तर्यविमुक्तिमार्गाणाम् अधरोत्तरभूम्यालम्बनत्वाद् यथोक्तं यथाक्रमं

[४७] कितने ज्ञानों से सत्त्वों के विविध प्रकार समन्वागत होते हैं ?

पृथग्जन में केवल लोकसंवृति ज्ञान होता है; जब वह [कामधातु से] 'विरक्त' (या वीतराग) होता है तब उसके परचित्त ज्ञान भी होता है।

एक ज्ञानान्वितोरागी प्रथमेऽनास्रव क्षणे ।
द्वितीये त्रिभिरूर्ध्वं तु चतुर्ष्वेकैक वृद्धिमान् ॥ ९॥

१९ ए-बी. आर्य के लिए

शान्ता शान्ताद्युदाराद्याकारा उत्तराधरगोचर इति वचनात् (६.४५)। यदि च तत् सर्वभूम्यालम्बनं स्यात् सर्वतो युगपद् वैराग्यं स्यात्। प्रयोगविशेषमार्गयोर्यथासंभवं काचिदेव भूमिरालम्बनम् कथम्। निर्वेधभागीय-प्रयोगमार्गसंगृहीतस्य हि यस्य कामधातुरालम्बनम्। न तस्येतरोधातू। यस्येतरौ धातू न तस्य कामधातुरालम्बनम्। अशुभाप्रमाणाभिभ्वायतनादिविदूषणविशेषमार्गसंगृहीतस्य कामधातुरेवालम्बनं नेतरौ धातू (६३१, १३)।

यशोमित्र के अनुसार वसुबन्धु का ठीक अभिप्राय (जिसका संघभद्र यहाँ अनुमोदन करते हैं) यह है कि केवल भावना प्रज्ञा द्वारा वैराग्य की प्राप्ति होती है। श्रुतमयी और चिन्तामयी प्रज्ञा जो कामधातु की हैं सब भूमियों के धर्मों को व्यर्थ ही आलम्बन बनाती हैं। यह वैराग्य उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त नहीं हैं। भावनामयी प्रज्ञा अधिक समर्थ है (४.१२३ सी)। इस सिद्धान्त से वसुबन्धु यह निष्कर्ष निकालते हैं कि धर्मों के अनात्मत्व का सर्वज्ञान कामधातु में ही होता है क्योंकि यदि यह ज्ञान रूपधातु का हो (भावनामय, ध्यान प्राप्त) तो यह सब भूमियों से वैराग्य उत्पन्न करेगा। संघभद्र इस युक्ति का विरोध करते हैं क्योंकि ध्यानभावित प्रज्ञा (सास्रवप्रज्ञा, क्योंकि यहाँ संवृतिज्ञान का विचार हो रहा है।) का उद्देश्य उस आश्रय में ऊर्ध्व भूमि से वैराग्य प्राप्त करना नहीं है जो उससे अपने को विमुक्त करना चाहता है (६.४९)।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि (शुआन चाङ् : १८ सी-डी) के दो पादों का तीन पादों में अनुवाद देते हैं। "संवृतिज्ञान स्वस्कन्धव्यतिरिक्त सब धर्मों को आलम्बन बनाता है। वह उनके अनात्म के आकार में ग्रहण करता है। शुआन चाङ् एक चौथा पाद भी जोड़ते हैं : ' यह श्रुतिमय और चिन्तामय है।

संघभद्र अपने दूसरे ग्रंथ में (नञ्जियो, १२६६) उन कारिकाओं को शोधते हैं जहाँ वसुबन्धु वैभाषिक नय से व्यावृत्त होते हैं।

शुआन चाङ् का संस्करण (२३.८, आगे ६९ बी) चतुर्थ पाद पर यह सूचना देता है "यह श्रुतिमय, चिन्तामय और भावनामय है।" संघभद्र (२३.६, आगे ५६ बी प्रथम ग्रंथ) कहते हैं "यह ज्ञान केवल कामधावचर और रूपधावचर का है, आरूप्यधातु का नहीं है,··· यह श्रुतमयी प्रज्ञा, चिन्तामयी, भावनामयी प्रज्ञा है : क्योंकि यह तीन प्रज्ञाएँ स्वभाव को और अपने स्कन्धों को वर्जित कर सब धर्मों को आलम्बन बना सकती हैं। यह सच है कि

यदि वह रागी है तो प्रथम अनास्रव क्षण में वह एक ज्ञान से समन्वागत होता है ।[1]

जो आर्य मार्ग में प्रवेश करने के पूर्व लौकिक मार्ग से विरक्त नहीं है वह दुःखे धर्मज्ञान क्षान्ति के उत्पाद क्षण में (६.२५ सी) केवल एक ज्ञानलोक संवृति ज्ञान—से समन्वागत होता है क्योंकि क्षान्ति (७.१) ज्ञान नहीं है ।

[४८] १९ सी. दूसरे क्षण में वह तीन ज्ञानों से समन्वागत होता है ।[2]

दुःखे धर्मज्ञान के क्षण में वह लोक संवृतिज्ञान, धर्मज्ञान और दुःख ज्ञान से अन्वित होता है ।

१९ सी-डी. इससे ऊर्ध्व चार क्षणों में प्रत्येक बार एक ज्ञान की वृद्धि होती है ।[3]

दूसरे क्षण से ऊर्ध्व चार क्षणों में; प्रत्येक बार एक ज्ञान की वृद्धि होती है; चतुर्थ क्षण में (दुःखेऽन्वयज्ञान) अन्वयज्ञान; छठे क्षण में (समुदये धर्मज्ञान), समुदय ज्ञान;

१०वें क्षण में (निरोधे धर्म ज्ञान) निरोध ज्ञान, १४वें क्षण में (मार्गे धर्म ज्ञान) मार्ग ज्ञान ।

फलतः मार्गे धर्म ज्ञान क्षण को जब योगी अनुप्राप्त होता है तब वह सात ज्ञानों से अन्वित होता है ।[4]

सौत्रान्तिक (=वसुबन्धु) कहते हैं कि यह ज्ञान भावनामयी प्रज्ञा नहीं है...। **किन्तु यह अयथार्थ है। हमारे नय के अनुसार** रूपावचर भावनामयी प्रज्ञा स्वकीय ऊर्ध्वभूमि को **आलम्बन बनाती है;** यह अधरभूमि के लिए वैराग्य और ऊर्ध्वभूमि के लिए सौमनस्य उत्पन्न **करती है। सौत्रान्तिक का तर्क** इसलिए निरर्थक है ।"

ऐसा प्रतीत होता है कि यशोमित्र के कथनानुसार हमको अशुभा (६.९), **अप्रमाण** (८.२९) **और अभिभ्वायतन** (८.३५ ए) **[इन गुणों]** की **'विदूषण'** को विशेष मार्ग (६.६५) **समझना चाहिए। यह सब 'विशेष" के "गुण" हैं** (५.१० ए, अनुवाद पृ० २७); **यह प्रयोग, आनन्तर्य और विमुक्त मार्ग से** अधिगत होते हैं और विशेष मार्ग में **दीर्घकाल तक रहते हैं,** (६.६५) **देखिए** ७.२५ **डी** ।

१. =**एकज्ञानान्वितो रागी प्रथमानास्रवक्षणे** (६३१, २५) ।

२. =**द्वितीये त्रिभिः** (६३१, २६) ।

३. =**[ऊर्ध्वं तु] चतुर्ध्व्** [**एकैकवर्धितै** ॥]

४. **शुआन चाङ् : जिन अवस्थाओं या क्षणों में ज्ञान की** संख्या में **वृद्धि नहीं होती (तीसरा, पाँचवाँ, सातवाँ, आठवाँ, नवां, ११ वां, १२ वाँ, १३वाँ, १५वाँ अभिसमय-क्षण), उनमें वह उस अन्तिम पूर्व क्षण के ज्ञानों का लाभ** करता है जिसमें वृद्धि होती है। **इसलिए भावना-मार्ग के आरम्भ में** (१६ **वाँ क्षण**) वह आवश्यक रूप से ७ ज्ञानों से **समन्वागत होता है** ।

जो आर्य अनास्रवमार्ग (दर्शन मार्ग) में प्रवेश करने के पूर्व लौकिक मार्ग से वैराग्य लाभ करता है उसमें परचित्त ज्ञान भी होता है।

समय विमुक्त अर्हत् (६.५० ५६) ९ ज्ञानों से (क्षयज्ञान को जोड़कर) समन्वागत होता है; असमय विमुक्त अर्हत् में इनके अतिरिक्त अनुत्पाद ज्ञान भी होता है (६.५०)।[1]

विविध अवस्थाओं में, दर्शन मार्ग, भावना मार्ग आदि में कुल कितने ज्ञानों की योगी भावना करता है (प्रतिलाभ करता है)?[2]

दर्शन मार्ग के १५ क्षणों के सम्बन्ध में (६.२८ सी-डी);

[४९] यथोत्पन्नानि भाव्यं ते क्षान्ति ज्ञानानि दर्शने।
अनागतानि तत्रैव सांवृतं चान्वयत्रये॥२०॥

२० ए-सी. दर्शन में अनागत क्षान्ति और ज्ञान जैसे उत्पन्न होते हैं, वैसे प्राप्त होते हैं।[3]

जो उत्पादित होते हैं या सम्मुखीभूत होते हैं वह भावित होते हैं या प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, जब योगी दुःखे धर्मज्ञान क्षान्ति का उत्पाद करता है तब वह तज्जातीय अनागत क्षान्ति की भावना करता है, वह तज्जातीय अनागत क्षान्ति की प्राप्ति करता है। (और इसी प्रकार मार्गेऽन्वयं ज्ञान क्षान्ति तक)।[4] इस क्षान्ति के चार आकार (अनित्यता, आदि) भी प्राप्त होते हैं जब कोई एक आकार उत्पादित होता है।

दर्शन मार्ग में ही क्यों ज्ञान की भावना या प्राप्ति, ज्ञान जातीय आकार की भावना या प्राप्ति और उत्पादित आकारों की भावना या प्राप्ति होती है[5]?

---

१. यह अन्तिम वाक्य युआन चाङ् का जोड़ा हुआ है।

२. व्याख्या: इह द्विविधा भावनाऽधिकृता प्रतिलम्भभावना निषेवणभावना च। प्रतिलम्भभावना प्राप्तितः। निषेवण-भावना सम्मुखीभावतः।—"भावना" का यहाँ अर्थ प्राप्ति और सम्मुखीभाव है। (देखिए ७.२७) (६३२, १४)।

३. यथोत्पन्नानि भाव्यन्ते क्षान्तिज्ञानानि दर्शने। [अनागतानि] यथोत्पन्नानि भाव्यन्ते=यानि यानि उत्पन्नानि तानि तानि भाव्यन्ते (भाव्यन्ते=भावनां गच्छन्ति)। 'भाव्यन्ते' का अर्थ है "प्राप्त होते हैं" क्योंकि अनागत क्षान्ति और ज्ञान का विचार हो रहा है (६३२, १६)।

४. उत्पन्न क्षान्ति या ज्ञान तज्जातीय अनागत क्षान्ति और ज्ञान के सभाग हेतु हैं (२.५२ ए)-वह हेतु जिसका फल उसके सदृश है।

५. कस्मात् सभागज्ञानभावना सभागाकारभावना च दर्शनमार्ग एव भवति न भावना-मार्गे। क्षान्ति का प्रश्न नहीं है क्योंकि भावना मार्ग में क्षान्तियों का अभाव होता है। (६३२, २२)।

जब दुःखे धर्म ज्ञान क्षान्ति उत्पन्न होती है तब गोत्र अर्थात् इस क्षान्ति का बीज या हेतु और उसके चार आकारों के गोत्र प्रतिलब्ध[1] होते हैं किन्तु दुःखे धर्म ज्ञान आदि के गोत्र प्रतिलब्ध नहीं होते। हम देखते हैं कि प्रत्येक सत्य के चार आकार सभाग हैं क्योंकि उनका आलम्बन समान है (तुल्यालम्बनता): जब उनमें से एक सम्मुखीभाव होता है तो दूसरों के गोत्र प्रतिलब्ध होते हैं।

[५०] २० सी-डी. दर्शन मार्ग में तीन अन्वय ज्ञान के क्षण में संवृति ज्ञान की भी प्राप्ति होती है[2]।

दुःख, समुदय और निरोध के तीन अन्वय ज्ञानों के क्षण में (४, ८ और १२वाँ दर्शन मार्ग का क्षण, ६·२६ बी) योगी अनागत संवृति ज्ञान का प्रतिलाभ करता है।

धर्मज्ञान क्षण में नहीं, क्योंकि धर्मज्ञान में प्रत्येक सत्य कृत्स्न रूप से परिज्ञात नहीं हुआ है किन्तु केवल कामावचर सत्य ही परिज्ञात हुआ है।

अतोऽभिसमयान्ताख्यं तदनुत्पत्ति धर्मकं।
स्वाधो भूमिनिरोधेऽन्त्यं स्वसत्याकारं यान्तिकं ॥२१॥

२१ ए. यह संवृतिज्ञान 'अभिसमयान्त' कहलाता है[3]।

व्याख्या : भावनामार्गे तु पुनः सर्वेषां ज्ञानानां सभागविसभागानां तदाकाराणां च सम्मुखीभावात् सर्वेषां हेतावलब्धा भवन्तीति। तद्विशिष्टा ज्ञानाकारा भावनां गच्छन्त्यनागताः (६३३, २)।

१. नीचे पृष्ठ ६४ देखिए।

२. =[तत्रैव] सांवृतं चान्वयत्रये ॥

[दर्शन मार्ग सर्वथा अनास्रव है और जो योगी उसकी भावना करता है वह मार्ग में संवृतिज्ञान का उत्पाद नहीं करता। किन्तु वह ४, ८, १२ क्षण में प्रत्येक सत्य के संवृति ज्ञान का प्रतिलाभ करता है : दर्शन मार्ग से व्युत्थान कर वह सत्यों के सांवृत (लौकिक) ज्ञान का प्रतिलाभ करता है और उसका सम्मुखीभाव कर सकता है, इसे पृष्ठ लब्ध कहते हैं, देखिए [७.२ बी]।

३. =[ततोऽभि समयान्ताख्यम्]।

[हम ऊपर देख चुके हैं (७.७, पृ० १० टि० ४) कि अभिसमय में उत्पन्न क्षान्तियाँ आभिसमयान्तिक कहलाती हैं।] महाव्युत्पत्ति, ५४, २० (विभाषा, टोकियो, २२.२, ४४ ए १४); अभिसमयान्तिकं कुशलमूलम् (इसका अनुवाद इस प्रकार है=अभिसमयमार्ग-अन्त-उद्भव, अभिसमय-अवतार-उद्भव) इसके अनन्तर (५४, २१) में है : क्षय ज्ञानलाभिकं कुशलमूलम्=कुशलमूल (अथवा गुण) जो क्षय ज्ञान क्षण में (७.२६ सी) प्राप्त होते हैं; और २४५, ४८६।

यह अभिसमयान्तिक ज्ञान कहलाता है क्योंकि यह एक-एक सत्य के अभिसमय के अन्त में भावना को प्राप्त (=प्रतिलब्ध) होता है।

योगी मार्गेऽन्वय ज्ञान क्षण में (अभिसमय का १६वाँ क्षण, भावना मार्ग का प्रथम क्षण) प्रतिलाभ क्यों नहीं करता ?

ए. क्योंकि लौकिक मार्ग द्वारा पहले मार्ग, न्याय आदि आकारों से (पृ० ३२) मार्ग अभिसमित नहीं हुआ है[1]।

[५१] बी. क्योंकि कृत्स्न मार्ग की भावना शक्य नहीं है। दुःख, समुदय, निरोध यथाक्रम कृत्स्न रूप से परिज्ञात, प्रहीण, साक्षात्कृत हो सकते हैं किन्तु कृत्स्न मार्ग की भावना (भावित=सम्मुखीकृत) नहीं हो सकती।--निस्सन्देह दर्शनमार्ग के योगी के लिए समुदय और निरोध सत्य के अभिसमय के अन्त में यह नहीं कहा जा सकता कि उसका समुदय सर्वथा प्रहीण हो गया है और निरोध का पूर्ण साक्षात्कार हुआ है[2] : किन्तु एक समय आयेगा जब प्रहाण और निरोध परिपूर्ण होंगे। किन्तु मार्ग के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है क्योंकि मार्ग के बहुगोत्र हैं : श्रावक गोत्र, प्रत्येक बुद्धगोत्र, बुद्ध गोत्र। कुछ का कहना है कि ऐसा इसलिए है क्योंकि संवृति ज्ञान दर्शनमार्ग सहगत होता है।[3] किन्तु "अभिसमय" का १६वाँ क्षण (मार्गेऽन्वय ज्ञान)भावना मार्ग में संगृहीत है।[4] इसलिए १६वें क्षण में अभिसमयान्तिक की प्राप्ति नहीं होती। हमारा कहना है कि यह तर्क कुछ सिद्ध नहीं करता क्योंकि हम यह नहीं मान सकते कि यह सिद्ध हो गया है कि संवृति ज्ञान भावना मार्ग का परिवार नहीं है[5]।

२१ बी. अनुत्पत्ति इसका धर्म नहीं है।[6]

किसी क्षण में उसके उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं है।

---

१. इसके विरुद्ध संसार में प्रत्येक सत्व लौकिक मार्ग से दुःख, समुदय और निरोध का अभिसमय प्राप्त करता है (व्याख्या)।

२. वास्तव में निरोध और मार्ग दर्शन से तथा भावनामार्ग से समुदय का प्रहाण करना चाहिए। किन्तु दुःख दर्शन से सर्व त्रैधातुक दुःख परिज्ञात होता है।—किन्तु "समुदय सत्य दर्शन से प्रहातव्य समुदय पहले ही प्रहीण होता है" (परमार्थ का अनुवाद)।

३. दर्शनमार्गपरिवारत्वात् (६३३, २१)।

४. वैभाषिकों का मत है कि १६वाँ क्षण भावनामार्ग में संगृहीत है (६.२८ सी) : अन्य निकाय उसे दर्शन मार्ग में संगृहीत करते हैं।

५. साध्यत्वादज्ञापकम्। वयं हि भावनामार्गपरिवारोऽपि तदिति ब्रूमः। (व्याख्या) (६३३, २४)।

६. =तदनुत्पत्ति धर्मकम् (६३४, ३)।

यह ज्ञान न उस समय उत्पन्न होता है जब योगी ध्यान में प्रविष्ट होता है और न उस समय जब वह ध्यान से व्युत्थान करता है (=सत्य दर्शन)। एक ओर यह ध्यान के प्रतिकूल है (ऊपर पृ० ४६ देखिए): दूसरी ओर ध्यानव्युत्थानचित्त बहुत स्थूल होता है।[1]

[५२] यदि ऐसा है तो यह कैसे कह सकते हैं कि संवृतिज्ञान की प्राप्ति होती है, संवृतिज्ञानभावित होता है? सर्वास्तिवादी उत्तर देता है: पहले यह लब्ध नहीं था अब इसका प्रतिलाभ हुआ है। इसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है जब इसका उत्पाद नहीं होता? सर्वास्तिवादी उत्तर में कहता है कि "इसे लब्ध इसलिए कहते हैं क्योंकि इसकी प्राप्ति होती है। (इसलिए नहीं कि इसका उत्पाद होता है।)

"यह लब्ध है क्योंकि लब्ध है" कहने का यह ढंग विचित्र है। इसलिए आप यह नहीं बताते कि संवृति ज्ञान कैसे 'भावित' होता है। इसे हमें प्राचीन आचार्यों (अर्थात् सौत्रान्तिक) की तरह समझना चाहिए।

इन आचार्यों के अनुसार आर्यमार्ग (=दर्शनमार्ग) के सामर्थ्य से संवृतिज्ञान की भावना या प्राप्ति होती है। आर्यमार्ग के ध्यान से जब योगी व्युत्थान करता है तब सत्यों को आलम्बन बनाने वाले एक संवृतिज्ञान का सम्मुखीभाव होता है। यह संवृति ज्ञान आर्यमार्ग की प्राप्ति के पूर्व के लौकिक से विशिष्टतर होता है।

जब हम कहते हैं कि योगी दर्शनमार्ग की अवस्था में इस संवृतिज्ञान की प्राप्ति करता है तो इससे हमारा अभिप्राय एक आश्रयलाभ का होता है जो इस संवृतिज्ञान को सम्मुखीभाव करने की सामर्थ्य रखता है[2]। जैसे सुवर्ण की खानि का पाना सुवर्ण का पाना कहलाता है।[3]

वैभाषिक इस दृष्टि को नहीं स्वीकार करते। उनका मत है कि जो संवृति ज्ञान अभिसमयान्तिक कहलाता है वह अनुत्पत्तिधर्मक है।

२१ सी. भूमि का एक अधोभूमि का।[4]

---

१. **शुआन चाङ् में यह परिच्छेद नहीं है।—व्याख्या में एक दूसरा अर्थ दिया है: दर्शनमार्गलभ्यं तत्तस्य कथं भावनामार्गे सम्मुखीभावो भविष्यति। दर्शनमार्गे चोत्पत्त्यनवकाशो-ऽस्यास्ति इति तदनुत्पत्तिधर्मकमिति वर्णयन्ति [वैभाषिकाः]** (६३४, १)।

२. **तत्सम्मुखीभावसमर्थाश्रयलाभ—आश्रय पर देखिए** ३.४१, १ पृ० ३७, २ पृ० २८४, ४ पृ० ६२, ६४, १५२, ५ पृ० ८। (६३३, २८, ६३३, ३०)।

३. **गोत्रे हि लब्धे लब्धं गौत्रिकम्।—व्याख्या: गोत्रम् तदुत्पादने समर्थो हेतुः। तत्रभवं गौत्रिकं संवृतिज्ञानम्। जिस अर्थ में 'गोत्र' यहाँ प्रयुक्त हुआ है (सभाग हेतु) उसके लिए देखिए** १ पृ० ३७, ७ पृ० ४६।

४. **[स्वाधोभूमि]—विभाषा**, ४०, २।

जब किसी भूमि के दर्शन मार्ग का सम्मुखीभाव होता है तो योगी इस भूमि के या [५३] अधोभूमि के या अधोभूमि के अनागत संवृति ज्ञान की प्राप्ति करता है, ते्‌ यदि वह अनागम्य भूमिक हो दर्शनमार्ग का सम्मुखीभाव करता है तो वह एकभूमि ागम्य) के अनागत दर्शनमार्ग की प्राप्ति करता है और दो भूमियों (अनागम्य और धातु) के अनागत संवृति ज्ञान की प्राप्ति करता है। इसी प्रकार चतुर्थ ध्यान भूमिक : यदि वह चतुर्थ ध्यान भूमिक हो दर्शनमार्ग का सम्मुखीभाव करता है तो वह ६ ियों (अनागम्य, ध्यानान्तर, ४ ध्यान) के अनागत दर्शनमार्ग की प्राप्ति करता है और मियों (पूर्वोक्त ६ और कामधातु) के अनावृत संवृति ज्ञान की प्राप्ति करता है।

२१ सी. निरोध में, अन्तिम।[1]

यदि दुःख और समुदय के अभिसमित होने पर (अर्थात् दुःखेऽन्वयज्ञान और समु-न्वय ज्ञान के क्षण में) संवृति ज्ञान की भावना होती है तो वह संवृति ज्ञान स्वभाववश ्युपस्थान हैं। (६·१४)।

यदि निरोध के अभिसमित होने पर अर्थात् निरोधेऽन्वय ज्ञान के क्षण में इसकी ना होती है तो यह केवल अन्तिम स्मृत्युपस्थान है अर्थात् धर्मस्मृत्युपस्थान है।

२१ डी. यह अपने सत्य के आकार ग्रहण करता है।[2]

जब किसी सत्य के अभिसमय के अन्त में (तत्सत्याभिसमयान्ते) संवृतिज्ञान की ना होती है तो संवृति ज्ञान उस सत्य के आकारों को ग्रहण करता है (तत्सत्याकारमेव) उस सत्य को आलम्बन बनाता है (आलम्बनमस्य तदेव)।

२१ डी. यह प्रयत्नलभ्य है।[3]

दर्शन मार्ग के सामर्थ्य से प्राप्त होने के कारण यह केवल प्रायोगिक (प्रयोगलाभिक, ोगिक) है, उपपत्ति लभ्य नहीं है, वैराग्य में उत्पन्न नहीं होता। 'ज्ञान' ऐसा इसलिए [५४] कहलाते हैं क्योंकि ज्ञान यहाँ प्रधानभूत है। यदि उनके परिवार का विचार ा जाय तो कामावचर में चार स्कन्ध होते हैं और रूपधातु में (ध्यानसंवर लक्षण रूप १३ सी) को शामिल कर) पाँच स्कन्ध होते हैं। (शुआन चाङ्, २६, आगे १६ ए ८)[4]
ना मार्ग की विविध अवस्थाओं में कितने ज्ञानों की भावना की जाती है?

---

१. =निरोधेऽन्त्यम्।

२. =स्वसत्याकृति।

३. =[यत्नजम्॥]

४. कारिका २२ से कारिका २६ सी तक (आगे १६ ए ८-१६ बी १०)।

शुआन चाङ् मूल (कारिका और भाष्य) का अनुसरण नहीं करते (परमार्थ अनुवाद यथार्थ है), इसलिए हमारा अनुवाद (पृ० ५४, १·४ से पृ० ६१, १·४ तक) ार्थ के आधार पर है।

षोडशे षट् सरागस्य वीतरागस्य सप्त तु ।
सरागभावनामार्गे तदूर्ध्वं सप्तभावना ।।२२।।

२२ ए. १६वें में, रागी सत्त्व ६ की ।[1]

७·२० ए. के अनुसार "भाव्यन्ते" यहाँ जोड़ना चाहिए ।

जो योगी कामधातु से विरक्त नहीं है उसके लिए १६वें क्षण में (मार्गेन्वय ज्ञान) दो प्रत्युत्पन्न[2] ज्ञानों की 'भावना' (प्राप्ति और सम्मुखीभाव) होती है, ६ अनागत ज्ञानों की, अर्थात् धर्मज्ञान, अन्वयज्ञान, चार सत्यज्ञान[3] की "भावना" (प्राप्ति) होती है ।

२२ बी. वीतराग से, सात ।[4]

जो योगी कामधातु से विरक्त है वह जिस क्षण में मार्गेऽन्वयज्ञान को अनुप्राप्त होता है उस क्षण में सात ज्ञानों की भावना होती है—पूर्वोक्त ६ और ७वाँ परचित्त-ज्ञान ।

२२ सी-डी. तदूर्ध्व, रागसंप्रयुक्त भावना मार्ग में सात की भावना ।[5]

[५५] १६वें क्षण से ऊर्ध्व अर्थात् भावना मार्ग के अवशिष्ट भाग में, जब तक विराग की प्राप्ति नहीं होती[6]—प्रयोग मार्ग, आनन्तर्य मार्ग, विमुक्ति मार्ग, विशेष मार्ग में—७ ज्ञानों की भावना अर्थात् धर्मज्ञान; अन्वयज्ञान, ४ सत्यों के ज्ञान, लोक संवृति ज्ञान की भावना होती है ।

यदि योगी लौकिक[7] मार्ग की भावना करता है तो प्रत्युत्पन्न संवृति ज्ञान भावित

परमार्थ का ग्रंथ, टोकियो, २३.२, आगे २१ ए-२१ बी ४ ।

१. =[**षोडशे षट् सरागेण**] ।

२. **द्वे ज्ञाने प्रत्युत्पन्ने** [**भाव्यन्ते**] **अर्थात् अन्वयज्ञान और मार्गज्ञान क्योंकि मार्गेऽन्वय-ज्ञान स्वभाववश यही दो ज्ञान हैं ।**

३. **सवृतिज्ञान नहीं क्योंकि इसका लाभ पहले हो चुका है, (लब्धपूर्वत्वात्) देखिए ७.२७ परचित्त ज्ञान नहीं क्योंकि योगी वीतराग नहीं है ।**

४. =**वीतरागेण सप्त तु ।**

५. =**सरागभावनामार्गे तदूर्ध्वं सप्तभावना** (६३६, ३ ॥

६. **इसलिए भावना मार्ग के आठ प्रकार के चार मार्गों में जहाँ कामधातु के पहले ८ क्लेश प्रहीण होते हैं और जब तक ९वाँ प्रकार प्रहीण नहीं होता ।**

इस चतुर्विधा मार्ग पर देखिए ५.६१, ६.६५ बी (४६ डी, ६१ डी) ७.१८ सी, २५ डी ।

७. **अर्थात् शान्ताद्युदाराद्याकारो भावनामार्गः देखिए ६.४९ (६३४, ३३) ।**

ा है। यदि वह लोकोत्तर मार्ग की भावना करता है तो प्रत्युत्पन्न चार धर्म ज्ञानों में
क की भावना होती है। शेष ६ अनागत ज्ञान भावित होते हैं।

सप्तभूमिजयाभिज्ञाऽकोप्याप्ताकीर्णभाविते।
आनन्तर्य पथेषूर्ध्वमुक्ति मार्गाष्टकेऽपि च ॥२३॥

२३ ए-सी. आनन्तर्य पथों में जहाँ सप्तभूमिजय, अभिज्ञाप्राप्ति, अकोप्यप्राप्ति
: आकीर्ण भावना है।[1]

यहाँ पूर्वोक्त के अनुसार "सात ज्ञानों की भावना" पठित होना चाहिए।

आनन्तर्य पथों में (क्लेश और आवरणों के प्रहाण मार्ग) पूर्वोक्त सात ज्ञान की
ना होती है। इन आनन्तर्य पथों में

१. सप्त भूमि जय है अर्थात् ४ ध्यान और तीन आरूप्य से विराग : जब योगी
राग होता है तो इन भूमियों पर विजय प्राप्त होती है;

२. ६ठाँ को छोड़कर ५ अभिज्ञाओं की प्राप्ति, (७·४२);

३. अकोप्यता में प्रवेश (६·५७, ६० सी, पृ० २५४);

४. शैक्ष्य की आकीर्ण भावना (६·४२)।

यदि योगी लौकिक मार्ग[2] से इन पथों की भावना करता है तो वह प्रत्युत्पन्न
त ज्ञान भावित करता है; यदि वह लोकोत्तर मार्ग का अनुसरण करता है तो वह चार
त्पन्न अन्वय ज्ञानों में से किसी एक और २ धर्मज्ञानों में से किसी एक (निरोध और
) को भावित करता है।

अकोप्यता प्रतिविध में संवृति ज्ञान भावित नहीं होता क्योंकि संवृति ज्ञान भवाग्र का

[५६] प्रतिपक्ष नहीं है।[3] यहाँ क्षयज्ञान सप्तम ज्ञान है।[4]

२३ सी-डी. ऊर्ध्व ८ विमुक्ति मार्गों में भी।[5]

---

१. =सप्तभूमिजयाभिज्ञाकोप्याप्त्याकीर्णभाविते। आनन्तर्यपथेषु (६३६, ५)।

२. देखिए ६.६१ बी।

**३ सप्तभूमिवैराग्ये लोकोत्तरे विभाव्यमाने संवृतिज्ञानं भाव्यते। संवृतिज्ञानमपि हि
। क्लेश प्रकारस्य प्रतिपक्षो भवति न केवलं लोकोत्तरमिति संवृतिज्ञानमपि तत्र भाव्यते
ातीयम्। अकोप्य प्रतिवेधे तु न तथा प्रतिपक्षभूतं संवृतिज्ञानम् अस्त्यतोऽत्र न भाव्यते।
३५, ६)।**

**४. तत्र क्षयज्ञानं सप्तममिति। आनन्तर्यमार्गस्थितत्वात् क्षयज्ञानं तत्र भाव्यते।
त्पादज्ञानम्। न ह्यानन्तर्यमार्गे स्थितोऽकोप्यधर्मा भवति। अकोप्यधर्म (ण) श्चानुत्पादज्ञानं
व्यत इति (६३५, १०)।**

५. =[ऊर्ध्वमुक्तिमार्गेषु चाष्टसु]॥

सप्तभूमि वैराग्य से ऊर्ध्व भवाग्र से वियुक्त होने के पहले ८ मार्गों में, योगी ७ अनागत ज्ञान की भावना करता है। यह ७ ज्ञान इस प्रकार हैं—धर्मज्ञान, अन्वयज्ञान, चार सत्यों के ज्ञान, परचित्त ज्ञान[१], वह संवृति ज्ञान भावित नहीं करता, क्योंकि यह ज्ञान भवाग्र का प्रतिपक्ष नहीं है।

वह चार प्रत्युपन्न अन्वयज्ञानों में से एक या दो धर्मज्ञानों में से (निरोध और मार्ग) एक की भावना करता है।

शैक्षोत्तापनमुक्ते वा षट् सप्त ज्ञान भावना।
आनन्तर्य पथे षण्णां भवाग्र विजये तथा ।।२४।।

२४ ए-बी. शैक्ष इन्द्रिय संचार के विमुक्ति मार्ग में ६ या ७ ज्ञान की भावना करता है।

इन्द्रिय संचार (६.६० सी) के विमुक्ति मार्ग (तृतीय प्रकार) में शैक्ष (अशैक्ष के प्रतिपक्ष में जो अकोप्य प्रतिवेध में प्रवेश करता है) ६ ज्ञानों की भावना करता है जब वह वीतराग नहीं होता (वीतराग : जब वह अनागामिन् नहीं होता)। जब वह वीतराग होता है तब वह ७ ज्ञानों की भावना (७वाँ ज्ञान परचित्त ज्ञान होता है) करता है।

[५७] अन्य आचार्य कहते हैं कि संवृति ज्ञान सराग और वीतराग दोनों में भावित होता है।[२]

प्रयोग मार्ग (प्रयोग मार्ग प्रथम अवस्था) में दोनों इस ज्ञान की भावना करते हैं।

२४ सी. आनन्तर्य मार्ग में वह ६ ज्ञानों की भावना करता है।[३] इन्द्रिय संचार के आनन्तर्य मार्ग (द्वितीय अवस्था) में वीतराग या सराग पूर्वोक्त ६ ज्ञानों की भावना करता है।[४] वह संवृति-ज्ञान की भावना नहीं करता क्योंकि इन्द्रिय संचार का दर्शन मार्ग

---

१. परचित्तज्ञानं कथं भाव्यते। आनन्तर्यमार्गे प्रतिषिद्धं परचित्तज्ञानं न विमुक्तिमार्गे। अत एक प्रकारे प्रहीणे यावदष्टप्रकारे प्रहीणे पूर्वपरचित्तज्ञानविशिष्टं परचित्तज्ञानं भाव्यते यत् स एवंविध आर्यपुद्गलः ततो मार्गाद् व्युत्थितः सम्मुखीकुर्यात्। संतानविशेषाद्धि परचित्त-ज्ञानविशेष इष्यते (७·५ सी) (६३५, १४)।

२. सब इस बात में सहमत हैं कि संवृतिज्ञान इन्द्रिय संचार के आनन्तर्य मार्गों में (७.२४ सी) भावित नहीं होता (६३५, २१)।

विमुक्तिमार्गे किमर्थं विवादः। दर्शनमार्गसादृश्यात् तत्र तदभिसमयान्तिकवद् भाव्यत इत्येके। न चाभिसमयोऽस्ति दर्शनमार्ग सादृश्यं वेत्यपर इत्येवं विवादः।

३. =[षड् आनन्तर्य मार्गेषु]।

४. धर्म, अन्वय, चार सत्य।

से सादृश्य है।[1] वह परचित्त ज्ञान की भावना नहीं करता क्योंकि यह ज्ञान सर्व आनन्तर्य मार्ग से प्रतिषिद्ध है : वस्तुतः यह ज्ञान क्लेशों का प्रतिपक्ष नहीं है।

२४ डी. तथैव, भवाग्र-जय में

भवाग्र-वैराग्य के आनन्तर्य मार्गों में शैक्ष ६ ज्ञानों की भावना करता है।

नवानां तु क्षयज्ञानेऽकोप्यस्य दश भावना।
तत्संचारेऽन्त्यमुक्तौ च प्रोक्ता शेषेऽष्टभावना॥२५॥

२५ ए. क्षयज्ञान के क्षण में, ९ ज्ञान।

भवाग्र-वैराग्य का ९वाँ विमुक्ति मार्ग क्षयज्ञान कहलाता है। (६.४४ डी) [प्रथम ८ का परिप्रश्न था ७.२३ सी-डी.]।

योगी तब अनुत्पाद ज्ञान को छोड़कर ९ ज्ञानों की भावना करता है।

२५ बी. अकोप्य १० ज्ञानों की भावना करता है।

[५८] जो आर्य प्रथम से ही अकोप्य है (६.५७ सी) वह क्षय-ज्ञान के उत्पाद-क्षण में १० ज्ञानों की भावना करता है क्योंकि इस क्षण में वह अनुत्पाद ज्ञान का लाभ करता है (६.५० ए)

२५ सी. जो अकोप्यता में संचार करता है वह भी अन्तिम विमुक्ति में १० ज्ञान।[2]

जो योगी इन्द्रिय संचार से अकोप्यता को प्राप्त करता है वह भी इस परिपूर्णता के अन्तिम मार्ग में (९ वें विमुक्ति मार्ग में) (६.६० सी) १० ज्ञानों की भावना करता है।

२५. डी. जो शेष रह गये हैं, उनमें अष्ट ज्ञान की भावना।[3]

उक्त शेष कौन हैं ?

१. काम वैराग्य का नवाँ विमुक्ति मार्ग (२२ सी-डी की व्याख्या में प्रतिषिद्ध);

२. सप्तभूमि वैराग्य, ५ अभिज्ञा, शैक्ष की व्यवकीर्ण भावना के[4] विमुक्ति मार्ग (२३ ए-सी की व्याख्याओं में प्रतिषिद्ध);

३. इन्द्रिय संचार के प्रथम ८ विमुक्त मार्ग जो अकोप्यता में संचरण करते हैं (२५ सी की व्याख्याओं में प्रतिषिद्ध);

---

१. **किमत्र दर्शन मार्गेण सादृश्यम्। फलप्राप्तिः। यथा दर्शनमार्गेण स्रोतआपत्तिफलं वा सकृदागाम्यनागामिफलं वा प्राप्यते एवमनेनाप्यानन्तर्यमार्गेण शैक्षस्य शैक्षेन्द्रियोत्तापनायां तीक्ष्णेन्द्रियसंगृहीतानि संस्कृतानि स्रोतआपत्तिफलादीनि प्राप्यन्ते**······(६३५, २६)।

२. **व्याख्या भाष्य को उद्धृत करती है : तथा योऽकोप्यतां संचरति तस्याप्यन्त्ये विमुक्तिमार्गे दशानां भावना** (६३६, ७)।

३. **=प्रोक्तशेषेऽष्ट भावना॥** (६३६, ११)

४. **सप्तभूमिवैराग्य-अभिज्ञा-व्यवकीर्णभावितेषु (६३६, ४)।**

४. वीतराग (या अनागामिन्) के प्रयोग और विशेष मार्ग।

इन सब मार्गों में क्षयज्ञान और अनुत्पाद ज्ञान को छोड़कर आठ अनागत ज्ञानों की भावना होती है।

शैक्ष का ऐसा ही है।

अशैक्ष के ५ अभिज्ञाओं और व्यवकीर्ण भावना के प्रयोग मार्ग, विमुक्त मार्ग और विशेष मार्गों में (अनुत्पाद ज्ञान को छोड़कर) ९ ज्ञानों की भावना होती है यदि अशैक्ष

[५९] समय विमुक्त हैं, या १० ज्ञानों की, यदि अशैक्ष असमय विमुक्त है।

इनके (५ अभिज्ञा और व्यवकीर्ण भावना के) आनन्तर्य मार्गों में परचित्त ज्ञान को छोड़कर ८ या ९ ज्ञानों की भावना होती है।

दो अव्याकृत अभिज्ञाओं के (दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र) विमुक्ति मार्ग में यह विमुक्ति मार्ग भी अव्याकृत है—अनागत ज्ञान की भावना कभी नहीं होती।[1]

कामधातु वैराग्य और ध्यानत्रय वैराग्य[2] के ९वें विमुक्ति मार्ग में, प्रयोग मार्ग में, तीन अभिज्ञाओं के विमुक्ति मार्ग में, गुण, अप्रमाण, विमोक्ष आदि[3] के सम्मुखीभाव में—इन सब मार्गों की भावना ध्यान में (सामन्तकों में नहीं)[4] होती है—पृथग्जन अनागत संवृतिज्ञान और परचित्त ज्ञान की भावना करता है; निर्वेधभागीयों में ऐसा नहीं होता क्योंकि वे दर्शन मार्ग के परिवार हैं।

अन्यत्र अलब्धपूर्व मार्ग को प्राप्त कर वह केवल अनागत संवृति ज्ञान की भावना करता है।[5]

---

१. द्वयोस्त्वभिज्ञाविमुक्तिमार्गयोरिति। दिव्यश्रोत्रदिव्यचक्षुरभिज्ञाविमुक्तिमार्गयोरव्याकृते श्रोत्रचक्षुरभिज्ञे इति वचनात् (७.४२) तद्विमुक्तिमार्गावव्याकृतौ। न चाव्याकृतस्य धर्मस्यानागतभावनाऽस्ति (व्याख्या)।—ऊपर पृ० १९, टि० ३ देखिए। इन अभिज्ञाओं का सम्मुखीभाव करने से इन्हीं अनागत अभिज्ञाओं की प्राप्ति नहीं होती (६३६, १९)।

२. पृथग्जनस्य तु कामत्रिध्यानवैराग्य इति। चतुर्थध्यानाग्रहणं यस्माच्चतुर्थध्यानवैराग्ये योऽन्त्यविमुक्तिमार्गस्तत्र मौलाकाशानन्त्यायतनप्रतिलम्भो न चारूप्यधातुसंगृहीतं परचित्तज्ञानमस्ति रूपातीतार्थनिष्पाद्यत्वात् (६३६, २३)।

३. प्रयोगाभिज्ञात्रयविमुक्तिमार्गाप्रमाणादिगुणाभिनिर्हारेष्विति। प्रयोगमार्गाश्चाभिज्ञात्रयविमुक्तिमार्गाश्च अप्रमाणादिगुणाभिनिर्हाराश्चेति विग्रहः। आदिशब्देन विमोक्षाभिभ्वायतनादिग्रहणम्। तीन अभिज्ञा ऋद्धि, पूर्वेनिवास और चेतः पर्याय हैं (६३६, २६)।

४. ध्यानभूमिकेषु ध्यानभूमिकग्रहणं सामन्तकनिरासार्थम्। तत्र हि परचित्तज्ञानं नास्ति (६३६, ३०)।

५. अन्यत्रेति विस्तरः। पृथग्जनस्यैवान्यत्रापूर्वमार्गलाभे कामत्रिध्यानवैराग्यान्त्यविमुक्तिमार्गान् हित्वा यः प्रयोगानन्तर्यविमुक्तिमार्गलाभस्तस्मिन्नन्यत्रापूर्वमार्गलाभे संवृतिज्ञान-

[६०] जिस ज्ञान की भावना लौकिक या लोकोत्तर मार्ग में होती है वह किस भूमि का है ?

भावित अनागत संवृत्ति ज्ञान उस भूमि का होता है जो भूमि मार्ग का संनिश्रय होती है या जिस भूमि का लाभ मार्ग से होता है।[1] अनास्रव ज्ञान के सम्बन्ध में यह नियम नहीं है कि अनागत भावित उस भूमि का होता है जो उसके उत्पाद का संनिश्रय होता है।

यद्वैराग्याय यल्लाभस्तत्र चाऽधश्च भाव्यते।
सास्रवाश्च क्षयज्ञाने लब्धपूर्वं न भाव्यते ॥२६॥

२६ ए-बी. योगी जिस अनागत ज्ञान की भावना करता है वह उस भूमि का होता है जिससे वह विरक्त होता है : वह लब्धभूमि, अधरभूमि का होता है।[2]

[६१] जब किसी भूमि से अपने को विरक्त करने के लिए योगी दो प्रकार के अर्थात् अनास्रव या सास्रव मार्गों की (प्रयोग आदि की) भावना करता है तो वह या तो

मेवानागतं भाव्यते। न परचित्तज्ञानम्। तथाऽभिज्ञात्रयाप्रमाणादिगुणाभिनिर्हारेषु य आनन्तर्य-मार्गलाभस्तस्मिंश्चान्यत्रापूर्वमार्गलाभे संवृतिज्ञानमेव लभ्यते। प्रयोगमार्गेषु न परचित्तज्ञानं तदप्रतिपक्षत्वात् (६३७, ८)।

१. यद्भूमिको मार्गो यां च भूमिं प्रथमतो लभते [तद्भूमिकं संवृतिज्ञानमनागतं भाव्यते] (भाष्य)। यदि लौकिक मार्ग से जिसका संनिश्रय (संनिश्रयेण) (अर्थात् "जो भावित है") अनागम्य (प्रथम ध्यान का सामन्तक) है, कामधातु से विरक्त होता है और इस वैराग्य से प्रथम ध्यान का लाभ करता है, इस वैराग्य के ९वों विमुक्ति मार्ग के क्षण में वह अनागम्य भूमि या प्रथम ध्यान भूमि के संवृति ज्ञान की भावना करता है और इस प्रकार बढ़ते-बढ़ते वह नैवसंज्ञानासंज्ञायतन के सामन्तक में भावित लौकिक मार्ग से आकिंचन्यायतन से अपने को विमुक्त करता है और सामन्तकभूमि या नैवसंज्ञानासंज्ञायतन भूमि का संवृति-ज्ञान प्राप्त करता है। संवृतिज्ञान उन्हीं अवस्थाओं में भावित होता है जिन अवस्थाओं में योगी अनास्रव अनागम्य में भावित मार्ग द्वारा कामधातु से विरक्त होता है (६३७, १५)।

किन्तु यदि योगी प्रथम ध्यान में अनास्रव मार्ग की भावना कर प्रथम अनास्रव ध्यान की प्राप्ति करता है तो जो संवृतिज्ञान उसको प्राप्त होता है वह प्रथम ध्यान के स्थान में द्वितीय ध्यान के सामन्तक की भूमिका होता है ········ क्योंकि यह पहला अवसर है कि योगी प्रथम अनास्रव ध्यान का लाभ करता है और जिस मार्ग से वह प्रथम अनास्रव ध्यान का लाभ करता है उसके नवें विमुक्ति मार्ग में वह दूसरे ध्यान के अनागत संवृतिज्ञान की भावना करता है। (व्याख्या)

२. यद्वैराग्याय यल्लाभस्तत्र (आप्य) अधश्च भाव्यते। (भाष्य)
यद्वैराग्याय। यस्याभूमेर्वैराग्याय। यल्लाभः यस्याभूमेर्लाभः।
तत्रोभयत्राधश्च भाव्यतेऽनास्रवं ज्ञानम् (६३८, १)।

उस भूमि के अनास्रव ज्ञानों की भावना करता है जिसका लाभ वह पहली बार इन मार्गों मे करता है या उस भूमि के अनास्रव ज्ञानों की जो मार्ग का संनिश्रय है या एक अधर भूमि के अनास्रव ज्ञानों की ।[1]

२६ सी. क्षय ज्ञान में सर्वभूमिक सास्रव भी ।[2]

---

१. यद्भूमिवैराग्यायापि हि न केवलं यद्भूमिकमित्यपि शब्दार्थ: । यां च भूमिं लभते वैराग्यत इत्युपरिभूमिकम् (?) तद्भूमिकान्यधोभूमिकानि वा अनास्रवाणि ज्ञानानि भावनां गच्छन्ति । उदाहरण (६३८, १०; ६३८, १३) ।

तद्यथा द्वितीयमनास्रवं ध्यानं निःसृत्य तृतीयध्यानवैराग्यं करोति यद्भूमिको मार्गो द्वितीयध्यानभूमिकस्तद्भूमिकमनास्रवं ज्ञानं भावनां गच्छति । यस्याश्च भूमेर्वैराग्यं करोति तृतीयाया भूमेस्तद्भूमिकं तृतीयध्यानभूमिकं नवमे विमुक्तिमार्गेऽनास्रवं ज्ञान भावनां गच्छति । अधोभूमिकं च प्रथमध्यानभूमिकमनागम्यभूमिकं वा अनास्रवं ज्ञानं भावनां गच्छति । अधोभूमिकमपि हि तत्प्रयोग मार्गादिकं सम्भवति तज्जातीयमिति भावनां गच्छति । अथ तु तृतीयध्यानसामन्तकं निःसृत्य द्वितीयध्यानवैराग्यं करोति । तत्रानन्तर्यमार्गेषु विमुक्तिमार्गेषु च तस्य सामन्तकस्य सास्रवत्वात् तद्भूमिकमनास्रवं ज्ञानं न भावनां गच्छति । अभावात् (८·२२ ए) । अधोभूमिकं तु तज्जातीयं द्वितीयध्यानभूमिक ध्यानान्तरभूमिकं प्रथमध्यानभूमिकमनागम्यभूमिकं च तज्जातीयमनास्रवं ज्ञानं भावनां गच्छति । एवमन्यत्रापि योज्यमेषा दिगिति ।

योगी द्वितीय अनास्रव ध्यान का संनिश्रय लेता है और इस प्रकार तृतीय ध्यान से विरक्त होता है (वैराग्य करता है) : जो अनास्रव ज्ञान भावित होता है वह मार्गभूमि का अर्थात् द्वितीय ध्यान की भूमि का होता है; जिस भूमि से, अर्थात् तृतीय ध्यान से, वह विरक्त होता है उस भूमि का अनास्रव ज्ञान नवम विमुक्ति मार्ग में भावना को प्राप्त होता है । अधोभूमिक अनास्रव ज्ञान, चाहे वह प्रथम ध्यान का हो या अनागम्य का, भावना को प्राप्त होता है । क्योंकि प्रयोगमार्ग अधोभूमिक हो सकता है : इसलिए अधोभूमिक, ज्ञान की भावना हो सकती है ।

किन्तु जब योगी तृतीय ध्यान के सामन्तक का संनिश्रय ले द्वितीय ध्यान से विरक्त होता है तो न आनन्तर्य मार्ग में और न विमुक्ति मार्ग में सामन्तक भूमि का अनास्रव ज्ञान भावना को प्राप्त हो सकता है : वास्तव में इस सामन्तक में अनास्रव ज्ञान नहीं होता । (८.२२ ए) भावित ज्ञान अधोभूमिक होगा—द्वितीय ध्यानभूमिक, ध्यानान्तर भूमिक, प्रथम ध्यानभूमिक, अनागम्यभूमिक ।

२. =सास्रवश्च क्षयज्ञाने [सर्वभूमिका]—परमार्थ में 'सर्वभूमिक' का समानार्थक, कोई पद नहीं है । कदाचित् मूल में यह पद नहीं है (६३८, २७) ।

युआन चाङ् "केवल प्रथम क्षयज्ञान में यह ९ भूमियों के सब सास्रव गुणों को एक साथ भावना करता है ।"—इस टीका के साथ : "प्रथम क्षयज्ञान में अर्थात् भवाग्र वैराग्य के ९वें विमुक्ति मार्ग में और पंच इन्द्रिय संचार (२० ए ४-५) के ९वें विमुक्ति मार्ग में ।"

[६२] जिस क्षण में क्षयज्ञान (६.४४ डी) आस्रवों के क्षय का ज्ञान उत्पन्न होता है उस क्षण में सर्वभूमिक सास्रव[1] अनास्रव गुण अर्थात् अप्रमाण, विमोक्ष आदि[2] भावना को प्राप्त होते हैं। वास्तव में वज्रोपम समाधि क्लेश प्राप्ति के रज्जुओं का उपच्छेद करती है इसलिए सब गुण क्लेश विनिर्मुक्त सत्त्व या सन्तान में पाये जाएँगे। इसलिए हम कह सकते हैं कि यह गुण उस पेटी के समान 'उच्छ्वास' लेते हैं (या खुल जाते हैं, फूल जाते हैं) जिसके बन्धन की रस्सियाँ काट दी गयी हैं।[3] अर्हत् ने अपने चित्त पर अधिराज्य पा लिया है (६३९,८) (स्वचित्ताधिराज्य प्राप्त): सब कुशल धर्म उसका प्रत्युद्गमन उसी प्रकार करते हैं जैसे जानपद अधिराज्य को प्राप्त किसी[4] राजाधिराज का प्रत्युद्गमन प्राभृत दान से करते हैं।[5]

[६३] यत्किञ्चित् लब्ध[6] होता है क्या वह 'भावित' होता है?

२६ डी. जिसका पूर्वलाभ हुआ है वह भावित नहीं होता।[7]

---

१. यान् गुणान् अर्हद्भूत्वा (?) सम्मुखीकुर्यात् ते सास्रवास्तस्यां अवस्थायां भावनां गच्छन्ति (६३८, २८)।

२. 'आदि' से यहाँ अभिप्राय अभिभ्वायतन, कृत्स्नायतन आदि से है।

३. उच्छ्वसन्तीव पेडासाधर्म्येण। या पेडा रज्वा निष्पीड्य बद्धा सा रज्जुभेदादुच्छ्वसतीव। (६३८, ३०) पेड़ा, पेड़ा (निपीड्य) (रज्जूच्छेदा)।

पेडा, दिव्यावदान २५१,४. ३६५,८ रत्न या अलंकार की पेटी, फेला, वही, ५०३, २४, महावस्तु २.४६५ (फेला, फेलिका); ब्लॉश, मराठी भाषा, ३७०, संस्कृत पेट, पेटा, पेटी; पालि पेला।

शुआन चाङ् और परमार्थ: "यथा जब बन्धन काटे जाते हैं तो बद्ध (सत्त्व) जिनका कण्ठ संपीडन होता है उच्छ्वास लेते हैं।"

इसका अर्थ यह है कि क्षयज्ञान के क्षण में सब प्रकृष्टतर गुणों की प्राप्ति का उत्पाद होता है: उत्तप्ततराणां तेषां प्राप्तिरुत्पद्यते।

४. प्रथम (सुवर्ण) चक्रवर्ती से तुलना कीजिए, कोश ३.९६ सी।

५. शुआन चाङ् एक पाद जोड़ते हैं: "ऊर्ध्वभूमि में उपपन्न अधर की भावना नहीं करता"। यह मत व्याख्या में सुपल्लवित हुआ है: जब योगी कामधातु में उपपन्न हो अर्हत्व (अर्थात् क्षयज्ञान) को प्राप्त करता है तो त्रैधातुक अशुभा आदि भावना को प्राप्त होती हैं (भावनां गच्छन्ति)। जब रूपधातु आरूप्यधातु में उपपन्न हो अर्हत्व की प्राप्ति होती है तो यथाक्रम द्वि-धातुक और एक-धातुक यही अशुभादि भावित होते हैं। धातुओं की विविध भूमियों के सम्बन्ध में भी यही है। जो नैवसंज्ञाना संज्ञायतन में उपपन्न हो अर्हत्व की प्राप्ति करता है वह केवल उसी भूमि के गुणों की भावना करता है।

६. यत्किञ्चिल्लभ्यते (६३९, १५)।

७. =लब्धपूर्वं न भाव्यते।

जिसका लाभ नहीं हुआ है वही भावित होता है। जो प्रतिलाभानन्तर विहीन होकर फिर से लब्ध होता है, अर्थात् जिसका फिर से सम्मुखीकरण होता है, वह भावित नहीं होता अर्थात् योगी अनागत काल के लिए उसकी प्राप्ति नहीं करता। क्योंकि वह अतीत में भावित और उत्सृष्ट हो चुका है।[1]

[६४] क्या भावना शब्द का अर्थ केवल प्रतिलम्भ है ?

नहीं; भावना चार प्रकार की है : १. प्रतिलम्भं, २. निषेवणं (निषेवा), ३. प्रतिपक्षं, ४. विनिर्धावनं।

प्रतिलम्भनिषेधाख्ये शुभसंस्कृत भावने।
प्रतिपक्षविनिर्धावभावने सास्रवस्य तु ॥२७॥

---

१. ए. व्याख्या : यद् विहीनं पुनर्लभ्यते सम्मुखीक्रियते संसारोचितं न तदनागतं भाव्यते भावितोत्सृष्टत्वात् संसारे। यदेवात्र ध्यानाप्रमाणादि अनुचितं संसारे विशिष्टमनास्रवानुगुणं तत्सम्मुखीभावे तज्जातीयमेवानागतं विशिष्टं भाव्यत इत्याचार्यो दर्शयति (६३९, १५)।

यह संसारोचित गुण हैं। संसार में इनकी अनेक बार भावना और उत्सर्ग होता है। यह गुण भावना के विषय नहीं हैं, अर्थात् अनागत अवस्था में इनकी प्राप्ति नहीं होती। किन्तु ध्यान, अप्रमाण आदि विशिष्ट गुण संसार में असामान्य हैं और अनास्रव गुणों की प्राप्ति के लिए अनुकूल हैं। जब उनका सम्मुखीभाव होता है तब अनागत के लिए उनकी भावना होती है। आचार्य वसुबन्धु का यही अभिप्राय है।

यह व्याख्या वसुबन्धु के इस वाद पर आश्रित है कि विशिष्ट गुणों की ही (संसारानुचितत्वात्) 'भावना' होती है, दूसरों की नहीं।

बी. युआन चाङ् : लब्धपूर्व धर्म जो विनष्ट हो गया है उसकी पुनः प्राप्ति होने से वह 'भावित' नहीं होता क्योंकि बिना प्रयत्न के उसकी पुनः प्राप्ति होती है। जो लब्धपूर्व धर्म जो विनष्ट हो गया है उसकी पुनः प्राप्ति होने से वह 'भावित' नहीं होता क्योंकि बिना प्रयत्न के उसकी पुनः प्राप्ति होती है। जो लब्धपूर्व धर्म नहीं है उसका सम्मुखीकरण प्रयत्नवश होता है और इसलिए यह अनागत 'भावित' है क्योंकि उसका सामर्थ्य विपुल होता है। लाभानन्तर उत्पन्न होकर यह अनागत भावित नहीं है क्योंकि इसका सामर्थ्य स्वल्प है, क्योंकि यह बिना अधिक प्रयत्न के उत्पन्न हुआ है।" इस पर संघभद्र की व्याख्या का प्रभाव है।

सी. व्याख्या संघभद्र (नञ्जियो १२६५, २३.६, ५८ बी; १२६६, २३.८, १७ बी सर्वथा नहीं मिलता) को उद्धृत करती है : (६३९, १९) आचार्यसंघभद्रोऽप्येतमेवार्थं व्याचष्टे। लब्धपूर्वं न भाव्यते। यत्प्रतिलब्धविहीनं पुनर्लभ्यते न तद् भाव्यते। अर्थाद् गम्यते यदलब्धपूर्वं लभ्यते तद् भाव्यते। यत्नाभिमुखीकरणात्। अप्रतिप्रश्रब्धो हि मार्गो यत्नेनाभिमुखीक्रियत

२७. कुशल संस्कृत धर्मों की भावना प्रतिलम्भ और निषेवणं है, सास्रव धर्मों की भावना प्रतिपक्षं और विनिर्धावनं है।[1]

कुशल संस्कृतों की प्रतिलम्भं[2] और निषेवणं भावना[3] अनागत की एक भावना (प्रतिलम्भ) और प्रत्युत्पन्न की दो भावनाएँ (प्रतिलम्भ और निषेवण) हैं।

यह दो भावनाएँ प्रथम दो प्रधानों पर आश्रित हैं—अनुत्पन्न पूर्व के उत्पाद के लिए यत्न, उत्पन्न की वृद्धि के लिए यत्न।

इति तदावेधबलत्वादनागतो भावनां गच्छति। प्रतिलब्धपूर्वस्त्वयत्नेन सम्मुखी भवति भावित-प्रतिलब्धत्वात् कृतकृत्यदत्तफलत्वाच्च वेगहीन इति सत्सम्मुखीभावादनागतो न भाव्यत इति। योऽनागतो यत्नेन जन्यते स भाव्यत इत्यभिप्रायः।

व्याख्या आगे कहती है: तदेवं सति यदुक्तं संवृतिज्ञानं तावदिति विस्तरेण तदार्यसन्तानपतितमेव गृह्यते। अर्थात् यदि ऐसा है तो जो कुछ संवृतिज्ञान की भावना के सम्बन्ध में कहा गया है उसे आर्य के संवृति ज्ञान के सम्बन्ध में समझना चाहिए......। (६३६, २६)।

व्याख्या अब इसके आगे वसुमित्र का मत और वैभाषिकों की आपत्ति देती है: संसारानुचितत्वादिति आचार्यवसुमित्रेणात्र लिखितम्। अत्र किल वैभाषिका आहुः। नैतदेवम्। कुतः। यस्मादलब्धम् एव तद्भवति त्यक्तत्वात्तस्माद् भावितोत्सृष्टस्यापि पुनर्लाभे भवत्येव भावनेति। कथ तदपूर्वं भवति यावतालब्धपूर्वमिति। न ह्येवं विधं लोके प्रसिद्धमिति। (६३९, २७)।

"अलब्धपूर्वको" अर्थात् "जो इस जन्म में प्राप्त नहीं हुआ है" उसे प्राप्त किया जा सकता है।

अपरे पुनर्व्याक्षते एकं जन्मेदमधिकृत्योक्तं न जन्मान्तरम्। यद्विहीनं अस्मिन्नेव जन्मनि पुनर्लभ्यते न तद् भाव्यते भावितोत्सृष्टत्वात्। जन्मान्तरे तु यल्लभ्यते तद् भाव्यते। (६३९, ३२)।

१. =प्रतिलम्भनिषेवाख्या शुभसंस्कृतभावना।
[सास्रवस्य प्रतिपक्षविनिर्धावनभावना॥]

देखिए कोश, ६.१, पृ० ११९, टिप्पणी; ७ पृ० २३, अत्थसालिनी, १६३।

२. प्रतिलम्भ एव भावना प्रतिलम्भभावना अनागतप्राप्तिरेव भावनेत्यर्थः। 'भावना' एक अनागत धर्म की प्राप्ति है। इसी प्रकार निषेवण भावना निषेवण है (६४०, २)।

३. निषेवणं पुनः पुनः सम्मुखीकरणम् (६४०, ५)।

[६५] सास्रव धर्मों की प्रतिपक्ष[1] और विनिर्धावन[2] भावना। यह अन्तिम दो प्रधानों पर आश्रित हैं—अनुत्पन्न के अनुत्पाद के लिए यत्न, उत्पन्न के निरोध के लिए यत्न ।[3]

इसलिए कुशल सास्रव धर्मों की ४ भावनाएँ होती हैं, अनास्रव धर्मों की पहली दो भावनाएँ हैं, क्लिष्ट और अव्याकृत धर्मों की अन्तिम दो भावनाएँ हैं ।

पश्चिम के वैभाषिक कहते हैं कि भावना षड्विध है—पूर्वोक्त चार तथा संवर भावना और विभावना भावना ।

प्रथम इन्द्रियों[4] की, चक्षुरादि की, भावना है। दूसरी काम भावना है। सूत्र में कहा है कि "यह ६ इन्द्रियाँ सुसंवृत, सुभावित........"[5] और पुनः "काय में केश, लोभ आदि होते हैं ।"[6] कश्मीर वैभाषिकों का मत है कि यह दो भावनाएँ प्रतिपक्ष और विनिर्धावन भावनाओं के अन्तर्भूत हैं ।[7]

---

१. प्रतिपक्ष भावना का अर्थ उस भावना से है जो "प्रतिपक्ष" है, 'प्रतिपक्ष' मार्ग है ? प्रतिपक्षो मार्गो यथोक्तं सूत्रे भावितकायो भावितचित्त इति भावितकायचित्तप्रतिपक्ष इत्यर्थः। कायप्रतिपक्षः पुनश्चतुर्ध्यानवैराग्याय यो मार्गः। तथा ह्युक्तम् भावितकायो भिक्षुरित्युच्यते भावितचित्तो भावितशीलः। कथं भावितकायो भवति। कायाद् विगतरागो विगततृष्णो विगतपिपासो विगतप्रेमा विगतनियन्तिः (?)। अथवा योऽसौ रूपरागक्षयानन्तर्य-मार्गः। सोऽनेन विगतरागो भवतीत्यागमः।......संयुत्त, ३.७, ११, १९०, ४, १११; अंगुत्तर, ३.१०६; मज्झिम, १.२३७ (६४०, ५)।

चित्त भावित क्यों कहलाता है इसके लिए ऊपर ७, पृ० २० देखिए।

२. विनिर्धावनभावना=क्लेश प्राप्तिच्छेदः (६४०, ११)।

३. अ (द) धा हानों का क्रम महाव्युत्पत्ति, ३९ में भिन्न है; देखिए ६.२ सी, ६७। —शुआन चाङ् में प्रधानों का उल्लेख नहीं है।

४. इन्द्रिय भावना, मज्झिम, ३.२९८ इन्द्रिय संवर, संयुत्त, १.५४ अंगुत्तर ३.३६०, मज्झिम, १.२६९, ३४६ आदि।

५. संयुक्त, ११, १४ : षड् इमानीन्द्रियाणि। [सुसंवृतानि सुभावितानि......]।

इन्द्रिय संवर या संवर भावना का स्वभाव स्मृति और संप्रज्ञान का है। स पुनरिन्द्रियसंवरः स्मृतिसंप्रज्ञानस्वभाव उक्तः।

६. मध्यम, ३४, १६, मज्झिम, ३.९०; संयुक्त, ४.१११, शिक्षा समुच्चय, २२८, मध्यमकवृत्ति, ५७ इत्यादि।

७. विभावनाभावना या कामभावना उन क्लेशों के विनिर्धावन के अतिरिक्त कुछ नहीं है जिनका आलम्बन काय है।

[६६] हम ज्ञान का निर्देश कर चुके हैं। अब ज्ञानमय[1] गुणों का निर्देश करना आवश्यक है। इन गुणों में हम पहले बुद्ध के आवेणिक[2] धर्मों का, जिन्हें बोधिसत्त्व अर्हत्व और बुद्धत्व की प्राप्ति करके क्षयज्ञान के क्षण में (६·४५) प्राप्त करता है, निर्देश करेंगे।

यह गुण संख्या में १८ हैं।

अष्टादशावेणिकास्तु बुद्धधर्मा बलादयः।
स्थानास्थाने दशज्ञानान्यष्टौ कर्मफले नव ॥२८॥

२८ ए-बी. बुद्ध के आवेणिक धर्म बलादि १८ हैं।[3]

१० बल, ४ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान और महाकरुणा[4]—कुल मिलाकर १८ धर्म हैं।

---

१. शुआन चाङ् के अनुसार—मूल में इस प्रकार है।—सामान्येन सर्वेषां (श्रावक-प्रत्येकबुद्धसम्यक्संबुद्धानां) क्षयज्ञाने गुणभावनोक्ता (७.२६ सी) अष्टादशावेणिका···। हमने सामान्य रूप से यह बताया है कि अर्हत्, चाहे जिस प्रकार के क्यों न हों आस्रव क्षयज्ञान के उत्पाद क्षण में 'गुणों' की प्राप्ति करते हैं।

बुद्ध के १८ विशेष गुण हैं,······कथावत्थु, ३.१-२ में है कि 'बल' बुद्ध विशेष नहीं हैं (अन्धकों का वाद)। पटिसंभिदामग्ग, १.७,-६३ ञाण जिनमें से ६ बुद्ध के विशेष हैं; मिलिन्द, २८५।

२. 'आवेणिक' पर आवेणिकी अविद्या का लक्षण देखिए (५·१२, १४, २.२६ की व्याख्या)। बुरनुफ़, लोटस्, ६४८ इसे उद्धृत करता है और इसका अनुवाद देता है: सम्यक्वेणिरित्युच्यते। न वेणिरवेणिः पृथग्भाव इत्यर्थः। एवं ह्युक्तमवेणिर्भगवानवेणिर्भिक्षुसंघइति पृथग् भगवान् पृथग् भिक्षुसंघ इत्यभिप्रायः। अवेण्या चरत्यावेणिकी नान्यानुशयसह-चारिणीत्यर्थः।

अंगुत्तर, ५.७४—संघ में भेद नहीं है······न आवेनि कम्मानि करोन्ति न आवेनि पातिमोक्खम् उद्दिसन्ति।=(न पृथक् कर्माणि······)।

५ गुण हैं जो केवल स्त्रियों में पाये जाते हैं (आवेणीय और आवेणिक) दिव्यावदान, २, ३, ९८, २२, इत्यादि; बुरनुफ़, इण्ट्रोडक्शन, १६६।

मेरा कुशल कर्म मेरी आवेणिय सम्पत्ति है, जातक, ४.३५८।

३. =[बुद्धस्यावेणिका धर्मा अष्टादश बलादयः।]

अथवा परमार्थ के शब्द क्रम के अनुसार: अष्टादशत्वावेणिका बुद्धधर्मा बलादयः।

४. ए. यह दिव्य १८२, २०, २६८, ४ की सूची है।

बी. यशोमित्र कहते हैं: वैभाषिकों का यह मत है। अन्य आचार्य (केचित्) इनसे भिन्न दूसरे १८ आवेणिकों का वर्णन करते हैं: तद्यथा, नास्ति तथागतस्य स्खलितं, नास्ति रवितं (=सहसाक्रिया), नास्ति द्रवता (=क्रीडाभिप्रायता), नास्ति नानात्वसंज्ञा (=सुख-दुःखादुःखसुखेषु विषयेषु रागद्वेषमोहतो नानात्वसंज्ञा), नास्त्यव्याकृतमनस्, नास्त्यप्रति-

[६७] यह 'आवेणिक' "बुद्ध के विशेष" इसलिए कहलाते हैं क्योंकि दूसरे अर्हत् होकर भी इनकी प्राप्ति नहीं करते।

हम पहले 'बलों' के स्वभाव की परीक्षा करेंगे।[1]

संख्यायोपेक्षा), नास्त्यतीतेषु प्रतिहतं ज्ञानदर्शनम्, नास्त्यनागतेषु प्रतिहतं ज्ञानदर्शनम्, नास्ति प्रत्युत्पन्नेषु प्रतिहतं ज्ञानदर्शनं सर्वं कायकर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्वं वाक्कर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, सर्वं मनस्कर्म ज्ञानानुपरिवर्ति, नास्ति छन्दहानिः, नास्ति वीर्यहानिः, नास्ति स्मृतिहानिः, नास्ति समाधिहानिः, नास्ति प्रज्ञाहानिः नास्ति विमुक्तिज्ञानदर्शनहानिः—यह ४.१२, ६.५८ के विरुद्ध है (६४१, १)।

यह सूची, कतिपय मिलते-जुलते पाठ-भेद के साथ, महाव्युत्पत्ति, ६ की है। (वोगिहारा के अनुसार यह स्थिरमति के व्याख्यान (Tsa-tsi) से ली गयी है) कोश का जापानी सम्पादक इसे यहाँ उद्धृत करता है। मध्यमकावतार (६.२१३, पृ० ३२२-३३७) में धारणीश्वरपरिपृच्छा से उद्धृत एक टीका मिलती है। महावस्तु, १.१६० (देखिए पृ० ५०५ की टिप्पणी) अभिधानप्पदीपिका और जिनालंकार (बुरनुफ़, लोटस्, ६४६, कर्न, Geschudnis, १.२७२ मिलिन्द, २८५) की सूचियाँ बहुत मिलती-जुलती हैं।

यशोमित्र की दी हुई सूची की विशेषता पहले पदों में है : नास्ति स्खलितं नास्ति रवितं नास्ति द्रवता; महावस्तु और महाव्युत्पत्ति में नास्ति (स्) खलितम्, नास्ति रवितम्, नास्ति मुषितस्मृतिता है; जिनालंकार में······नत्थि दवा (इसकी टीका किच्छाभिप्पायेन किरिया दी है जिसका शुद्ध पाठ खिड्डाभिप्पायेन होना चाहिए), नत्थिखा (इसकी टीका सहसा किरिया है) दिया है :—

यशोमित्र की टीका से यह बहुत मिलते-जुलते हैं : द्रवता=क्रीडाभिप्रायता, रवित =सहसाक्रिया (=तिब्बती च चो=चीनी : वाग्दोष)। हम कहेंगे कि द्रवता के स्थान में महावस्तु-महाव्युत्पत्ति में मुषित स्मृतियाँ हैं (जो कदाचित् नवें गुण—नास्ति स्मृतेर्हानिः—की पुनरुक्ति है) किन्तु चन्द्रदास (पृ० ५११) की सूची में मुषिता या मुदिता पाठ मिलता है। मुदिता 'क्रीडा' के भाव का सूचक है। अप्रतिसंख्यायोपेक्षा एक उपेक्षा है जो ज्ञान का फल नहीं है। यह उपेक्षा के कारण है न कि ज्ञान के कारण (देखिए ८.८)।

सी. बोधिसत्त्वभूमि (३.४)।

१४० आवेणिक स्वीकार करता है (देखिए म्यूज़िओं, १९११, १७०) : ३२ लक्षण और ८० अनुव्यंजन, ४ "सर्वाकार" विशुद्धि, १० बल, ४ वैशारद्य, ३ स्मृत्युपस्थान; ३ आरक्षण (महाव्युत्पत्ति, १२ के ४ आरक्ष्यों से तुलना कीजिए), महाकरुणा, असंप्रमोषधर्मता: वासनासमुद्घात, सर्वाकारवरज्ञान (सर्वथा ज्ञान से तुलना कीजिए, कोश, ७, पृ० ८२)।

डी. बोधिसत्त्व के आवेणिक, महाव्युत्पत्ति, २६, मध्यमकावतार, ६.२१२।

१. लोटस्, ३४३, ७८१ स्पेन्स हार्डी, मैनुअल, ३८० तथा अन्य ग्रन्थ जिनका उल्लेख धर्मसंग्रह, पृ० ५१ में है; महाव्युत्पत्ति, ७ (योगशास्त्र के अनुसार)।

[६८] ध्यानाद्यक्षाधिमोक्षेषु धातौ च प्रतिपत्सु तु ।
दश वा संवृतिज्ञानं द्वयोषट् दश वा क्षये ॥२९॥

२८ सी-२९. स्थानास्थान में १० ज्ञान हैं; कर्मफल में ८ हैं; ध्यानादि इन्द्रियों में, अधिमोक्ष में, धातु में ९ हैं; प्रतिपत् में ९ या १० हैं, संवृति ज्ञान में २ हैं, निरोध में ६ या १० ज्ञान हैं।[1]

बुद्धरक्षित के जिनालंकार की पालिसूची; प्राचीन 'संस्कृत' ग्रन्थ महावस्तु, १.१५९ है (सम्पादक की पृ० ५०२-५०५ पर दी हुई टिप्पणी मूल्यवान् हैं); दूसरी ओर (पटिसंभिदा, २.१७४, विभंग, ३३५ हैं।

बुद्ध दशबल हैं, महावग्ग, १.२२, १३; संयुत्त के एक वग्ग का शीर्षक "दस बल" है; मिलिन्द, २.१३४ पर श्रीमती रीज डैविड्स की सूचनाएँ देखिए।—बोधिसत्त्व के १० बल, महाव्युत्पत्ति, २६।

मध्यमकावतार में धारणीश्वरपरिपृच्छा के अनुसार १० बलों की व्याख्या दी है, तिब्बती अनुवाद, पृ० ३६९-३९५ देखिए। श्रावक बल से समन्वागत होते हैं या नहीं; पहले ९ बल अनास्रव या आर्यज्ञान ४ हैं या नहीं; इनके लिए कथावत्थु, ३.१-२ देखिए।

१. स्थानास्थाने दशज्ञानान्यष्टौ कर्मफले [नव] ॥
ध्यानाद्यक्षाधिमोक्षेषु [धातौ च] प्रतिपत्सु [वा ।]
[दशद्वे संवृतिज्ञाने षड् वा दश वा क्षये ॥]

क्षुद्र व्युत्पत्ति, ५ (मिनइएव, १८८७) में भिन्न सूची मिलती है। व्याख्या में सूत्र उद्धृत है :

दशायुष्मन्तस्तथागतबलानि । कतमानि दश इहायुष्मन्तस्तथागतः स्थानं च स्थानतो यथाभूतं प्रजानाति । अस्थानं चास्थानतः । इदं प्रथमं तथागतबलं येन बलेन समन्वागतस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्संबुद्ध उदारमार्षभं स्थानं प्रतिजानाति ब्राह्मं चक्रं प्रवर्तयति पर्षदि सम्यक्सिंहनादं नदति । पुनरपरम् आयुष्मन्तस्तथागतोऽतीतानागतप्रत्युत्पन्नानि कर्मधर्मसमादानानि स्थानतो हेतुतो वस्तुतो विपाकतश्च यथाभूतं प्रजानाति यदायुष्मन्तथागतः पूर्ववद् यावद् विपाकतश्च यथाभूतं प्रजानाति इदं द्वितीयं तथागतबलं येन बलेन ·····॥ (६४१, १५)।

पुनरपरम् आयुष्मन्तस्तथागतो ध्यानविमोक्षसमाधिसमापत्तीनां संक्लेशव्यवदानव्यवस्थानविशुद्धिं यथाभूतं प्रजानाति यदायुष्मन्तस्···३ ॥·· परपुद्गलानां इन्द्रियपरापरतां यथाभूतं प्रजानाति···४ ॥···नानाधिमुक्तिकम् लोकमनेकाधिमुक्तिकम् यथाभूतं प्रजानाति···५ ॥··· नानाधातुकं लोकमनेकधातुकं···६ ॥ ··सर्वत्रगामिनीं प्रतिपदम्···७ ॥ ··अनेकविधं पूर्वनिवासम् अनुस्मरति । तद्यथैकाम् अपि जातिं द्वे तिस्रश्चतस्रः पंच षट् सप्ताष्टौ नव दश विंशति यावदनेकानपि संवर्तविवर्तकल्पान् अनुस्मरति । अपि नाम ते भवतः सत्त्वा यत्राहमास एवं नामा एवं जात्य एवं गोत्र एवमाहार एवं सुखदुःखप्रतिसंवेदी एवं दीर्घायुरेवं चिरस्थितिक एवमायुष्पर्यन्तः । सोऽहं तस्मात् स्थानाच्च्युतोऽमुत्रोत्पन्नः । तस्मादपिच्युत इहोपपन्नः । इति

[६६] १. स्थानास्थान ज्ञानबल—क्या सम्भव है और क्या असम्भव है, इसके ज्ञान का बल (=सम्भव-असम्भव का ज्ञान) जो एक 'बल' है अर्थात् अव्याहत है (७.३० सी)—यह १० ज्ञान हैं, इसमें १० ज्ञान हैं।[1]

२. कर्म विपाक ज्ञानबल—कर्मों के विपाक के ज्ञान का बल—मार्गज्ञान और निरोधज्ञान को छोड़कर यह ८ ज्ञान है।[2]

३-६. ध्यानविमोक्षसमाधिसमापत्तिज्ञानबल[3] ध्यान, विमोक्ष समाधि और

साकारं सनिदानं सोद्देशम् अनेकविधं पूर्वनिवासमनुस्मरति। यदायुष्मन्तस्······८ ॥··· दिव्येन चक्षुषा विशुद्धेनातिक्रान्तमनुष्यकेण सत्त्वान् पश्यति च्यवमानानप्युपपद्यमानानपि सुवर्णान् दुर्वर्णान् हीनान् प्रणीतान् सुगतिमपि गच्छतो दुर्गतिमपि यथाकर्मोपगान् सत्त्वान् यथाभूतं प्रजानाति। अमीभवन्तः सत्त्वाः कायदुश्चरितेन समन्वागता वाग्मनोदुश्चरितेन समन्वागता आर्याणाम् अपवादका मिथ्यादृष्टयो मिथ्यादृष्टिकर्मधर्मसमादानहेतोस्तद्धेतु तत्प्रत्ययं कायस्य भेदात् परं मरणादपायदुर्गतिविनिपातं नरकेषूपपद्यन्ते। अमी पुनर्भवन्तः सत्त्वाः कायसुचरितेन समन्वागता··· सम्यक्दृष्टिकर्मधर्मसम्पादनहेतोस् (?)···सुगतौ स्वर्गलोके देवेषूपपद्यन्ते। यद्···९ ॥···आस्रवाणां क्षयादनास्रवां चेतोविमुक्तिं प्रज्ञाविमुक्तिं दृष्ट एव धर्मे स्वयम् अभिज्ञाय साक्षात् कृत्वोपसंपद्य प्रतिवेदयते। क्षीणा मेजातिरुषितं ब्रह्मचर्यं कृतं करणीयं नापरम् अस्माद् भवं प्रजानामीति यदायुष्मन्तस्तथागतः···१० ॥

१. यह पहला ज्ञानबल स्वभावतः १० ज्ञान है। क्योंकि स्थानास्थान संस्कृत, चार प्रकार के संप्रयुक्त (चित्त से संप्रयुक्त) अर्थात् काम, रूप, आरूप्य और अनास्रव और इन्हीं ४ प्रकार के विप्रयुक्त (चित्त से विप्रयुक्त) कुल ८ और असंस्कृत कुशल या अव्याकृत में विभक्त है।

स्थानास्थान बल में संवृति ज्ञान के १० धर्म विषय हैं; धर्मज्ञान के पाँच, अन्वय ज्ञान के सात···।

यह १० धर्म स्थानास्थान कैसे कहलाते हैं? सूत्र देखिए: "इसका स्थान है (यह सम्भव है) कि एक पुरुष बुद्धत्व का साक्षात्कार करे। (बुद्धत्वं कारयिष्यति): इसका अस्थान है (यह असम्भव है) कि एक स्त्री···; यह सम्भव है कि एक पुरुष ब्रह्मत्व की प्राप्ति करे (ब्रह्मत्वं कारयिष्यति); दुःख-निरोध सम्भव है···। इस बल की व्याख्या के लिए विभंग, पृ० ३३५ देखिए।

२. कर्म और उसका फल वास्तव में दुःख और समुदयसत्यों में अन्तर्भूत है, निरोध और मार्गसत्यों में नहीं।

३. ४ ध्यान (८.१, ८) विमोक्ष (८.३२,) तीन समाधि (शून्यता आदि, ८.२४), २ समापत्ति (असंज्ञि और निरोध, २.४२) और ९ अनुपूर्व विहार समापत्ति (ध्यान, आरूप्य, निरोध) हैं।—विभंग, ३३९ में भी यही है।

[७०] समापत्ति के ज्ञान का बल; इन्द्रिय परापर ज्ञानबल[1]—सत्त्वों की इन्द्रियों के भेदों (मृदु, मध्य, अधिमात्र) के ज्ञान का बल; नानाधिमुक्ति ज्ञानबल[2]—सत्त्वों की विविध रुचि के ज्ञान का बल, नानाधातु ज्ञानबल[3]—सत्त्वों की विविध लब्ध वासनाओं के ज्ञान का यह ४ बल निरोध ज्ञान को छोड़कर ६ ज्ञान हैं।

७. सर्वत्रगामिनी प्रतिपज्ज्ञान बल—विविध गति और निर्वाण की ओर ले जाने वाली प्रतिपत्तियों के ज्ञान का बल। यह ६ या १० ज्ञान हैं। यदि 'फल सहित प्रतिपद' (सफला-प्रतिपद्) को कोई ग्रहण करता है तो इस बल में निरोध ज्ञान (जो मार्ग का फल है) होता है; यदि कोई 'फल के बिना मार्ग' का ग्रहण करता है तो इस बल में ६ ज्ञान होते हैं।[4]

[७१] ८-६. पूर्व निवास ज्ञानबल—पूर्व निवास के ज्ञान का बल और च्युत्युपपाद ज्ञान-बल—सत्त्वों के मरण और पुनर्भव के ज्ञान का बल : यह दो बल संवृति ज्ञान "लौकिक ज्ञान" हैं।

---

१. =इन्द्रिय परोपरियत्त, विभंग, ३४०, पटिसंभिदा, १.१२१—कारिका में इन्द्रिय का पर्याय अक्ष है; बुद्ध जानते हैं सत्त्वों की इन्द्रियाँ (श्रद्धा आदि) मृदु इत्यादि हैं (परापर)—[विभंग में यह विचार अधिक विकसित है]।

२. अधिमुक्ति=अधिमोक्ष=रुचि (१.२० सी); बुद्ध सत्त्वों के अधिमोक्ष और रुचि को जानते हैं।

३. संघभद्र व्याख्या करते हैं : पूर्वाभ्यासवासनासमुदागत आशयो धातुरिति; बुद्ध पूर्वाभ्यासजनित वासनाओं को जानते हैं। वासना पर ७.३० सी, ३२ डी; आशय पर ४ पृ० १७४, १७६, ६.३४, विभंग, ३४० विभंग का मतभेद है। वह आशय, अनुशय आदि के ज्ञान को ७ वें बल में संगृहीत करते हैं।

४. प्रतिपदो नरकादिगामिन्यः। नरकगामिनी प्रतिपद् यावद् देवगामिनी निरोधगामिनी च। तत्र या नरकादिगामिन्य. प्रतिपदस्ता हेतुः। प्रतिपद्यन्ते ताभिरितिकृत्वा। मार्गोऽपि प्रतिपदुच्यते तेन हि विसंयोग प्रतिपद्यते। निरोधस्तु कथं स चापि प्रतिपत्। प्रतिपद्यते तम् इति कृत्वा प्रतिपत्फलं वा प्रतिपदित्युच्यते। अतएवाह। यदि सफला प्रतिपद् गृह्यत इति। हेतुर्हि सर्वत्रगामिनीप्रतिपदिष्यते। तथा हि व्याचक्षते। सर्वत्रगामिनीप्रतिपज्ज्ञानबलम्। सत्कायः समुदय (निरोध) गामिनीत्यर्थ इति। तत्र सत्कायः पंचोपादानस्कंधाः। समुदय उत्पाद इहाभिप्रेतः···। सत्कायनिरोधो विसंयोगः। तत्र सर्वत्र गन्तुं शीलम् अस्या इति सर्वत्रगामिनी। सर्वत्रगामिनी चासौ प्रतिपच्च सर्वत्रगामिनीप्रतिपत्। तज्ज्ञानं तदेव च बलमिति सर्वत्रगामिनीप्रतिपज्ज्ञानबलम् (६४३, ३३)।

निरोध ज्ञान मार्गज्ञान (प्रतिपद) में तभी संगृहीत है यदि हम 'प्रतिपत्' को 'प्रतिपत् फल' के अर्थ में लें; वास्तव में 'प्रतिपत्' जब गति-हेतु होता है तब निरोध हेतु नहीं होता।

विभंग (पृ० ३३६) में निरोध प्रतिपद् नहीं है, पटिसंभिदामग्ग में इसका उल्लेख है।

१०. आस्रव क्षय ज्ञानबल—आस्रवों के क्षय के ज्ञान का बल। यह ६ या १० ज्ञान हैं। यदि हम आस्रव क्षय ज्ञान को निरोध ज्ञान ही समझें तो ६ ज्ञान होते हैं—धर्मं, अन्वयं, निरोधं, क्षयं, अनुत्पादं, और संवृत्तिं। हम आस्रव क्षय ज्ञान से क्षीणास्रव सन्तान ज्ञान भी समझ सकते हैं। यह वह ज्ञान है जो उस सन्तान में उत्पन्न होता है जिसके आस्रव क्षीण हो चुके हैं। ऐसे सन्तान में दसों ज्ञान होते हैं।

भूमियों के सम्बन्ध में जो बलों का संनिश्रय है :

प्राङ् निवास च्युतोत्पाद बलध्यानेषु शेषितं।
सर्वभूमिषु केनास्य बलमव्याहतं यतः ॥३०॥

३० ए-सी. पूर्व निवास बल और च्युत्युपपादबल की भूमि ध्यान है; अन्य की सब भूमियाँ।

पूर्व निवास ज्ञान और च्युत्युपपाद ज्ञान की भूमि ध्यान हैं; अन्य बल सब भूमियों के हैं—कामधातु, अनागम्य, ४ ध्यान, ध्यानान्तर, ४ आरूप्य।

किस आश्रय में १० बल उत्पन्न होते हैं : जम्बूद्वीप पुरुष के आश्रय में १० बल उत्पन्न होते हैं (जम्बूद्वीप पुरुषाश्रयाणि), अर्थात् बुद्ध में क्योंकि जम्बूद्वीप से अन्यत्र बुद्ध का उत्पाद नहीं होता।[1]

यह दशविध ज्ञान दूसरों में होता है किन्तु वह बल नहीं कहलाता : केवल बुद्ध सन्तान में यह 'बल' की संज्ञा प्राप्त करता है क्योंकि अन्यत्र यह व्याहत होता है (व्याहतत्वात्)।

३० सी-डी. क्यों ? क्योंकि बुद्ध का बल अव्याहत होता है।[2]

[७२] जो ज्ञान सब ज्ञेय विषयों को व्याघात के बिना जानता है वह 'बल' कहलाता है। इसलिए १० बल केवल बुद्ध में होते हैं क्योंकि बुद्ध सकल आस्रव और अज्ञान की वासनाओं (देखिए ७.३२ डी) का विनिर्धावन कर सब विषयों को अपनी इच्छानुसार जानते हैं।

दूसरों का ज्ञान इस प्रकार का नहीं होता और इसलिए उनके ज्ञान 'बल' की संज्ञा नहीं पाते।

इसीलिए आगम के अनुसार आर्य शारिपुत्र ने एक प्रव्रज्यापेक्ष पुरुष का प्रत्या-

---

१. अन्यत्र बुद्धानुत्पादात्—जम्बुषण्डगत पर ३.४१ के अन्त में देखिए (६४४, १८)।
२. =[कुतस्तस्य बलमव्याहतं यतः ॥]

ख्यान किया (प्रव्रज्यापेक्ष पुरुष प्रत्याख्यानं)।[1] वह (श्येन (?)[2] अनुधावित कपोत की पूर्वापर उपपत्तियों की संख्या चाहे वह बहुत या थोड़ी जानने की सामर्थ्य नहीं रखते थे (६४४, २२)।

बुद्ध का ज्ञान बिना किसी आघात के प्रवृत्त होता है। उनके चित्त का बल अनन्त है और वह प्रत्येक विषय को व्याप्त करता है (देखिए पृ० ८२) यदि उनके चित्त का बल इस प्रकार का है तो उनके काय का बल कैसा है?

[७३] **नारायणं बलं काये संधिष्वन्ये दशाधिकं।**
हस्त्यादि सप्तक बलं स्प्रष्टव्यायतनं च तत् ॥३१॥

३१. काय में नारायण बल, दूसरों के अनुसार सन्धियों में; यह हस्त्यादि के सप्तक का बल है और इस समुदाय में प्रत्येक पूर्व की अपेक्षा दसगुना अधिक है; यह स्प्रष्टव्यायतन है।

नारायण 'बल' की संज्ञा है और जिसमें यह बल होता है उसे भी नारायण कहते हैं; चाणूर, महानग्न के लिए भी यही है। बुद्ध काय का बल नारायण के बल के तुल्य है।

---

१. यह वस्तु अश्वघोष के सूत्रालंकार (अनुवाद हूबर, पृ० २८३) में वर्णित है। किओकुगा सेकी नञ्जियो १३२२ का हवाला देता है, जहाँ यह वस्तु अधिक विस्तार से वर्णित है, टोकियो, १४.६, आगे २५-२८, श्मिट कृत Dsanglun, १०७-१२८ देखिए। देखिए Trapiski, ७.२८१, २८६ और Review of History of Religion, १६०३, १.३२३।

इस वस्तु का नायक श्रीवृद्धि है [P. Vallist की एक टिप्पणी के अनुसार] किओकुगा विभाषा, १०२,१७ का हवाला देता है।

व्याख्या : शारिपुत्र ने इस पुरुष के सन्तान में मोक्षभागीय (३.४४ सी, ४.१२४, ६.२४ सी, ७.३४) कुशलमूल देखने की व्यर्थ ही चेष्टा की। इसलिए प्रव्रज्या देने से प्रत्याख्यान किया। किन्तु भगवत् ने इस कुशलमूल को देखा और उसे प्रव्रज्या दी। इस अवसर पर भगवान् ने भिक्षुओं के पूछने पर कहा कि "इसने ऐसा कर्म किया है जिससे इसे अर्हत्व की प्राप्ति हुई है। यतः कर्मों का विपाक अब्-धातु···में नहीं होता, इत्यादि।"

भगवान् पुनः बोले :—मोक्षबीजमहं ह्यस्य सुसूक्ष्ममुपलक्षये।
धातुपाषाणविवरे निलीनमिव कांचनम् ॥ (६४४, ३२)

(व्याख्या, १ पृ० ५ में भी यह श्लोक उद्धृत है : बुरनुफ ने लोटस्, पृ० ३४० में इसका अनुवाद किया है।

२. परमार्थ : "यह भी उदाहृत है कि शारिपुत्र श्येन से अनुधावित कपोत की उपपत्तियों के आदि और पर्यन्त का ज्ञान नहीं रखते थे [पक्षी की हैसियत से ?]"

व्याख्या : उपपत्त्यादि पर्यन्ताज्ञानं चेति। आदिशब्देन च्युतिपर्यन्ताज्ञानम्, अर्थात् [(शारिपुत्र को) (कपोत···की)] उपपत्ति और च्युति के पर्यन्त के विषय में अज्ञान था (६४५,१)।

दूसरों के अनुसार प्रत्येक सन्धि में यह बल होता है (सन्धिष्वन्ये)।[1] दार्ष्टान्तिक स्थविर भदन्त धर्मगुप्त कहते हैं कि काय बल मानस बल के समान है, अर्थात् अनन्त है : क्योंकि यदि अन्यथा होता तो भगवत् काय अनन्त ज्ञानबल को[2] सहन न कर सकता।

बुद्धों में नागग्रन्थि की संधियाँ होती हैं; प्रत्येक बुद्धों में शंकला-संधियाँ होती हैं; चक्रवर्तियों में शंकु[3] संधियाँ होती हैं।

नारायण बल का क्या प्रमाण है ?

प्राकृतहस्तिन्, गन्धहस्तिन्, महानग्न,[4] स्कन्दिन्, वरांग, चाणूर,

[७४] नारायण[5]—इनका एक समुदाय है। इनमें से प्रत्येक का बल अपने पूर्ववर्ती के बल से १० गुना अधिक है। १० प्राकृत हस्ती का बल एक गन्ध हस्ती के बल के तुल्य है। इसी प्रकार अन्य भी[6]। दूसरों के अनुसार पहले ६ के लिए यह नियम है किन्तु १० चाणूर एक अर्द्ध-नारायण के बराबर हैं और दो अर्द्ध-नारायणों का बल एक नारायण बल के बराबर है।

---

१. नारायणं बलं काये संधिष्वन्ये दशाधिकम्।
हस्त्यादिसप्तकबलं [स्प्रष्टव्यायतनम् च तत्]॥

योगसूत्र ३.२४- हस्त्यादि बल की प्राप्ति पर।

२. विभाषा, ३०,८—जैसा सूत्र में कहा है, बोधिसत्त्व के काय में नारायण का बल है। इस बल का प्रमाण क्या है ? कुछ कहते हैं—१६ वृषभ का बल एक वृषभ के (जिसके पैर की सन्धियों पर लम्बे रोम होते हैं,……) बल के बराबर होता है।

कुछ कहते हैं कि "यह प्रमाण बहुत छोटा है। बोधिसत्त्व के काय में १८ बड़ी सन्धियाँ होती हैं; इनमें से प्रत्येक में नारायण बल होता है……।"

महाभदन्त कहते हैं : "यह प्रमाण बहुत छोटा है। जिस प्रकार चित्तबल अनन्त है उसी प्रकार कायबल भी अनन्त है।"

हम कैसे जानते हैं ?……जब बोधिसत्त्व यह प्रणिधान करते हैं कि "मैं बोधि की प्राप्ति के बिना व्युत्थान नहीं करूँगा" तब साहस्रचूडिक लोकधातु ६ प्रकार से क्षुब्ध होते हैं। किन्तु बोधिसत्त्व के केश तक नहीं हिलते……।"

३. यह दूसरों के मत का व्याख्यान है : संधिष्वन्ये।—व्याख्या : सन्धिष्वन्य इत्युक्तम्। अस्थिसन्धिविशेषोपन्यासः। नागग्रन्थिरिति विस्तरः। नागग्रन्थिसंधयो बुद्धाः। नागपाशो नागग्रन्थिः। शंकलासंधयः प्रत्येक बुद्धाः। शंकुसधयश्चक्रवर्तिनः (६४५, ८)।

४. महानग्नों पर दिव्यं, ३७२, बुरनुफ, इण्ट्रोडक्शन, ३६३, लोटस्, ४५२, चाणूर कृष्ण का शत्रु है।

५. महाव्युत्पत्ति, २५२ में (जो कोश पर आश्रित है) : वरांग स्कन्दिन् के पूर्व पठित है।

६. परमार्थ के अनुसार १० के स्थान में १०० पढ़िए।

आचार्य के अनुसार बुद्ध कायबल के जो लक्षण दिये जाते हैं उनमें यह युक्त है जिसके अनुसार यह बल बहुतर है[1]।

बुद्ध के कायबल का स्वभाव स्प्रष्टव्य (स्प्रष्टव्यायतन) है। यह एक विशेष[2] स्वभाव के महाभूत हैं। दूसरों के अनुसार इसके विरुद्ध यह उपादाय रूप[3] है किन्तु यह उपादाय रूप श्लक्ष्णत्व आदि (१.१० डी) सात भौतिक स्प्रष्टव्यों से अर्थान्तर है।[4]

४ वैशारद्यों[5] के सम्बन्ध में :

[७५] वैशारद्यं चतुर्धा तु यथाद्यदशमे बले।
द्वितीये सप्तमे चैव स्मृतिप्रज्ञात्मकं त्रयम् ॥३२॥

---

१. मूल में 'यथा तु बहुतरं तथा युज्यते' है (६४५, २२)।

परमार्थ जोड़ते हैं : "क्यों ? क्योंकि बुद्धबल अप्रमेय है।"—व्याख्या : आचार्य पूर्व पक्ष का समर्थन करते हैं। अन्यथा बुद्धकाय अनन्त ज्ञा। बल को सहन नहीं कर सकता। यही कारण है।

२. महाभूतविशेष एव।

३. भौतिक, उपादाय रूप।

४. विभाषा में चार मत, संघभद्र में पाँच।

५. व्याख्या में उद्धृत सूत्र (एकोत्तर, १५, १५) अंगुत्तर २.८ के बहुत समीप है (वेसारज्ज) : चत्वारीमानि शारिपुत्र तथागतस्य वैशारद्यानि यैर्वैशारद्यैः समन्वागतस्तथागतोऽर्हन् सम्यक्सम्बुद्ध उदारमार्षभम् स्थानं प्रतिजानाति ब्राह्मं चक्रं (कोश, ६.५४) प्रवर्तयति पर्षदि सम्यक्-सिंहनादं नदति। कतमानि चत्वारि। सम्यकसंबुद्धस्य वत मे सत इमे धर्मा अनभिसंबुद्धा इत्यत्र मां कश्चिच्छ्रमणो वा ब्राह्मणो वा सहधर्मेण चोदयेत् स्मारयेत्। तत्राहं निमित्तमपि न समनुपश्यामि एवं चाहं निमित्तम् असमनुपश्यन् क्षेमप्राप्तश्च विहरामि अभयप्राप्तश्च वैशारद्यप्राप्तश्च उदारम् आर्षभम्······यह सूत्र विज्ञानकाय, २३.६, १३ ए में उद्धृत है : श्रमणो वा ब्राह्मणो वा देवो वा मारो वा ब्रह्मा वा······(६४५, ३०)।

मज्झिम १.५०१ के अनुसार सब अर्हत् वेसारज्जों से समन्वागत होते हैं; महावग्ग, १.६.३२ से तुलना कीजिए।

संयुक्त के अंश में, जे. आर. ए. एस. १६०७, पृ० ३७७ ओण गृहपति वैशारद्य प्राप्त है। (स्रोत: आपन्न की संज्ञा)।

किशोर सिंह में वैशारद्य होता है, बोधिचर्या ७.५५ ए।

बोधिसत्त्व के वैशारद्य महाव्युत्पत्ति, २८, दशभूमि, ८, मध्यमकावतार, ३२०।

यह तीन स्मृत्युपस्थान अपने स्वभाववश स्मृति और संप्रजन्य हैं।

वैशारद्य शब्द की निरुक्ति, वोगिहारा, बोधिसत्त्वभूमि (लाइपज़िक १६०८) पृ० ४१।

३२ ए-सी. वैशारद्य चतुर्विध हैं; यह प्रथम, दशम, द्वितीय और सप्तम बल के तुल्य हैं।

बुद्ध ४ वैशारद्य से समन्वागत हैं। सूत्र में इनकी व्याख्या की गयी है।

१. प्रथम बल (स्थानास्थान ज्ञानबल) के समान पहला वैशारद्य, सर्वधर्माभिसंबोधि वैशारद्य है : यह १० ज्ञान हैं। सब भूमियाँ इसके संनिश्रय हैं।

२. १०वें बल (आस्रव क्षय ज्ञानबल) के तुल्य दूसरा वैशारद्य, सर्वास्रवक्षयज्ञान वैशारद्य है : यह ६ या १० ज्ञान हैं, इसकी ६ भूमियाँ हैं।

३. द्वितीय बल (कर्म विपाक ज्ञानबल) के तुल्य तीसरा वैशारद्य, अन्तरायिक धर्मव्याकरण वैशारद्य[1] है : ये ८ ज्ञान हैं और सब भूमियाँ इसका संनिश्रय हैं।

४. ७वें बल (सर्वत्रगामिनी प्रतिपज्ज्ञान बल) के तुल्य चतुर्थ वैशारद्य, नैर्याणिक प्रतिपद् व्याकरण वैशारद्य है : ये १० या ९ ज्ञान हैं और सब भूमियाँ इसका संनिश्रय हैं। ज्ञान कैसे वैशारद्य की संज्ञा प्राप्त कर सकते हैं? वैशारद्य का अर्थ 'निर्भयता' है। इन ज्ञानों के कारण, इस कारण कि वे जानते हैं कि मैंने सब धर्मों का ज्ञान प्राप्त किया है। सब आस्रवों का क्षय किया है, इत्यादि बुद्ध पर्षदों में भय से रहित होते हैं। (निर्भयो-भवति)। इसलिए वैशारद्य ज्ञान है। हमारे मत में वैशारद्य ज्ञानकृत है, इसलिए ज्ञान-स्वभाव नहीं है।[2]

[७६] बुद्ध के तीन स्मृत्युपस्थान क्या हैं?

३२ डी. यह तीन स्मृति संप्रज्ञानात्मक हैं।[3]

---

१. महाव्युत्पत्ति ८ का पाठ कुछ भिन्न है ·····

(३) आन्तरायिकधर्मानन्यथात्वनिश्चितव्याकरण······

(४) सर्वसंपदधिगमाय नैर्व्याणिकप्रतिपत्तथात्ववैशारद्य।

२. परमार्थ सहमत नहीं हैं : क्योंकि यह वैशारद्य ज्ञान से प्राप्त होते हैं, इसलिए ज्ञान को वैशारद्य कहते हैं।

तीन स्मृत्युपस्थानों को बुद्ध के आवेणिक धर्म क्यों मानते हैं? ४ वैशारद्यों में हेतु क्या है? अपनी अर्थचर्या और दूसरे की अर्थचर्या। पहले दो वैशारद्य स्वयं बुद्ध को उपयोगी हैं; अन्तिम दो दूसरों के लिए हैं अथवा चारों दूसरों के उपयोग में आते हैं क्योंकि वे शास्ता और देशना दोनों के सब आस्रवों का अपगम करते हैं।

३. =[स्मृति संप्रज्ञानात्मकं त्रयम् ॥]

विभाषा कहती है : यह तीन स्मृत्युपस्थान स्थानास्थान बल के, ६ सतत विहारों के (देखिए ३.३५ डी, अन्त में) अन्तर्गत हैं।

सूत्र[1] विस्तार से बुद्ध के तीन स्मृत्युपस्थानों को समझाता है :

१. जब सब श्रावक गौरव के साथ उनकी धर्मदेशना सुनते हैं, उसे स्वीकार करते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं तब उनको नन्दी और सौमनस्य नहीं उत्पन्न होता किन्तु वह पूर्ण स्मृति और संप्रज्ञान के साथ उपेक्षक भाव से विहार करते हैं।

२. जब सब श्रावक उनकी धर्मदेशना को नहीं सुनते, उसे स्वीकर नहीं करते और उसके अनुसार आचरण नहीं करते तब इससे उनको आघात या अक्षान्ति नहीं होती किन्तु वह पूर्ण स्मृति और संप्रज्ञान के साथ उपेक्षक वृत्ति रखते हैं।

३. जब उनके श्रावकों में से कुछ उनकी धर्मदेशना को सुनते हैं, स्वीकार करते हैं और उसके अनुसार आचरण करते हैं और दूसरे उनकी धर्मदेशना को नहीं सुनते, नहीं स्वीकार करते और न उसके अनुसार आचरण करते हैं तो उनको नन्दी या आघात नहीं उत्पन्न होता किन्तु वे पूर्ण स्मृति और संप्रज्ञान के साथ उपेक्षक भाव से विहार करते हैं।

[७७] किन्तु हीनक्लेश (आस्रव) श्रावक, जिनके शिष्य शुश्रूषा करते हैं, अथवा शुश्रूषा नहीं करते, अथवा शुश्रूषा करते भी हैं, नहीं भी करते, न नन्दी (नन्दी अनुनय) उत्पन्न करता है और न आघात (आघात=द्वेष=आनंच) क्योंकि बुद्ध ने नन्दी और द्वेष को उनकी वासना सहित प्रहीण किया है (सवासन प्रहाणात्)[2]। अथवा क्योंकि श्रावक बुद्ध श्रावक हैं : इसलिए यह आश्चर्य है कि बुद्ध उनकी शुश्रूषा या अशुश्रूषा से

---

१. त्रीणीमानि भिक्षवः स्मृत्युपस्थानानि यान्यार्यः सेवते। यान्यार्यं सेवमानोऽर्हति गणमनुशासयितुम्। कतमानि त्रीणि। इह भिक्षवः शास्ता श्रावकाणां धर्मं देशयति अनुकम्पकः कारुणिकोऽर्थकामो हितैषी करुणायमानः। इदं वो हिताय इदं वो सुखाय इदं वो हित-सुखाय। तस्य ते श्रावकाः शुश्रूषन्ते। श्रोत्रम् अवदधति आज्ञाचित्तम् उपस्थापयन्ति प्रतिपद्यन्ते धर्मस्यानुधर्मं प्रति न व्यतिक्रम्य वर्तन्ते शास्तुः शासने। तेन तथागतस्य न नन्दी भवति न सौमनस्यं न चेतस उत्प्लावितत्वम्। उपेक्षकस्तत्र तथागतो विहरति स्मृतः संप्रजानन्। इदं प्रथमं स्मृत्युपस्थानम्। यदार्यः सेवते यदार्यः सेवमानोऽर्हतिगणम् अनुशासयितुम्…
(६४६, ३४)।

जब श्रावकों का विपरीत भाव होता है, तथागतस्य नाचरतो भवति नाक्षान्तिर्ना-प्रत्ययो न चेतसोऽनभिराद्धिः। मज्झिम, ३.२२१ (बहुत समीप) और १.३७६ से तुलना कीजिए; महाव्युत्पत्ति, ११ (६४७, १२)।

उत्प्लावितत्वम्, देखिए बोधि चर्यावतार, पृ० १३, टि० ३, मनस उत्प्लवः= शिक्षासमुच्चय, १८३,६।

२. का पुनरियं वासना नाम। श्रावकाणां यो हि यत्क्लेशचरितः पूर्वं तस्य तत्कृतः कायवाक्चेष्टाविकारहेतुसामर्थ्यविशेषश्चित्ते वासनेत्युच्यते। अव्याकृतश्चित्त विशेषो वासनेति भदन्तानन्तवर्मा (६४७, २६)।

नन्दी या आघात का अनुभव नहीं करते; इसके विपक्ष में श्रावक उन श्रावकों के श्रावक नहीं हैं जिनसे वह धर्म का उपदेश लेते हैं[1]; इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि यह श्रावक नन्दी आघात का अनुभव नहीं करते।

महाकृपा संवृतिधीः संभाराकारगोचरैः।
समत्वा दाधिमात्र्याच्च नानाकारणमष्टधा ॥३३॥

३३. महाकरुणा लौकिक चित्त है। अपने संभार, आकार, गोचर, समत्व और अधिमात्रत्व के कारण यह महान् है। यह ८ कारणों से करुणा से भिन्न है।[2]

महाकरुणा का स्वभाव संवृत्तिप्रज्ञा लौकिक ज्ञान का है (७.२ बी)। अन्यथा यह करुणा (८.२९) की तरह अद्वेष स्वभाव (अद्वेषस्वभावा) की होगी; करुणा के समान यह त्रैधातुक सत्त्वों को आलम्बन नहीं बनायेगी, यह त्रिदुःखताकार न होगी।[3]

भगवान् की करुणा महान् क्यों है?

[७८] १. संभारवश (संभारेण); इसकी निर्वृति (समुदागम) वास्तव में महा-पुण्यसंभार और महाज्ञान संभार से होती है।[4]

२. आकारवश (आकारेण), जिस आकार में यह धर्मों को ग्रहण करती है उसके कारण : यह धर्मों को दुःखत्रय, दुःखदुःखता, परिणामदुःखता, संस्कार दुःखता (६.३)[5] के

---

१. बुद्धमुद्दिश्य प्रव्रजिनाहति (६४७, ३१)।

२. [महाकृपा संवृतिधीः संभाराकारगोचरात्।
समत्वादधिमात्रत्वान्नानाकरणमष्टधा ॥]

देखिए असंग, सूत्रालंकार, १७.४३; दिव्य, ३५९ (श्रावक की कृपा); दिव्य, ९६, १२५ के श्लोकों से तुलना कीजिए और (हूबर), सूत्रालंकार, पृ० २८४ से।

३. त्रिदुःखताकारा न सिद्ध्येत् (६४८, ६)।

४. दान-शील-क्षान्ति पारमिताएँ पुण्यसंभार हैं; प्रज्ञापारमिता ज्ञान संभार है।

ध्यान पारमिता पुण्यसंभार भागीय है क्योंकि यह ४ अप्रमाणों की भावना है (८.२९); यह ज्ञान संभार भागीय है क्योंकि यह ३७ बोध्यंग की भावना है (६. पृ० २८१)।

वीर्य पारमिता का भी व्यापार उभयत्र है। न हि विना वीर्येण दानं दीयते शीलं समादीयते क्षान्तिर्भाव्यत इति पुण्य संभारभागीयं वीर्यं भवति। तथा नान्तरेण वीर्यं प्रज्ञा भवति······(६४८, १५)।

यही दृष्टि महायान की है (जहाँ कहते हैं कि प्रज्ञा के कारण ही पारमिता पारमिता का व्यपदेश प्राप्त करती है), बोधि चर्यावतार, ९.१।

कब और कैसे बोधिसत्त्व पारमिताओं की चर्या करता है, कोश, ४.१११।

५. आकारेण। त्रिदुःखताकरणादिति (६४८, २२)।

यस्मात् तिसृभिरपि दुःखताकारैराकारयति न दुःखतयैव करुणावत्।

आकरण पर २.३४ बी, ६.१८ ए देखिए।

[क]ारण दुःखमय समझती है किन्तु करुणा केवल दुःखदुःखताकार से ही धर्मों का आकरण [क]रती है।

३. आलम्बनवश (आलम्बनेन), क्योंकि तीन धातुओं के सत्त्व इसके आलम्बन हैं।

४. समत्ववश (समत्वेन), क्योंकि सब सत्त्वों में उनके हित सुख के लिए इसकी [स]मवृत्ति होती है (संवृत्तित्वात्)।

५. अधिमात्रत्ववश, क्योंकि अन्य करुणा इससे तीक्ष्णतर नहीं है (ततोऽधिमात्र[त]राभावात्)[1] महाकरुणा, करुणा से भिन्न है।

१. स्वभाव में—करुणा अद्वेष है, द्वेष का अभाव है, महाकरुणा अमोह, मोह का [अ]भाव है (अद्वेषामोह स्वभावत्वात्)।

२. आकार में—करुणा एक दुःखताकार है: महाकरुणा त्रिदुःखताकार है [(]एक त्रिदुःखताकारत्वात्)।

[७६] ३. गोचर में—करुणा के आलम्बन एक धातु के सत्त्व हैं; महाकरुणा के [आ]लम्बन तीन धातुओं के सत्त्व हैं।

४. भूमि में—करुणा चतुर्ध्यानभूमिक[2] है; महाकरुणा चतुर्थध्यानभूमिक है (चतुर्ध्यान चतुर्थध्यान भूमिकत्वात्)।

५. सान्तिश्रय सन्तान में—करुणा श्रावक आदि[3] के सन्तान में उत्पन्न होती है; [म]हाकरुणा बुद्ध सन्तान में।

६. लाभ में—करुणा कामधातु वैराग्य से उपलब्ध होती है, महाकरुणा भवाग्र [वै]राग्य से (कामभवाग्रवैराग्यलभ्यत्वात्)।

७. परित्राण में—करुणा परित्राण नहीं करती; महाकरुणा परित्राण करती है (अपरित्राण-परित्राणतस्)।[4]

---

१. अधिमात्रत्व जो प्रधानतया संस्कार दुःखताकार से, प्रज्ञास्वभावता से उत्पन्न होता है।—प्रज्ञास्वभावतया तीक्ष्णतरत्वात् (६४८, २६)।

२. इस वाक्य में प्रथम ध्यान में अनागम्य और ध्यानान्तर भी गृहीत हैं। वास्तव में करुणाबद्धभूमिक है।

३. 'श्रवक आदि' से प्रत्येक और पृथग्जन का ग्रहण होता है।

४. करुणा से श्रावक केवल करुणा करते हैं (करुणायन्ते); उनको कृपा, ग्लानि उत्पन्न होती है: वे संसार-भय से परित्राण नहीं करते। किन्तु भगवत् महाकरुणा से करुणाकर महान् संसार-भय से परित्राण नहीं करते हैं···करुणया श्रावकादयः करुणायन्ते एव केवलम्। अनुग्लायन्त्येवेत्यर्थः (६४६, ८)।

८. करुणा में—करुणा अतुल्य करुणा है, यह केवल दुःखितों के लिए (दुःखितानामेव) होती है; महाकरुणा तुल्यकरुणा है, यह सब सत्त्वों पर समान रूप से करुणा करती है (तुल्यातुल्य करुणायनात्) ।

हमने बुद्धों के आवेणिक धर्मों का जो अन्य सत्त्वों से उनको विशिष्ट बताते हैं व्याख्यान किया है ।

क्या बुद्ध आपस में समान हैं ?

कुछ बातों में हाँ, कुछ बातों में नहीं ।

संभारधर्मकायाभ्यां जगतश्चार्थचर्यया ।
समता सर्वबुद्धानां नायुर्जातिप्रमाणतः ॥३४॥

३४. संभार, धर्मकाय और अर्थचर्या में बुद्ध समान हैं । आयु, जाति, प्रमाण आदि में समान नहीं हैं ।[1]

---

१. संभारधर्मकायाभ्यां जगतश्चार्थचर्यया ।
समता सर्वबुद्धानां नायुर्जातिप्रमाणतः ॥

ए. बुद्धों के भेद, कोश, ४.१०२, अनुवाद पृ०, २१२; बोधिसत्त्वभूमि १.७, म्यूजिओं ६११, १७३ (आयु, नाम, गोत्र, काय); वास्सीलीफ्, २८८ (३१४)-कथावत्थु, २१.५ थेरवादिन् सरीर, आयु और वभा के सम्बन्ध में मतभेद (वेमत्तता) मानते हैं; अन्धक अन्य भेद भी स्वीकार करते हैं—

मिलिन्द, २८५ (बोधिसत्त्वों में कुल, काल, आयु, प्रमाण के विषय में भेद), नीचे पृ० ८१, टि० ३ देखिए ।

बी. वसुबन्धु ७.२८-३४ में बुद्ध संभार का निर्देश करते हैं, इस दृष्टि से कोश के निम्नस्थल द्रष्टव्य है :

१.१. बुद्ध और अन्य आर्यों के ज्ञान का भेद, सर्वज्ञता (कोश, ६ भी) । बुद्ध और बोधिसत्त्व भगवत् हैं ।

२.१०. आयु : संस्कार का उत्सर्ग : ४ मारों पर विजय ।

२.४४, ७.४१ डी, ४४ बी, सर्वगुण 'वैराग्य' से प्राप्त और स्वेच्छानुसार "सम्मुखीकृत" ।

२.४४, ६.२४ ए : ३४ क्षण में बोधि जय ।

२.६२. अनागत ज्ञान ।

३.६४. बुद्धोत्पाद का काल

४.१२. अव्याकृतचित्त "नित्यसमाहितचित्त", नाग ।

४.३२. बुद्ध पूजा (Cult) ।

४.३२. धर्मकाय, शरण, रूपकाय ।

[८०] पूर्व जन्मों में तुल्य पुण्य सम्भार और ज्ञान सम्भार के समुदागम में

[८१] (पूर्व पुण्य ज्ञान सम्भार समुदागमनम्) एक ही धर्म काय की परिनिष्पत्ति में (धर्मकाय परिनिष्पत्तितस्)[1] परार्थ हेतु से तुल्य रूप में अर्थचर्या के सम्पादन में

४.७३. स्तूप को अर्पित दान का स्वीकरण।

४.१०२. उसके पूर्व कर्मों का विपाक।

४.१०२. संघभेद।

४.१०६ बोधिसत्वों की साक्षी, उनके चित्त का आलम्बन।

४.१०६. ७.३०, ३७, ४२. बुद्ध स्मृति।

४.१२१. चैत्यपूजा (Cult)।

६.५६. समापत्ति सुख परिहाणि।

८.२८ चतुर्थ ध्यान से बोधि लय।

सी. बोधिसत्त्व पर और विशेष करके अनागत बुद्ध शाक्य मुनि पर :

३.६४, ४.१०८-११२, उत्पाद, प्रणिधान, पारमिता समादान (४.११७), चर्याकाल [क्योंकि बोधिसत्त्व स्वभावतः दानशील होते हैं, ३.६४ ए), लक्षण, अनुव्यंजन का विकास।

४.१०६. बोधिसत्त्व-मारण।

६ २३. यान-विवर्तन, बोधिसत्त्व की तिर्यक्-उत्पत्ति।

अन्तिम जाति, ३ ९. जरायुज और क्यों (धात्वादि);

१३ ए, हस्त्याकृति; १७ ए, गर्भावक्रान्ति आदि के समय विज्ञान; ४१, पृथग्जन, जब तक कि वृक्ष के नीचे बोधि नहीं प्राप्त करते।

५३ डी, वज्रासन; ८५ ए अकाल मरण से विनिर्मुक्त, [कारण प्रज्ञाप्ति, कास्मोलोजी, पृ० ३२७ के अनुसार लक्षण-व्यंजनों की व्याख्या; ३३१, पुष्पवर्षा; ३३२, ३३४, गर्भावस्थिति; ३३३, जन्म के समय प्रातिहार्य; ३३५, बुद्ध के केवल एक पुत्र क्यों है, वह उच्चकुल में क्यों जन्म लेते हैं, वह अमुक द्वीप में क्यों नहीं जन्म लेते, इत्यादि।—बोधिसत्त्व की माता के विषय में, ७ वें दिन मृत्यु, ३३१, ३३७, शरण्य, अग्नि आदि से सुरक्षित]।

[1] अनास्रवधर्मसन्तानो धर्मकायः। आश्रय परिवृत्तिर्वा (व्याख्या)=' धर्मकाय अनास्रव धर्मों की सन्तति है (कोश, ४.३२) या आश्रय की परिवृत्ति है" (६४६, १५)।

आश्रय परिवृत्ति के कुछ उदाहरण, ४ ५५,—अनुवाद पृ० १२३; देखिए ८.३४ डी. —बुद्ध की माता के धर्मकाय पर, मार्ग प्रवृष्ट उपासक के धर्मकाय पर, हूबर, सूत्रालंकार, २१७, ३६०, दीघ, ३.८४ (अग्गञ्ञसुत्त); तथागतस्स हेतं वा सेट्ठं अधिवचनं धम्मकायो इति पि ब्रह्मकायो इति पि धम्मभूतो इति पि ब्रह्मभूतो इति पीति (टीका के अंश डायलाग्स, ३.८१ में) प्रायः धर्मकाय=आगमप्रवचनसमूह=द्वितीयरत्न, दिव्य, ३९६, प्रिशिलुस्की, अशोक, ३५९ आदि; बोधि, १.१।

(अर्थचर्या सम्पादनतस्)[1] बुद्ध समान हैं। किन्तु आयु, जाति, गोत्र, शरीर, प्रयाणादि में बुद्ध एक दूसरे से भिन्न हैं। जिस काल में उनका उत्पाद होता है उसके अनुसार उनका चिर या अल्प जीवन होता है; उसी के अनुसार वह क्षत्रिय या ब्राह्मण होते हैं; गौतम गोत्र या काश्यप गोत्र के होते हैं, उनका काय अनल्प प्रमाण या अल्पप्रमाण का होता है। 'आदि' शब्द सूचित करता है कि "बुद्धों का धर्म चिरस्थितिक या अल्पस्थितिक होता है जैसे विनेय सत्त्व, उनके उत्पाद क्षण में सरल या कुटिल होते हैं।"[2]

सब विचारशील सत्त्व जो तथागतों के सम्पत्ति त्रय (संपद्)[3] का विचार करते हैं निश्चय ही उनके लिए गम्भीर स्नेह और गम्भीर गौरव का उत्पाद करते हैं।

[८२] यह सम्पत्तित्रय हेतु सम्पद्, फलसम्पद्, उपकार सम्पद् है। हेतु सम्पद् पुण्य-ज्ञान-सम्भार है; फलसम्पद् काल क्षण धर्म काय है; उपकार सम्पद् का लक्षण जगत् की अर्थचर्या है (जगदर्थचर्या)।

१. हेतु सम्पद् चतुर्विध है : १. सर्वगुण-सम्भार-सर्वज्ञान सम्भार का अभ्यास;[4] २. दीर्घकालाभ्यास;[5] ३. निरन्तर अभ्यास[6]; ४. तीव्रादर के साथ अभ्यास।[7]

महायान हम केवल अभिसमयालंकार, ६.२-११ का उल्लेख करते हैं; जे. आर. ए. एस., १९०६, ९४३, बुरनुफ, इन्ट्रोडक्शन पृ० २२४ सि-यु-कि; भाग ४ के अन्त में।

१. स्वर्गापवर्गकारणमर्थो लोकस्य तस्य संवादनमर्थचर्या (व्याख्या) (६४९, १८)।

२. संस्कृत या तिब्बती कारिका में 'आदि' शब्द के होने की सम्भावना नहीं मालूम होती। परमार्थ : " 'आदि' शब्द सद्धर्म का स्थितिकाल, धातु आदि का विनाश या अलोप सूचित करता है। जिस काल में बुद्धों का उत्पाद होता है उसके कारण यह भेद उत्पन्न होते हैं।"

७ बुद्धों का काल, जाति, गोत्र, आयु, वृक्ष आदि महापदान-सुत्तन्त, दीघ, २,१ और दीर्घ १,८ में।—काश्यप का सद्धर्म ८ दिवस रहता है; शाक्यमुनि के सद्धर्म की अवधि १००० वर्ष है (८.३९ देखिए) कोश, ३.९३ ए।

३. 'संपत्' शब्द सुविधा के कारण प्रयुक्त हुआ है। यह यथार्थ नहीं है। कोश का अर्थ प्रायः बोधिसत्त्व भूमि में विशेष रूप से वर्णित महायान के सिद्धान्तों के प्रकाश में स्पष्ट होता है। (उदाहरण के लिए, प्रथम भाग, अध्याय पाँच, प्रभाव पर म्युजिओं, १९११, पृ० १५५)।

४. सर्वगुणज्ञानसंभाराभ्यासः गुण स्वभाव वश ५ पारमिता हैं; ज्ञानप्रज्ञा पारमिता हैं—अभ्यास=पुनः पुनः प्रयोगः (६४९, २५), (६४९, २७)।

५. दीर्घकालाभ्यास—त्रिभिरसंख्येयैर्महाकल्पैः। (४, पृ० २२४ में यह मत और स्पष्ट किया गया है)।—आनन्द का विचार है कि षड्वर्षीय ध्यान से यदि बुद्धत्व की कोई प्राप्ति करे तो उसने बड़ी सुगमता से बुद्धत्व की प्राप्ति की···(शावान, bings cents bontes, २.१००)। (६४९, २७)।

६. निरन्तराभ्यासः। अशान्तरतया (६४९, २८)।

७. सत्कृत्याभ्यासः। तीव्रादरतया (६४९, २८)।

२. फलसम्पद् चतुर्विध है क्योंकि धर्मकाय की परिनिष्पत्ति से चार सम्पत्ति, अर्थात् ज्ञानसम्पद्, प्रहाणसम्पद्, प्रभाव सम्पद् और रूपकाय सम्पद् होती हैं[1]।

ए. ज्ञान सम्पद् : १. अनुपदिष्टज्ञान[2]; २. सर्वत्रज्ञान[3] अर्थात् सर्व स्वलक्षणों का ज्ञान; ३. सर्वथाज्ञान[4], अर्थात् सर्व प्रकार का ज्ञान; ४. अयत्नज्ञान[5] अर्थात् इच्छामात्र से अवबोध।

[८३] बी. प्रहाणसम्पद् : १. सर्वक्लेश प्रहाण; २. अत्यन्त प्रहाण या अपरिहाणितः प्रहाण; ३. वासना सहित क्लेशों का प्रहाण, क्योंकि कोई अनुबन्ध नहीं रहता; ४. समाधि समापत्ति के आवरणों का प्रहाण, इससे बुद्ध उभयतो भाग विमुक्त (६·६४ ए) होते हैं।

सी. प्रभाव सम्पद् : १. बाह्य विषय के निर्माण, परिणाम और अधिष्ठान वशिता की सम्पद्[7];

---

१. धर्मकायपरिनिष्पत्त्या ज्ञानादिसम्पदश्चतस्रो भवन्ति (६४९, २९)।

२. अनुपदिष्टज्ञानं स्वयम् अभिसम्बोधनार्थेन (६५०, ३)।

३. सर्वत्र ज्ञानमिति निरवशेषस्वलक्षणावबोधनार्थेन (६५०, ४)।

४. सर्वथा ज्ञानमिति सर्वप्रकारावबोधनार्थेन। (व्याख्या) (६५०, ५)।

जापानी सम्पादक (जो फापू का अनुसरण करते हैं) की विवृति के अनुसार 'सर्वत्र ज्ञान' का अर्थ सदा अनित्यता आदि सामान्य लक्षणों का ज्ञान होता है—इस दृष्टि से प्रत्येक अर्हत् प्रत्येक धर्म को जानता है (व्याख्या, १.१५ पृ० ३९ देखिए : उसके लिए निर्वाण नहीं है जो प्रत्येक धर्म को नहीं जानता) : और सर्वथाज्ञान विशेष लक्षणों का ज्ञान है। यह बुद्ध का आवेणिक धर्म है। (मयूरपिच्छ पर श्लोक देखिए, व्याख्या १ पृ० ६ और कोश, ९ अनुवाद, शुआन चाङ्, ३० आगे १० ए)।—२९ आगे १७ ए से तुलना कीजिए।

विभाषा, ७४,७ की शिक्षा है कि १२ आयतनों के विषय में बुद्ध को सर्वत्र ज्ञान और सर्वथा ज्ञान दोनों होता है; शारिपुत्र में केवल प्रथम ज्ञान ही है जिसे उन्होंने शास्ता की देशना से प्राप्त किया है।

५. अयत्नज्ञानमिति इच्छामात्रावबोधनार्थेन (६५०, ५)।

६. प्रहाणसम्पद्—१. सर्वक्लेशप्रहाणमिति त्रैधातुकदर्शनभावनाहेयक्लेशोच्छित्तेः, २. अत्यन्तप्रहाणमित्यपरिहाणितः, ३. सवासनाप्रहाणमित्यनुबन्धाभावात्, ४. सर्वसमाधि-समापत्त्यावरण प्रहाणमित्युभयतोभागविमुक्तेः। (व्याख्या) वासना, ऊपर देखिए पृ० ७७।
(६५०, ६)।

७. वाह्यविषयनिर्माणपरिणामाधिष्ठानवशित्वसंपद्—व्याख्या : अपूर्वं वाह्य विषयोत्पादन = निर्माण; अश्मादीनां सुवर्णादिभावापादन परिणाम; दीर्घकालावस्थान = अधिष्ठान निर्माण; अधिष्ठान पर देखिए ७.४९, आगे) (६५०, ९)।

२. आयु के उत्सर्ग और अधिष्ठानवशिता की सम्पद्[1];

३. आवृतगमन, आकाशगमन, सुदूर-क्षिप्रगमन, अल्प में बहु का प्रवेश[2]—इनमें वशित्व-सम्पद् ।

४. विविध और स्वाभाविक आश्चर्य धर्मों की सम्पद्[3] ।

[८४] डी. रूपकाय सम्पद् : १. लक्षण सम्पद्; २. अनुव्यञ्जन सम्पद्; ३. बल-सम्पद्, अर्थात् नारायण बल की प्राप्ति (७.३१); ४. अध्यात्म के सम्बन्ध में शरीर सम्पात्, जिस शरीर की अस्थियाँ वज्रतुल्य हैं। (वज्रसारास्थि शरीरता सम्पद्); बाह्य के सम्बन्ध में, जिसके शरीर से विनिर्गत किरणें एक लक्ष सूर्य से भी आगे जाती हैं।

३. उपकार सम्पद् चतुर्विध है : १-३. तीन अपायों के दुःख से अत्यन्त निर्मोक्ष; ४. संसार दुःख से अत्यन्त निर्मोक्ष; अथवा १-३. तीन यानों में प्रतिष्ठित करना;

---

१. आयुष उत्सर्गेऽधिष्ठाने च वशित्वसंपद् ।—देखिए कोश, २ अनुवाद पृ० १२० ।

एकोत्तर, १८,१६ - बुद्ध शारिपुत्र से कहते हैं : "तुम एक कल्प या उसके लगभग क्यों नहीं अवस्थान करते ?"

शारिपुत्र उत्तर देते हैं : "भगवान् की आयु के सम्बन्ध में भी मेरा विचार है कि सत्त्वों का जीवन स्वल्प है। दीर्घायु १०० वर्ष से अधिक नहीं होता और क्योंकि सत्त्वों का जीवन अल्प है इसलिए तथागत का जीवन भी अल्प है। यदि तथागत एक कल्प तक अवस्थान करें तो मैं भी एक कल्प तक अवस्थान करूँ ।"

शारिपुत्र यह कैसे कह सकते हैं ? सत्त्व यह नहीं जान सकते कि तथागत की आयु दीर्घ है या अल्प। शारिपुत्र को जानना चाहिए कि तथागत के सम्बन्ध में चार अचिन्त्य बातें हैं। (अंगुत्तर, २.८०, सुमंगलविलासिनी, १.२२ के ४ 'अचिन्तेय्य' से तुलना कीजिए) ।

२. आवृताकाशसुदूरक्षिप्रगमन—अल्पबहुप्रवेश—वशित्वसंपद । —अल्पे बहूनां प्रवेशः = परमाणौ बहूनां हस्त्यादीनां प्रवेशः; संक्षेप - प्रथन (महायानग्रन्थ, जे० आर० ए० एस० १६०८, ४५) और दीघ, २.१०६ के प्रभाव से तुलना कीजिए (६२०, १५) (६५०, १४) ।

३. ए. विविधनिजाश्चर्यधर्मसम्पद् ।—यह बोधिसत्त्वभूमि का सहज प्रभाव है, म्यूजिओं १६११, १६१ (६१०, १२) (६५०, १८) ।

व्याख्या सूत्र को उद्धृत करती है : धर्मतैषा बुद्धानां भगवतां यत् तेषां गच्छतां निम्न-स्थलं च समीभवति यदुच्चं तन्नीचीभवति यन्नीचं तदुच्चीभवति अन्धाश्च 'दृशिं' प्रतिलभन्ते बधिराः श्रोत्रम् उन्मत्ताः स्मृतिम्...।

यह लगभग उन्हीं शब्दों में दिव्य, २५०-२५१ के चित्रारायाश्चर्याणि अद्भुत धर्माः हैं। मिलिन्द पृ० १७६ के लेख को देखिए।

बी. शुआन चाङ् यहाँ जोड़ते हैं : "अथवा दुर्विनय का विनयन; कठिन प्रश्नों का निर्देश; निरोध गामिनी देशना; मारधर्षण, तीर्थिकादि धर्षण ।"

४. सुगतियों में प्रतिष्ठित करना[1]। संक्षेप में (सामासिक=सांक्षेपिक) यह तथागत-सम्पद् है। यदि हम विस्तार करें तो कोई अन्त नहीं है। केवल बुद्ध भगवान्, यदि वे अनेक असंख्येय कल्प तक जीवन का अधिष्ठान करें, तो उनके सकल माहात्म्य को जान और कह सकते हैं (ज्ञातुं वक्तुं च समर्थाः)। इतना जानना पर्याप्त है कि बुद्ध अनन्त और अद्भुत गुण-ज्ञान-प्रभाव-उपकार से समन्वागत हैं और महारत्नों के आकर के समान हैं।

(६५०, ३१)।

किन्तु बाह्य पृथग्जनों में, जो गुणों में दरिद्र हैं (स्वगुण दारिद्र्येण) और जो अपने ऐसा अनुमान करते हैं कोई अधिमोक्ष नहीं होता। वे व्यर्थ ही बुद्ध के गुण सम्भार का माहात्म्य सुनते हैं और बुद्ध के लिए या उनके धर्म के लिए आदर नहीं करते[2]।

[८५] इसके विरुद्ध आर्य बुद्ध गुणों का व्याख्यान सुनकर बुद्ध और उनके धर्म के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करते हैं या 'शरणगमन' के लिए चित्तोत्पाद करते हैं। यह चित्त अस्थि-मज्जागत होता है। यह सत्पुरुष श्रद्धा मात्र[3] से अनन्त अनियत[4] विपाक कर्म का उल्लंघन करते हैं; वे प्रगति दैवी और मानुषी गति को प्राप्त होते हैं और अन्त में निर्वाण का लाभ करते हैं। इसीलिए तथागत बुद्ध जिनका इस लोक में उत्पाद होता है अनुत्तर पुण्य क्षेत्र हैं क्योंकि यह क्षेत्र अवन्ध्य, इष्ट (=दिव्य विपाक), प्रकृष्ट (प्रभूत), आशु (दृष्ट धर्म वेदनीय) और स्वन्त (=निर्वाण फलत्वात्) फल का देने वाला है। वास्तव में बुद्ध ने स्वयं यह श्लोक घोषित किया है : "यदि कोई बुद्ध-पुण्य क्षेत्र में स्वल्प कुशल मूल आरोपित करता है तो प्रथम वह सुगति को प्राप्त होता है और अन्त में निर्वाण का लाभ करता है। (एकोत्तर, २४, १५)।[5]

---

१. अपायत्रयसंसारदुःखात्यन्तनिर्मोक्षसम्पद् यानत्रयसुगतिप्रतिष्ठापनसम्पद् वा। (भाष्य) व्याख्या : ये केचित् प्रसादजाताः सत्पुरुषा बुद्धं भगवन्तम् अस्ताविषुः स्तुवन्ति स्तोष्यन्ति सर्वे त एतया त्रिविधया सम्पदा (६४९, ३३)।

२. एवं च तावद् गुणज्ञानप्रभावोपकारानन्ताद्भुतमहारत्नाकरास्तथागताः। अथ च पुनर्बालाः स्वगुणदारिद्र्येणानुमानभूतेन हताधिमोक्षाः···बुद्धं नाद्रियन्ते (बुद्धे नादरं कुर्वन्ति) हताधिमोक्षाः=हतरुचि (६५० ३२)।

३. श्रद्धामात्रकेणाऽपीति निरधिगमेनेत्यर्थः। (अधिगम पर ८.३९ ए देखिए।)

(६५१, ४)।

४. नियत विपाक कर्म (४.५०) अलंघनीय हैं।

५. शुआन चाङ् के अनुसार—परमार्थ : "जो कोई इस लोक में उत्पन्न होकर बुद्ध क्षेत्र में स्वल्प पुण्य आरोपित करता है वह दैवी उपपत्ति ग्रहण कर निश्चित रूप से अमृत पद को पाता है।" किन्तु व्याख्या में इस प्रकार है : कारानित्युपकारान् पूजादिकान्, इसलिए वसुबन्धु यहाँ दिव्य, पृ० १९६ का यह श्लोक उद्धृत करते हैं : येऽल्पानपि जिने कारान

हमने तथागत के आवेणिक धर्मों की व्याख्या की है।

शिष्यसाधारणा अन्ये धर्माः केचित् पृथग्जनैः।
अरणाप्रणिधि ज्ञानप्रतिसंविद् गुणादयः ॥३५॥

३५. बुद्ध के अन्य धर्म शैक्ष और पृथग्जनों को सामान्य हैं :
अरणा, प्रणिधिज्ञान, प्रतिसंविद्, अभिज्ञा आदि।

भगवान् के गुण असंख्य हैं। यह या तो अन्य आर्यों को सामान्य हैं या

[८६] पृथग्जनों को भी सामान्य हैं : अरणा, समाधि, प्रणिधिज्ञान, ४ प्रतिसंविद्, अभिज्ञा, ध्यान, आरूप्य, ८ समापत्ति, तीन समाधि, ४ अप्रमाण, ८ विमोक्ष, ८ अभिभ्वायतन, १० कृत्स्नायतन, आदि—पहले तीन बुद्ध और आर्य दोनों को सामान्य हैं; अभिज्ञा, ध्यान आदि पृथग्जनों में भी हो सकते हैं।

अरणा [अर्थात् वह सामर्थ्य जो दूसरों में क्लेश को नहीं उत्पन्न होने देता][1] के सम्बन्ध में—अर्हत् जानते हैं कि सत्त्वों का दुःख क्लेशजनित होता है; वह जानते हैं कि

करिष्यन्ति विनायके। विचित्रं स्वर्गमागम्य लप्स्यन्तेऽमृतं पदम्। (दिव्य, १२ पर लेवि, तुङ् पाओ, १९०७, पृ० १०७) (७५१, १० ।

१. रण=क्लेश=रणयति क्लेशयतीत्यर्थ। अरणाविहारिन् दिव्यं में और पालि-**ग्रन्थों में (जे० पी० टी० एस० १८९१, ३) (६५१, २१)।**

ए. कोश १.८ देखिए। इसके भाष्य में है। रणा हि क्लेशा आत्मपरव्याबाधनात्। **इसकी व्याख्या इस प्रकार है : ये हि आत्मानं परांश्च व्याबाधन्ते ते रणा युद्धानीत्यर्थः,।**

'रण' तीन हैं : स्कन्ध रण, वाग्रण, क्लेशरण।

कोश १. अनुवाद पृ० १३, के हवालों में "मैत्री और अरणा जोड़िए, बेल्जियम की **विज्ञान अकादमी, अप्रैल १९२१; कोश** ४ ५६; **बोधिसत्त्वभूमि**, आगे ३७ बी और ८३ ए; **सूत्रालंकार**, २०.४५, **शरच्चन्द्र दास**, ११६४।

बी. विभाषा पाँच उपायों का उल्लेख करती है जिनके द्वारा अर्हत् दूसरों में क्लेशोत्पत्ति को नहीं होने देता : १. ईर्यापथ (गमन आदि) की ि-शुद्धि; २. क्या कहना आवश्यक **है, क्या नहीं, इसका ज्ञान** ' ५. भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करने के पूर्व वह इसकी **परीक्षा करता है कि पुरुष या स्त्री उसके कारण क्लेश** उत्पन्न कर सकते हैं या नहीं।

सी. महायान का मत, उदाहरण के लिए, नाञ्जयो ११८३, कोश से **भिन्न है :** "**प्रत्येक बुद्ध केवल सवस्तुक क्लेशों** का उत्पाद रोक सकता है, **बुद्ध** सब **क्लेशों** की उत्पत्ति **को रोक सकते हैं** ' **बुद्ध निर्मितों** का उपयोग करते हैं···।"

डी. श्रावक और बुद्ध के अरणा की व्याख्या **अभिसमयालंकार** ६.७ में दी है :

श्रावकस्यारणा दृष्टनृक्लेशपरिहारिता।
तत्क्लेशस्रोत-उच्छित्यै ग्रामादिषु जिनारणा ॥

वे स्वयं अनुत्तर पुण्य क्षेत्र हैं (४·१०३, ११७ ए); उनको यह भय है कि कहीं दूसरे उनको देखकर उनके विषय में क्लेश न उत्पन्न करें [जो विशेष करके उनको हानि पहुँचाते]।[१]

[८७] वे इसलिए इस स्वभाव के ज्ञान का साक्षात्कार करते हैं जिससे किसी में उनके लिए राग, द्वेष,—मानादि न उत्पन्न हों, यह संस्कार, यह ज्ञान, सत्त्वों में इस क्लेशभूत रण-विग्रह, युद्ध, आस्रव और दुःख हेतु का अन्त करता है : इसलिए इसे अरणा कहते हैं।

उस समाधि के लक्षण क्या हैं जिसे अरणा समाधि कहते हैं ?

सवृतिज्ञानमरणा ध्यानेऽन्त्येऽकोप्यधर्मणः।
नृजानुत्पन्न-कामाप्तसवस्तुक्लेश गोचराः ॥३६॥

३६. अरणा संवृतिज्ञान है, चतुर्थध्यानभूमिक है; अकोप्य पुद्गल से उत्पादित होता है। यह कामधातु के अनागत सवस्तुक क्लेशों (रणों) को आलम्बन बनाता है।[२]

यह विशेष रूप से संवृति का ज्ञान है क्योंकि उसके आलम्बन से यह ज्ञान उत्पन्न होता है। चतुर्थ ध्यान, जो सुख प्रतिपत्तियों में श्रेष्ठ है (सुखप्रतिपदामग्रत्वात्, ६·६६), इसका संनिश्रय है। अकोप्यधर्मा अर्हत् (६·५६) ही, दूसरे नहीं, इसको उत्पन्न करते हैं क्योंकि दूसरे अपने विशेष क्लेशों का आत्यन्तिक परिहार (परिहर्तुं) नहीं कर सकते—उनकी परिहाणि की सम्भावना है। इसलिए तो वह और भी दूसरों के क्लेशों को उत्पन्न होने से नहीं रोक सकते। पुरुष इस अरणा का उत्पाद करते हैं क्योंकि केवल मनुष्य गति का सत्त्व ही इसकी भावना तीन द्वीपों में कर सकता है।

इसका गोचर कामधातु का अनुत्पन्न "सवस्तुक" अन्य क्लेश है : "दूसरे के क्लेश मेरे ग्राहक में न उत्पन्न हों !"—

सवस्तुक क्लेश भावना प्रहातव्य (६·५८) राग-द्वेषादि हैं। दूसरे के अवस्तुक क्लेशों का उत्पाद (६·५८) जो दर्शन प्रहातव्य हैं रोका नहीं जा सकता क्योंकि सर्वत्रग

श्रावक की अरणा समाधि : "मेरे दर्शन से किसी में क्लेश की उत्पत्ति न हो ! (मास्मादृर्शनात् कस्यचित् क्लेशोत्पत्तिः स्यात्)" किन्तु तथागत की अरणा समाधि : "ग्रामादि में सब सत्त्वों के क्लेश स्रोत को सुच्छिन्न करते हैं।"

१. जो अर्हत् का वध करता है वह आनन्तर्य कर्म करता है यद्यपि वह नहीं जानता कि यह अर्हत् है, ४·१०३; जो भिक्षु अपने से छोटे भिक्षु का, जिसके अर्हत् गुण की वह उपेक्षा करता है, पराभव करता है वह ५०० बार दास होकर जन्म लेता है।

२. संवृतिज्ञानमरणा ध्यानान्त्येऽकोप्यधर्मणः।
[नृजानुत्पन्नकामाप्तसवस्तुरणगोचरा ॥]

क्लेश (५·१२) जो सकल स्वभूमि को आलम्बन बनाते हैं वह पर सन्तति को भी आलम्बन बनाते हैं।[1]

[८८] ऐसी अरणा है।

तथैव प्रणिधिज्ञानं सर्वालम्बं तु तत्तथा।
धर्मार्थयोर्निरुक्तौ च प्रतिभाने च संविदः ।।३७।।

३७ ए-बी. ऐसा ही प्रणिधि ज्ञान भी है किन्तु सब इसके आलम्बन हैं।[2]

अरणा के समान प्रणिधि ज्ञान का स्वभाव भी संवृति ज्ञान का है; अरणा के समान चतुर्थ ध्यान इसका संनिश्रय है, यह अकोप्य की सन्तति में उत्पन्न होता है; मनुष्य जाति में उत्पन्न सत्त्व ही इसकी भावना करते हैं, किन्तु यह अरणा से इसमें भिन्न है कि यह सब धर्मों को आलम्बन बनाता है।[3]

किन्तु[4] वैभाषिक कहते हैं कि आरूप्य धातु के धर्म प्रणिधि ज्ञान से साक्षात् नहीं जाने जाते। चतुर्थ ध्यान भूमिक होने के कारण यह ज्ञान ऊर्ध्वभूमि को आलम्बन नहीं बनाता।

यह धर्म अनुमान से जाने जाते हैं। वास्तव में हम १. आरूप्य का निष्यन्द अर्थात् मन्दमन्दता जो पूर्व आरूप्योपपत्ति का अपर उपपत्ति में परिणाम है; २. आरूप्य का चरित अर्थात् आरूप्य समापत्ति का विहार (चर्या) जो आरूप्य भव का उत्पाद करता है,

---

१. व्याख्या : सर्वत्रगाः सकलस्वभूम्यालम्बनत्वात्। परसन्तत्यालम्बना भवन्ति इति परिहर्तुमशक्याः सर्वत्रगा।—(६५१, २५)।

परमार्थ : सर्वत्रगाणां सकल स्वभूमिमालम्ब्योत्पादात् परिहर्तुम् अशक्या अवस्तुकाः —अर्हत् इस प्रकार आचरण करता है जिसमें दूसरे उससे द्वेष न करें किन्तु इससे उस दूसरे के द्वेष का उन्मूलन नहीं होता। अर्हत् इस प्रकार आचरण नहीं कर सकता जिसमें दूसरा उसके लिए सत्काय दृष्टि न रखे क्योंकि दूसरे में यदि सत्काय दृष्टि है तो वह सब 'आश्रयों' के लिए है।

२. =[तथापि प्रणिधिज्ञान सकल] आलम्बनं तु तत्।

अभिसमयालंकार, ७.८ : अनाभोगम् अनासंगम् अव्याघातं सदास्थितम्। सर्वं प्रश्नापनुद्बौद्धं प्रणिधिज्ञानमिष्यते ।।

प्रणिधिज्ञान पर २.६२ ए, पृ० ३०३, ६.२२ सी, पृ० १७२, ६ (शुआन चाङ् २६.६ ए); महाव्युत्पत्ति, ४८, ५२।

३. नारणावत् क्लेशमात्रालम्बनं किं तर्हि रूपाद्यालम्बनमपि (६५१, ३०)।

४. मैं व्याख्या के अनुसार भाष्य का अर्थ करता हूँ। भाष्य में केवल इतना है : आरूप्यास्तु न साक्षात् प्रणिधिज्ञानेन ज्ञायन्ते। निष्यन्दचरितविशेषात्। कर्षक-निदर्शनं चात्रेति वैभाषिकाः (६५१, ३१)।

जानते हैं। हम कारण से कार्य का और कार्य से कारण का अनुमान करते हैं। जैसे कृषक फल से बीज को और बीज से फल को जानता है उसी प्रकार शान्त मूर्ति सत्त्व को देखकर यह अनुमान होता है (अनुमिनोति) कि "यह सत्त्व आरूप्य धातु से च्युत हो उत्पन्न हुआ है और आरूप्य में इसकी उपपत्ति होगी।"

[८६] यह वैभाषिक मत है। दूसरों का विचार है कि प्रणिधि ज्ञान आरूप्य को आलम्बन बनाता है क्योंकि बुद्धों का कोई अविषय नहीं है।[1]

जो प्रणिधि ज्ञान का उत्पाद करना चाहता है वह किसी आलम्बन के ज्ञान को सम्मुख रखकर प्रणिधिपूर्वक (आभोगपूर्वकम्=प्रणिधाय, आभुज्य) आरम्भ करता है। वह चतुर्थ प्रान्त कोटिक ध्यान में प्रवेश करता है (८,४१ ए): ऐसा प्रयोग है। ध्यान से व्युत्थान कर वह तत्काल अपनी प्रणिधि के अनुरूप यथार्थ ज्ञान का उत्पाद करता है और इसका विषय समापत्ति बल के अनुसार होता है।[2]

---

१. न हि बुद्धानामस्त्यविषय इत्यभिप्रायः (६५२, ८)।

विभाषा, १७६ ४—क्या प्रणिधिज्ञान अनागत को जानता है?

कुछ लोग कहते हैं कि अतीत और प्रत्युत्पन्न से यह अनागत का अनुमान करता है (=तुलना करता है—जानता है) जिस प्रकार एक कृषक बीज से निश्चित रूप से अनुमान करता है कि इस प्रकार का फल होगा। कुछ का कहना है कि यदि ऐसा है तो प्रणिधिज्ञान अनुमान है, प्रत्यक्ष नहीं। इतना कहना आवश्यक है कि प्रणिधिज्ञान प्रत्युत्पन्न हेतु से फल को नहीं जानता और न प्रत्युत्पन्न फल से हेतु को जानता है: इसलिए यह प्रत्यक्ष है, अनुमान नहीं। (कोश, २.६२, पृ० ३०३ से तुलना कीजिए)। अंगुत्तर ४.४०२, भगवान् कैसे जानते हैं कि देवदत्त की निरय गति है; भगवान् की सर्वज्ञता पर पटिसंभिदामग्ग, २.१६४-१६५ देखिए।

आर्यदेव : चतुःशतिका २५७ (Memoirs As. Soc. Bengal,…१६१४, पृ० ४६२) की व्याख्या : अनागतार्थालम्बनं योगिनां प्रणिधिज्ञानम्। यथार्थम्…तात्त्विकया कल्पनया दृश्यतेऽनागतो भावः।

कथावत्थु, ५.८ (अनागत ज्ञान : अन्धक)

२. यावांस्तत्समाधि विषय इति : अर्थात् श्रावक जानता है कि उसका कितना विषय है…(७.५५ और अन्यत्र) (६५२, ११)।

३. ऐसा प्रतीत होता है कि चार प्रतिसंविद् वह ज्ञान है जो एक उत्कृष्ट उपदेष्टा में होने चाहिएँ।—बुरनुफ़, लोटस्, ८३८-८४२ (प्रतिसंविद्=स्पष्ट ज्ञान); चाइल्डर्स, ३६६; स्पेंस हार्डी, मैनुअल, ४६८; कथावत्थु के अनुवाद के परिशिष्ट में एक मूल्यवान् टिप्पणी है, पृ० ३७७-३८२।

'पटिसंभिदा' तात्त्विक ज्ञान के सामान्य अर्थ में लिया जाता है, उदाहरण के लिए; पटिसंभिदामग्ग।

३७ सी-डी. इसी प्रकार धर्म, अर्थ, निरुक्ति, प्रतिभान, प्रतिसंविद् ।[1]

[६०] प्रतिसंविद् ४ हैं—धर्म, अर्थ, निरुक्ति, प्रतिभान, वह अरणा समाधि के समान इस बात में हैं कि वह केवल अकोप्य धर्म मनुष्याश्रय में पाये जाते हैं। किन्तु वह उनसे आलम्बन, भूमि और स्वभाव में भिन्न हैं ।

तिस्रो नामार्थ वाग्ज्ञानमविवर्त्य यथाक्रमं ।
चतुर्थी युक्तमुक्ताभिलापमार्गवशित्वयोः ।।३८।।

३८ ए-बी. पहले तीन असंग ज्ञान (अविवर्त्य) हैं। यह यथाक्रम नामन्, अर्थ, वाच् को आलम्बन बनाते हैं ।[2]

---

१. पटिसंभिदा, पटिसंभिदामग्ग, १.११९, विभंग, २९३, ३३१ निद्देस, २३४ (रोचक), विसुद्धिमग्ग, ४४०-४४३; ४ प्रतिसंविद्, दशभूमिक, ९वीं भूमि (बहुत भिन्न व्याख्याएँ); बोधिसत्त्वभूमि, तृतीयभाग; धर्मसंग्रह, ५१, महाव्युत्पत्ति, १३, सूत्रालंकार, १८.३४-३७, २०.४७।

(तीसरा विविध देशों की भाषाओं का ज्ञान है)।

अर्थ और धर्म ७.३९ सी-डी में व्याख्यात हैं।···

तेषु धर्मेष्वर्थ प्रतिसंवेदी भवति धर्म प्रतिसंवेदी···।

व्याख्या, १ पृ० ५६, बोध, ३.२४१—धर्मानुसारिन्, कोश, ६-२९ ए-बी।

२. ए. परमार्थ: तिस्रोनामार्थ वाक्षु यथाक्रममसंगम् (अविवर्त्यं) ज्ञानम् ।

प्रतिसंविद् का चीनी में इस प्रकार अनुवाद किया है=असंग व्याख्यान, असंग ज्ञान।

हम पूछ सकते हैं कि कारिका में अविवर्त्यम् है या असंगम् ।

भाष्य में, व्याख्या (नीचे पृ० ९१, टि० २ ए देखिए)।

और परमार्थ की साक्षी के अनुसार, निश्चय ही 'अविवर्त्य ज्ञान' है। इसके अतिरिक्त व्याख्या (३७ सी-डी की व्याख्या) में इस शब्द पर यह विवृत्ति है: अविवर्त्ति इत्यशक्यम् विवर्तयितुम् (६५२, २०)।

किन्तु (=असंगम् और नीचे ३८ सी-डी में) प्रतिभान का विशेषण मुक्त=असक्त है। बोधिसत्त्वभूमि (नीचे) में असक्तमविवर्त्यम् है। असंगम् (=असक्तज्ञानम्) का अर्थ बोधिसत्त्वभूमि में दिये हुए 'बोधि' के लक्षण से निश्चित है।—बोधि शुद्ध ज्ञान, सर्वज्ञान और असंगज्ञान है: वह ज्ञान जो आभोग मात्र से (आभोगमात्रेण) (अर्थात् सुगमता के साथ विसदृश चित्त करने से) बिना बार-बार आभोग किये, न पुनः पुनराभोगं कुर्वतः (बोधिसत्त्वभूमि, १.७ म्यूजिओं, १९११, पृ० १७०) प्राप्त होता है।

बी. बोधिसत्त्वभूमि, आगे १०० ए (१, १७.३): यत् सर्वधर्माणां सर्वपर्यायेषु यावद्भाविकतया यथावद्भाविकतया च (देखिए ६, पृ० २४७, टिप्पणी) भावनामयमसक्तमविवर्त्यं ज्ञानमियमेषां [बोधिसत्त्वानां] धर्मप्रतिसंवित् । यत्पुनः सर्वधर्माणां सर्वलक्षणेषु···

[६१] धर्म प्रतिसंविद् नाम पद व्यंजन कार्यों (२·४७ ए) का अविवर्त्य ज्ञान है।[१]

अर्थ प्रतिसंविद् अर्थ का अविवर्त्य ज्ञान है।

निरुक्ति प्रतिसंविद् अर्थ का अविवर्त्य ज्ञान है।

३८ सी-डी. चतुर्थ प्रतिसंविद् युक्त और मुक्त (असक्त) अभिलाप का ज्ञान और मार्गवशिता है।[२]

इयमेषाम् अर्थप्रतिसंवित्। यत् पुनः सर्वधर्माणाम् एव सर्वनिर्वचनेषु···इयम् एषां निरुक्ति-प्रतिसंवित्। यत्पुन सर्वधर्माणां एव सर्वप्रकारपदप्रभेदेषु···इयमेषां प्रतिमान-प्रतिसंवित्।

इन चार के कारण स्कन्धकौशलम्, धात्वायतनकौशलम्, प्रतीत्यसमुत्पाद-स्थानास्थान-कौशलम्।

इन चार के कारण धर्म सुविज्ञात और सूपदिष्ट होते हैं।

१. यहाँ धर्मदेशना है देशना-धर्म है, जैसा कि कहा है : "हे भिक्षुओ ! मैं तुमको धर्म की देशना करूँगा यह धर्म आदि में कल्याण का करने वाला, मध्य में कल्याण का करने वाला और पर्यवसान में कल्याण का करने वाला है इसका अर्थ सुन्दर है, इसके व्यंजन सुन्दर हैं। मैं केवल परिपूर्ण, परिशुद्ध पर्यवदात ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करूँगा।" [धर्म क्या है ? 'आर्य अष्टांगिक मार्ग।" इस वाक्य में प्रतिपत्ति धर्म है। "धर्म की शरण जाओ" इस वाक्य में फलधर्म=निर्वाण है। देखिए ४.३१, ६.७३ सी]।

इसके अतिरिक्त बुद्धवचन नाम या वाच है, देखिए कोश, १.२५, अनुवाद पृ० ४६।

२.=[चतुर्थी युक्तमुक्ताभिलापमार्गवशित्वयोः ॥]

ए. हम भाष्य का बिना किसी शंका के उद्धार कर सकते हैं : युक्तमुक्ताभिलापितायां समाधिवशि सम्प्रख्याने चाविवर्त्यं ज्ञानम्।

व्याख्या : युक्तमुक्ताभिलापितायामिति : युक्तमर्थसम्बद्धम्। मुक्तमसक्तम्। युक्तमुक्त-मभिलपति युक्तमुक्ताभिलापी तद्भावस्तस्यां युक्तमुक्ताभिलापितायाम् ॥ समाधौ वशी समाधिवशी। समाधिवशिनः संप्रख्यानमसम्मोषः समाधिवशिसंप्रख्यानम्। तत्र चाविवर्त्यं ज्ञानम् प्रतिमानप्रतिसंविदिति (६५२ २२)।

बी. अंगुत्तर, २.१३५ के युत्तमुत्त पटिभान को पुग्गल पञ्ञत्ति में समझाया है : 'युत्त-पटिभान' पुरुष प्रश्न का उत्तर ठीक देता है किन्तु शीघ्र नहीं देता; 'मुत्तपटिभान पुरुष प्रश्न का उत्तर शीघ्र देता है किन्तु ठीक नहीं देता; 'युत्तमुत्तपटिभान' पुरुष शीघ्र और युक्त उत्तर देता है।—दिव्य, ३२९, ४९३ का उपदेष्टा युक्तमुक्त प्रतिभान है; अवदान शतक, २.८१ का युक्तमुक्तप्रतिभाविन् और युक्तमुक्तविधानज्ञ है।

जो अविवर्त्य ज्ञान, अर्थ सम्बद्ध (युक्त=अर्थ सम्बद्ध) और असक्त (मुक्त= असक्त)[१] प्रकार से अपने को व्यक्त करने की शक्ति प्रदान करता है और जो समाधि वर्ण

[६२] का असम्मोष (संप्रख्यान=असम्मोष) (समाधिकारी संप्रख्यान) प्रदान करता है वह प्रतिभान प्रतिसंविद् है ।[२]

वाङ्मार्गालंबना चासौ नव ज्ञानानि सर्वभूः ।

दशषड् वार्थसंवित् सा सर्वत्रान्ये तु सांवृतं ॥३६॥

३६ ए-बी. उसका आलम्बन वाक् और मार्ग हैं; यह ६ ज्ञान हैं ।[3]

इस प्रतिसंविद् के आलम्बन सम्यग्वाक् और मार्ग हैं। इस प्रतिसंविद् का स्वभाव निरोध ज्ञान को छोड़कर शेष ६ ज्ञान का है ।

३६ बी. यह सर्वभूमिक है ।[४]

कामधातु से भवाग्र तक सब भूमियों का संनिश्रय ले योगी इसका उत्पाद करता है क्योंकि इसका आलम्बन वाक् है या मार्ग ।

३६ सी. अर्थ प्रतिसंवित् १० या ६ ज्ञान हैं ।

यदि अर्थ से सब धर्मों का अभिप्राय है तो उस अवस्था में अर्थ प्रतिसंवित् का स्वभाव १० ज्ञान का है किन्तु यदि इसका अर्थ निर्वाण है तो यह ६ ज्ञान हैं : धर्म, अन्वय, निरोध, क्षय अनुत्पाद और संवृतिज्ञान ।[५]

३६ डी. यह सर्वत्र उत्पन्न होती है ।

अर्थात् किसी भूमि को भी संनिश्रय बनाकर ।

[क्या इसकी तुलना महाभारत, १८ ६, २१ के असंसक्ताक्षर पद से करना चाहिए । हॉपकिन्स, ग्रेट इपिक, ३६४ ?]

मैं पालि के अनुसार 'मुक्त' का अनुवाद 'सुगम' 'बिना कठिनता के' करता हूँ । परमार्थ: "व्याघात दोष से विनिर्मुक्त" ।

१. नीचे देखिए पृ० ६४, १.२ ।

२. प्रतिभान के अर्थ के लिए महावस्तु, १.५११, अवदानशतक, १.४८, १०; २ ५०, १२.८१ ।

३. =[तदालम्बनं वाग्मार्गौ ज्ञानानि नव] ।

जब वाक् इसका आलम्बन होती है (वागालम्बता) तो इसका स्वभाव दुःख, समुदय, धर्म, अन्वय, क्षय, अनुत्पाद, संवृति ज्ञान का होता है । जब मार्ग इसका आलम्बन होता है तो इसका स्वभाव मार्ग, धर्म, अन्वय, क्षय, अनुत्पाद, परचित्त, संवृतिज्ञान का होता है ।

४. =[सर्वभूः] ।

५. सर्वधर्माश्चेदर्थो दशज्ञानानीति न हि सोऽस्ति धर्मो यो दशानां ज्ञानानां यथासंभवं नालम्बनीभवति । निर्वाणं चेदर्थः षड्ज्ञानानि (६५२, ३०) ।

[63] अन्य संवृति ज्ञान हैं।

दो प्रतिसंविद् (धर्म और निरुक्ति) संवृति ज्ञान हैं क्योंकि उनके आलम्बन नामकाय आदि और वाक् हैं।[1]

कामध्यानेषु धर्मे विद् वाचि प्रथमकामयोः।
विकलाभिनं तल्लाभो षडेते प्रान्तकोटिकाः ॥४०॥

४०. कामधातु और ध्यानों में धर्म प्रतिसंविद्।

इसलिए यह पंचभूमिक है। ऊर्ध्वभूमियों में नामकाय का अभाव है [और इसलिए पदकाय और व्यंजनकाय का भी]।[2]

४० बी. काय और प्रथम ध्यान में वाक् प्रतिसंविद्।

निरुक्ति प्रतिसंविद् की भूमि कामधातु और प्रथम ध्यान हैं क्योंकि ऊर्ध्वभूमियों में वितर्क का अभाव है।[3]

प्रज्ञप्ति पाद शास्त्र के अनुसार प्रतिसंविद् का यह क्रम है : १. नाम, पद और व्यंजन काय का अविवर्त्य ज्ञान[4]; २. नामादि से व्यक्त अर्थ का अविवर्त्य ज्ञान, ३ अर्थ,

[64] संख्या (एक वचन, द्विं, बहुं), लिंग (स्त्रीलिंग, पुंल्लिंग, नपुंसकं) काल आदि के लक्षणों के अधिवचन का ज्ञान;[5] ४. अधिवचन या पद व्यंजन की असक्तता का

---

१. **नामकायादिवागालम्बनत्वात्।—न हि दुःखादिज्ञानम् अनास्रवं दुःखैकदेशं समुदयैकदेशं च स्वलक्षणाकारेणालम्बते किं तर्हि पञ्चोपादानस्कन्धान् सामान्यलक्षणाकारैर-तस्ते संवृतिज्ञान स्वभावे** (६५३, १)।

२. **ऊर्ध्वं नामकायाभावादिति आरूप्यधातौ धर्मप्रतिसंविन्नास्ति इति। यत्र च नामकायस्तत्रैव पदव्यंजनकाया इति तुल्यवार्ता। नामकायाभाववचनेन व्यंजनकाया-भावसिद्धिः** (६५३, ४)।

विभाषा, ९८, ६ तीन मत। प्रथम मत : यह कामधातु और प्रथम ध्यान का है : दूसरा मत : यह कामधातु और चार ध्यानों का है; तीसरा मत : यह कामधातु, अनागम्य, ध्यानान्तर और चार ध्यानों का है।······का कहना है कि पहले मत में यह मान लिया गया है कि नामन् वाक् से प्रतिबद्ध है और अन्य दो मत मानते हैं कि नामन् काय से प्रतिबद्ध है।

Fa. Pao इससे सहमत नहीं हैं।

३ सूत्र : "वितर्क्य विचार्य वाचं भाषते (२.३३, पृ० १७?) (६५३, ७)।

४. व्याख्या : **नामाद्यालम्बनत्वं पुनरासां प्रतिसंविदां समापन्नस्यापि व्युत्थितस्यापि। तत्पृष्ठ लब्धैरविवर्त्यैर्ज्ञानैर्नामाद्यालम्बनत्वम्। भाषणं पुनस्तत् पृष्ठेनैव** (६५३, ८)।

५ [एकद्विबहु] **स्त्रीपुरुषाद्यधिवचने।**—'आदि' शब्द से काल, कारक आदि का संग्रह होता है। **अधिवचनं पुनः पर्याय। तदधिकृत्य वा वचनम् अधिवचनम्** (६५३, १०)। (६५३, ११)।

ज्ञान[1] । [=जो असक्तता का उत्पाद करता है] । इस प्रकार प्रतिसंविद् का क्रम सिद्ध होता है ।[2]

अन्य आचार्यों के अनुसार व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ 'निरुक्ति' है, उदाहरण के लिए : रूप्यते तस्माद्रूपम् विजनातीति विज्ञानम्, चिनोतीति चित्तम् ।—

प्रतिमान उत्तर है (१) ।[3]

शास्त्र के अनुसार ४ प्रतिसंविद् के पूर्व प्रयोग क्रम से गणित, बुद्ध वचन, शब्द विद्या, हेतु विद्या हैं ।[4]

क्योंकि जो इन चार प्रयोगों में अभ्यस्त नहीं है वह ४ प्रतिसंविद् का उत्पाद नहीं कर सकता ।—किन्तु वास्तव में केवल[5] बुद्ध वचन का अध्ययन पूर्व प्रयोग की सिद्धि के लिए पर्याप्त है ।

४० सी. इनका प्रतिलाभ केवल युगपत् होता है ।

यदि कोई एक प्रतिसंविद् का लाभ करता है तो वह दूसरों का भी लाभ करता है । यदि वह सब का लाभ नहीं करता तो वह किसी का लाभ नहीं करता ।

पूर्वोक्त अरणा आदि ६ गुण ।

[८५] ४० डी. यह ६ प्रान्तकोटिक हैं ।[6]

क्योंकि वे प्रान्तकोटिक ध्यान (७.४१ ए-सी) के बल से प्राप्त होते हैं इसलिए उनको यह नाम देते हैं ।

तत् षड्विधं ध्यानमन्त्यं सर्वभूम्यनुलोमितं ।
वृद्धि काष्ठागतं तत् बुद्धान्यस्य प्रयोगजाः ॥४१॥

४१ ए. प्रान्तकोटिक षड्विध है ।[7]

---

१. तस्यासक्ततायां—व्याख्या : तस्याधिवचनस्य तस्य पदव्यंजनस्य वा ।
(६५३, १२) ।

२. अतएवासां क्रमसिद्धिरिति यतः पदव्यंजनानुसारेण अर्थ प्रतिपत्तिः । तस्यैकद्विबहु-स्त्रीपुरुषाद्यधिवचनम् । तस्यासक्तता इत्यतः क्रमसिद्धिः (६५३, १३) ।

३. उत्तरोत्तरप्रतिभाप्रतिभानमिति वादन्यायेन (६५३, १७) ।

परमार्थ के अनुसार : "प्रतिमान' अर्थात् सिद्धि और प्रतिषेध को विजयी व्याख्यान" । शुआन् चाङ् के अनुसार : "अपर्यन्त शब्द प्रवाह" ।

४. महाव्युत्पत्ति, ७६, १-२ ।

५. परमार्थ : "किन्तु अन्य आचार्यों के अनुसार···।"
शुआन चाङ् : "वस्तव में केवल अध्ययन···।"

६. षडेते प्रान्तकोटिकाः—तिब्बती के अनुसार 'प्रान्त कोटित' होना चाहिए ।

७. =[तत्षोढा] ।

चतुर्थ ध्यान के जिसे प्रान्तकोटिक कहते हैं ६ धर्म होते हैं। यह १. अरणात्मक (किञ्चिदरणात्मकम्), २. प्रणिधि ज्ञानात्मक, ३-५. त्रिप्रतिसंविदात्मक (निरुक्ति प्रतिसंविद् को छोड़कर) और ६. केवल प्रान्तकोटिक है।[1]

यद्यपि निरुक्त प्रतिसंविद् का लाभ प्रान्तकोटिक ध्यान बल से होता है, तथापि यह चतुर्थ ध्यानभूमिक नहीं है क्योंकि इसकी भूमि कामधातु और प्रथम ध्यान हैं। अतः यह प्रान्तकोटिक के अन्तर्भूत नहीं है।

प्रान्तकोटिक ध्यान कौन-सा धर्म है?

४१ ए-सी. अन्तिम ध्यान, जो सब भूमि के अनुकूल है और चरमवृद्धि को प्राप्त है।[2] प्रान्तकोटिक चतुर्थ ध्यानभूमिक है।[3]

ए. चतुर्थ ध्यान सब भूमियों के अनुकूल होता है, सर्वभूम्यनुलोमित, जब उसका

[९६] अभ्यास निम्न प्रकार से किया जाता है: कामधातु के एक कुशलचित्त से योगी प्रथम ध्यान में प्रवेश करता है; प्रथम ध्यान से दूसरे में और इसी प्रकार नैवसंज्ञाना-संज्ञायतन तक; पश्चात् वह कामधातु के चित्त तक अवरोहण करता है; अन्त में इस चित्त से वह फिर चतुर्थ ध्यान तक आरोहण करता है।

बी. योगी चतुर्थ ध्यान का अभ्यास करता है; अधर का अभ्यास कर मध्य का अभ्यास करता है; मध्य का अभ्यास कर ऊर्ध्व का अभ्यास करता है। इन तीन पक्षों में से प्रत्येक तीन में विभक्त है। इसलिए चतुर्थ ध्यान में ९ प्रकार हैं। ऊर्ध्वतम प्रकार का चतुर्थ ध्यान वृद्धिकाष्ठागत कहलाता है।

जिस ध्यान में यह दो गुण पाये जाते हैं उसे प्रान्तकोटिक कहते हैं, क्योंकि उसकी

---

१. किञ्चित् तद्व्यतिरिक्तं केवलं प्रान्तकोटिकमिति: "पूर्व से पृथक् एक प्रान्त-कोटिक है जिसे केवल प्रान्तकोटिक कहते हैं।" किओकुगा की टीका के अनुसार यहाँ उस प्रान्तकोटिक का विचार हो रहा है जिसका आर्य आयुः संस्कार का उत्सर्ग करने के लिए संनिश्रय लेते हैं। (देखिए कोश, २.१० ए अनुवाद, पृ० १२१; ६.५९, अनुवाद, २६८ टि०) (६५३, २३)।

२. =[ध्यानमन्त्यन्तत्] सर्वभूम्यनुलोमितम्।

वृद्धिकाष्ठागतम्।

अनुलोमित=अनुकूलित।

महाव्युत्पत्ति, ६७,५ और धर्मशरीर।

३. सर्वास्तिवादियों के अनुसार केवल चतुर्थ ध्यान प्रान्तकोटिक हो सकता है। स्थिरमति के अनुसार (Tsa-tsi, ९,९) चार ध्यान और चार आरूप्य।—विभाषा, ७८,१३।

कोटि अन्त[1] तक जाती है (प्रगता) 'कोटि' का अर्थ 'प्रकार' या 'शिखर' है, जैसे कहते हैं 'चातुष्कोटिक प्रश्न' अर्थात् चतुः प्रकार प्रश्न, भूतकोटि ।[2]

[९७] ४१ डी. बुद्ध को छोड़कर दूसरे प्रयोग से लाभ करते हैं ।[3]

बुद्ध को छोड़कर अन्य आर्य अरणादि ६ गुणों का लाभ प्रयोग से ही करते हैं, वैराग्य से नहीं, क्योंकि सबको इनकी प्राप्ति नहीं होती ।[4]

केवल बुद्ध वैराग्य से इनका लाभ करते हैं क्योंकि बुद्ध सर्वगुणों को सकृत् आरम्भ में ही, क्षय ज्ञान क्षण में, वैराग्य से प्राप्त करते हैं ।[5] आगे चलकर वह बिना प्रयत्न के इच्छा मात्र से उनका सम्मुखीभाव करते हैं क्योंकि भगवान् बुद्ध उन सब धर्मों के वशवर्ती हैं जिनसे वे समन्वागत होते हैं ।

---

१. प्रगता अन्त प्रान्ता कोटिरस्येति प्रान्तकोटिकम् (६५३, ३१) ।

शुआन चाङ् जोड़ते हैं : "प्रान्त का अर्थ है "आगे नहीं गया";

यह ध्यान प्रान्त कहलाता है क्योंकि उसके आगे कोई नहीं जाता।"

शुआन चाङ् प्रान्त कोटि=अवधि-अन्त; परमार्थ (अन्तर-अन्त) योगसूत्र, २.२७ प्रान्तभूमि से तुलना कीजिए ।

२. महाव्युत्पत्ति, ९४,३, भूतकोटि (इसका अर्थ "यथार्थ अवधि" प्रतीत होता है) । बुरनुफ, लोटस्, ३०९ में है कि भूतकोटि भवाग्र "भव की उच्च अवस्था" नहीं है क्योंकि लंकावतार में भूतकोटि 'शून्यता' है ।

किओकुया सेकी की टीका—"भूत"=सर्व धर्म यथार्थ मालूम होती है । मध्यमकावतार (तिब्बती अनुवाद; पृ० ३४४) में स्पष्ट कहा है कि निरोध समापत्ति=भूतकोटि समापत्ति ।

(यह दूरंगमाभूमि के बोधिसत्त्व में होती है) जो योगी भवाग्र तक पहुँच गया है वह निरोध समापत्ति में प्रतिषेध कर सकता है (२.४४ डी, पृ० २१०), [जो भव का "परमार्थ बिन्दु" "परम बिन्दु" है] ।

महायान ग्रन्थों में 'भूतकोटि' का जो प्रयोग पाया जाता है उसके यहाँ उल्लेख की आवश्यकता नहीं है । तिस पर भी हम बोधिचर्यावतार ९.२, ३८, शिक्षा समुच्चय, २५७, मध्यान्त विभाग, १.१५, नाम संगीति, ६.६ की टीका का उल्लेख करते हैं ।

इसके अनुसार भूतकोटि=अविपर्यास (अविपर्यासार्थेन भूतकोटि……) मध्यमकावतार, ३४० ।

३. =[बुद्धादपरेषां प्रयोगजाः] ।

४. ६. अनुवाद, २६८ ।

५. जिस क्षण में वह भवाग्र से अपने को वियुक्त कर और अर्हत्व प्राप्त कर बुद्ध होते हैं, २. पृ० २०५ ।

हम अरणा, प्रणिधिज्ञान और प्रतिसंविद्—इन तीन प्रकार के गुणों को जो सर्व आर्य साधारण हैं समझा चुके हैं। जो गुण पृथग्जनों में[1] भी पाये जा सकते हैं उनमें से अभिज्ञा की अब व्याख्या करना है।

ऋद्धि श्रोत्रमनः पूर्व जन्म च्युत्युदयक्षये।
ज्ञानसाक्षात्क्रियाभिज्ञा षड्विधा मुक्तिमार्गधीः ॥४२॥

४२ ए-डी. ऋद्धि, श्रोत्र, मन, पूर्ववास च्युति, उपपत्ति, आस्रव—क्षय के ज्ञान का साक्षात्कार षड्विध अभिज्ञा है।[2]

[९८] ६ अभिज्ञा हैं : १. ऋद्धि विषय ज्ञान साक्षात् क्रियाभिज्ञा, वह अभिज्ञा जो, उस ज्ञान का साक्षात्कार (=सम्मुखीभाव) है जो ऋद्धि के विषय (अर्थात् गमन और निर्माण) को आलम्बन बनाता है।[3]

---

१. यदि तीर्थिक ५ अभिज्ञा से समन्वागत होते हैं तो हैमवत, सर्वास्तिवादिन्, वात्सीपुत्रीय के अनुसार, हाँ; महीशासकों धर्मगुप्तों (वसुमित्र और भव्य) के अनुसार नहीं।

पूर्ण जो केवल प्रज्ञाविमुक्त है (और उभयोविमुक्त नहीं है, ६.६४ ए), तीर्थिक साधारण ऋद्धि विषय का प्रत्यनुभव नहीं कर सकता किन्तु वह शीघ्र ही ६ अभिज्ञाओं की प्राप्ति करता है (दिव्य, ४४)।

२. =[ऋद्धिश्रोत्रमनः पूर्ववासच्युत्युपपत्क्षये।
ज्ञान साक्षात्क्रियाभिज्ञा] षड्विधा।
उपपद को उपपाद (?) पढ़कर।

अभिज्ञा की पुस्तक-सूची का अन्त नहीं है।—मज्झिम, १.३४, २.२३८, दीघ, १.८, ३.११०; अंगुत्तर, २.२४५; विसुद्धि मग्ग, २०२, ३७३, ४०६; कम्पेण्डियम, २०७, विशेषकर भूमिका पृ० ६१ और उसके आगे।—महाव्युत्पत्ति, १४, धर्म संग्रह, २०; दशभूमि, ३ (अनुवाद मध्यमकावतार, पृ० ५७, म्यूजिओं, १९०७); सूत्रालंकार, ७.१, ९; शिक्षासमुच्चय, २४३, बोधिचर्या; ९.४१।

अभिज्ञा तुलना कीजिए ओहिज्ञाण, हर्नले, उवासग, अनुवाद, पृ० ४८, अर्थ, प्रारम्भिक अर्थ, बुरनुफ, लोटस्, ८२०; कर्न, लोटस्, १३१; रीज डैविड्स, मिलिन्द; २.२३१, डायलाग्स, १.६२, १५७; विण्डिश, गेबर्ट ९, ६२—अभिज्ञा सत्यों की विपश्यना है ६.५४ सी, ६६, ९, (युआन चाङ् २९.१४ बी) आदि।

३. ऋद्धि पर ४.११७ डी (चित्तालंकार), ४.६९ (ऋद्धिपाद), ७.४७ (ऋद्धि प्रातिहार्य), ४८ (गमन और निर्माण), ५३, ऋद्धि के विविध प्रकार, ८.३५ बी (आर्याऋद्धि)।

ए. ऋद्धिः समाधिः। ऋद्धि विषयो निर्माणं गमनं च। ऋद्धिविषये ज्ञानं तस्य साक्षात् क्रिया सम्मुखीभावः (व्याख्या) [ऋद्धि=समाधि है, इस व्याख्या के लिए ६.६९, पृ० २८५, ७.४८ ए, पटिसंभिदामग्ग, २.२०५-२०६ देखिए] महाव्युत्पत्ति : ऋद्धि विधिज्ञान, पालि इद्धि विधा, इद्धिप्पभेद। (६५४, २६)।

[६६] २. दिव्य श्रोत्र, दिव्य श्रोत्र ज्ञान साक्षात्क्रियाभिज्ञा।[1]

[प्रभेद का वही अर्थ हो सकता है जो प्रज्ञा प्रभेद, ८.२७ सी में है]

पालि के अनुसार कभी इद्धि ज्ञान पक्ष के अन्तर्गत होता है; यमक पाटि हीरे, ज्याण वह ज्ञान है जिसका आलम्बन जल और अग्नि का प्रातिहार्य है; इद्धि विधेज्याण (पटिसंभिदामग्ग, २.१२५, १.१११); पंचाभिञ्ञाज्याण और अट्ठसमापत्ति ज्याण (महानिद्देस, १०६)।

बी. ऋद्धयभिज्ञा का सूत्र व्याख्या, ६.६६ में उद्धृत है; पालिपाठ से इसमें कुछ भेद है (दीघ, १.७७, मज्झिम, १.३४, अंगुत्तर, ३.२८०; पटिसंभिदामग्ग, २.२०७ की टीकाएँ; विसुद्धि मग्ग, ३७३-४०६)।

महाव्युत्पत्ति १५ से भी पाठान्तर है (महापरिनिर्वाण के अनुसार) : अनेकविधं ऋद्धिविषयं प्रत्यनुभवति। एको भूत्वा बहुधा भवति बहुधा भूत्वा एकोभवति। आविर्भवति तिरोभावमप्यनुभवति। तिरः कुड्यं तिरः प्राकारं (तिरः पर्वतम्) असज्जमानः काये (?) गच्छति तद्यथाकाशे। पृथिव्यां उन्मज्जननिमज्जनं करोति तद्यथोदके। उदकेऽभिद्यमानेन स्रोतसा गच्छति तद्यथा पृथिव्याम्। आकाशे पर्यंकेण क्रमति तद्यथा शकुनिः पक्षी। इमौ वा पुनः सूर्यचन्द्रमसावेवं महर्द्धि कावेवं महानुभावौ पाणिना आमार्ष्टि परिमार्ष्टि यावद् ब्रह्मलोकं कायेन वशे वर्तयत (देखिए, पृ० ११४, टि० ४) इतीयमुच्यत ऋद्धिः।

पालि संस्करणः……स एवं समाहिते चित्ते आनेञ्जप्पत्ते इद्धिविधाय चित्तम् अभिनीहरति अभिनिन्नमिति। सो अनेक विहितं इद्धिविधं पच्चनुभोति। एकोपि हुत्वा……अनेक विधं ऋद्धि विषयम् के स्थान में अनेकविहितमिद्धविधं।

हम देख चुके हैं कि यशोमित्र ऋद्धि विषय की व्याख्या इस प्रकार करते हैं "वह ज्ञान विषय जो प्रातिहार्य का सम्मुखीभाव करता है।" और 'ऋद्धि विषये ज्ञानम्' का प्रयोग करते हैं जैसे पटिसंभिदामग्ग, १.३ में 'इद्धिविधे ज्याणम्' पाया जाता है।

रीज़ डैविड्स निर्देश करते हैं कि विनय ३.६७ (पार० २.४७) में यह दिया है: "जो ऋद्धि से समन्वागत होते हैं उनके ऋद्धि विषय में (इद्धि विसये) कोई पाप नहीं है;" और नेत्तिप्पकरण, २३ में है कि "ऋद्धि विषय से अन्यत्र (अन्यत्र इद्धि विसया) मृत्यु का रोकना सम्भव नहीं है। [मानसिक प्रभाव की इत्तया"—यह अर्थ युक्त नहीं है।]

प्रत्यनुभवति=पच्चनुभोति, लोटस, ८३६, (दिव्य, २०४ पर); अवदान शतक, २.१२६ में ऋद्ध्यानुभाव है (ऋद्धि); आनुभाव="अद्भुत् शक्ति अलौकिक (चाइल्डर्स)।

सी. पटिसंभिदामग्ग (२.२०७) के अनुसार ऋद्धयभिज्ञा सूत्र (ऊपर बी देखिये) के प्रातिहार्य १० इद्धियों में से एक, अर्थात् अधिट्ठान इद्धि हैं (इसी प्रकार कम्पेण्डियम)।

कोश, ७.५२ ए देखिए; ऋद्धियों के विविध स्वरूप पर ७.४८ और आगे देखिए।

ऋद्धि और प्रभाव एक नहीं हैं (ऊपर देखिये पृ० ८३)।

ऋद्धि प्रभाव के लिए सदाये शब्द मिलते हैं—ऋद्धि संपद्, ऋद्धिवशित्वा, ऋद्ध्यैश्वर्य।

१. इह भिक्षुर्दिव्येन श्रोत्रेण विशुद्धेन अतिक्रान्त मानुष्यकेण उभयान् शब्दान् शृणोति मानुष्यान्-मानुष्यान् येवा दूरेयेवान्तिके इतीयमुच्यते दिव्यश्रोत्रज्ञानसाक्षात्काराभिज्ञा (६५४,६)।

३. परचित्त ज्ञान, चेत: पर्याय ज्ञान—साक्षात् क्रियाभिज्ञा।[1]

४.[2] पूर्व निवासों की स्मृति, पूर्व निवासानुस्मृतिज्ञान साक्षात्कारामिज्ञा।[3]

[१००] ५. दिव्य चक्षु, च्युत्युपपाद ज्ञान साक्षात्कारामिज्ञा।[4]

सूत्र में इसके आगे दिव्यचक्षु और पूर्वनिवासानुस्मृति का वर्णन है।

१. सूत्र को पाँचवीं अभिज्ञा।

इह भिक्षुः परसत्त्वानां परपुद्गलानां वितर्कितं विचरितं मनसा मानसं यथाभूतं प्रजानाति (६५४, १३)।

सरागं चित्तं सरागमिति यथाभूतं प्रजानाति। विगतरागं······सद्वेषं······विगतद्वेषं······समोहं······विगतमोहं ······विक्षिप्तं······संक्षिप्तं······लीनं······प्रगृहीतं······उद्धतं······अनुद्धतं······अत्युपशान्तं······व्युपशान्तं······समाहितं······असमाहितं······अभावितं······भावितं ······अवियुक्तं ······वियुक्तं चित्तं वियुक्तं इति यथाभूतं प्रजानाति। इयमुच्यते चेतः पर्यायज्ञानसाक्षात्क्रियाभिज्ञा······ऊपर पृ० १६ और आगे।

चेत पर्याय की व्याख्या : चेतः पर्यायो विशेषो रक्तं द्विष्टं मूढं इति वा। क्रमो वा पर्यायः कदाचिद् रक्तं कदाचिद् द्विष्टं मूढं वा (६५४, २९)।

इस अभिज्ञा का दूसरा नाम परचित्त ज्ञान है। देखिये ऊपर पृ० १५।

२. ४-६ अभिज्ञा तीन विद्या हैं जिन्हें बोधिसत्त्व बोधि प्राप्ति की रात्रि को प्राप्त करते हैं। तीन विद्याओं पर देखिए ७ ४५ सी।

३. व्याख्या : इह भिक्षुरनेकविधं पूर्वनिवासं समनुस्मरति इति बहुः सूत्रवद् ग्रन्थो यावदियं उच्यते पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञानसाक्षात्कारामिज्ञा (६५४,११)।

और नीचे देखिए (७.४३डी पर) :······

अमीनाम ते सत्त्वा यत्राहममूवमेवंनामा एवं गोत्र एवं जातिरेवंसुखदु:खप्रतिसंवेदी एवं चिरस्थितिक एवमायु: पर्यन्तः। सोऽहम् तस्माच्च्युतोऽमुत्रोपपन्नः। तस्मादपिच्युतोऽमुत्रोपपन्नः। तस्माच्च्युत इहोपपन्न इति साकारं सोद्देशं [सनिदानम्] अनेकविधं पूर्वं निवासं अनुस्मरतीतीयम्······[इसके भिन्न पाठ पालि में] (६५५,३३)।

समन्तपासादिका, १.१५८ की टीका।

इस अभिज्ञा को जातिस्मरता से न गड़बड़ाइए। जातिस्मरता बुद्ध या बोधिसत्त्वों की एक औपपत्तिक शक्ति है, ७.१५, ४.१०९, पृ० २२५, टि० २ और ३ (अतीत ज्ञान की सत्ता)।

४. यह सूत्रवर्णित तीसरी अभिज्ञा है : इसके दो नाम हैं :

(शुआन चाङ्) इसको दिव्यचक्षुस् कहते हैं; परमार्थ च्युत्युपपाद ज्ञान कहते हैं।—महाव्युत्पत्ति, च्युत्युपपत्ति, सूत्रालंकार, च्युतोपपाद।

कोश, ८.२७ सी, सुत्तनिपात, १११२, ११३६, संयुक्त, ३.२१३।

व्याख्या : इह भिक्षुर्दिव्येन चक्षुषा विशुद्धेन अतिक्रान्त मानुष्यकेण सत्त्वान् पश्यति इति बहुः सूत्रवद् ग्रन्थो यावदियमुच्यते दिव्यचक्षुर्ज्ञानसाक्षात्क्रियाभिज्ञा। (६५४, ९)।

६. आस्रव—क्षय, आस्रव क्षयज्ञान साक्षात्काराभिज्ञा ।[1]

यद्यपि छठी अभिज्ञा केवल आर्यों में होती है तथापि पहली पाँच पृथग्जनो में भी होती है । इसलिए अधिकांश अभिज्ञाओं के इस लक्षण के कारण यह कहा जाता है कि अभिज्ञाएँ आर्य और पृथग्जन दोनों को सामान्य हैं ।[2]

४२ डी. वह विमुक्ति प्रज्ञा हैं ।[3]

[१०१] उनका स्वभाव श्रामण्य फल के समान विमुक्ति मार्ग की प्रज्ञा का है ।[4]

चतस्रः संवृतिज्ञानं चेतसि ज्ञानपंचकं ।
क्षयाभिज्ञा बलं यद्वत् पंचध्यान चतुष्टये ।। ४३ ।।

४३ ए. ४ संवृतिज्ञान हैं ।[5]

४ अभिज्ञाएँ अर्थात् ऋद्धि विषय, दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र और पूर्वनिवासानुस्मृति संवृतिज्ञान है (७. २) ।

४३ बी. परचित्त ज्ञान में ५ ज्ञान हैं ।[6]

---

१. इह भिक्षुरिदं दुःखमार्यसत्यमिति यथाभूतं प्रजानाति । अयं दुःख समुदयः । अयं दुःख निरोधः । इयं दुःखनिरोधगामिनो प्रतिपदार्यसत्यमिति यथाभूतं प्रजानाति । तस्यैवं जानत एवं पश्यतः कामास्रवाच्चित्तम् विमुच्यते । भवास्रवादविद्यास्रवाच्चित्तम् विमुच्यते । वियुक्तस्य वियुक्तोऽस्मीति ज्ञानदर्शनं भवति । क्षीणा मे जातिर्यावन् नापरम् अस्माद् भवं प्रजानामीति । इयमुच्यते आस्रवक्षयज्ञानसाक्षात्काराभिज्ञा (६५४, २०) ।

पटिसंभिदामग्ग, १·११५ के आसवक्खय की व्याख्या को देखिए—तीन अनास्रव इन्द्रिय (कोश, २.४) और सामण्यफल (स्रोत-आपन्न आदि) में 'आसवक्खय' की वृत्ति ।

[भवास्रव का विचित्र वर्णन]

२. पृ० १०७, १.१८ देखिए ।

३. =२ मुक्तिमार्गधीः (८.२७ सी की व्याख्या में उद्धृत) ।

परमार्थ का अनुवाद, विमुक्ति ज्ञान; (शुआन चाङ्) विमुक्ति मार्ग प्रज्ञा संगृहीत । —विभाषा, १४१, १२ के अनुसार यह भाष्य में प्रायः शब्दतः उद्धृत है ।

४. व्याख्या : जिस प्रकार श्रामण्यफल (६.५१) उसी प्रकार संस्कृत धर्म विमुक्ति मार्ग स्वभाव है । नीचे पृ० १०३, टि० १, १०७, टि० २ देखिए ।

५. =[चतस्रः संवृतिज्ञानम]

संघभद्र : पाश्चात्यों के अनुसार ६ ज्ञान : उदाहरणार्थ, धर्म, अन्वय, दुःख, समुदय और मार्गज्ञान अतीत के संवृत अर्थों को जानते हैं ।

६. =चेतसि ज्ञानपंचकम् ।

अर्थात् पाँचवीं अभिज्ञा का स्वभाव धर्मज्ञान, अन्वयं, मार्ग; संवृति; परचित्त ज्ञान का है।[1]

४३ सी. आस्रव क्षय की अभिज्ञा बल के तुल्य है।[2]

आस्रव क्षयज्ञान बल के समान इस अभिज्ञा में ६ या १० ज्ञान होते हैं। उसी प्रकार यह सर्वभूमिक है और प्रत्येक वस्तु को आलम्बन बनाती है।

४३ डी. ध्यान चतुष्टय में ५।[3]

पहली ५ अभिज्ञाओं का संनिश्रय ४ ध्यान हैं अर्थात् योगी ध्यान में उनका लाभ करता है।

[१०२] वे आरूप्य ध्यानों को सन्निश्रय क्यों नहीं बनातीं ?

ए. पहली तीन अभिज्ञाओं का आलम्बन रूप है, (देखिए पृ० १०६, ११) इसलिए आरूप्यों का संनिश्रय लेकर उनका उत्पाद नहीं हो सकता।

बी. चेतः पर्याय ज्ञान, परचित्त ज्ञान का साक्षात्कार, रूप द्वार से (तीर्थ=द्वार) निष्पन्न होकर (निष्पाद्य) होता है अर्थात् उस मार्ग से जिसका आलम्बन रूप (वर्ण-संस्थान) है : इस प्रकार के रूप में ऐसा चित्त होता है।[4]" किन्तु आरूप्य ध्यानों का रूप आलम्बन नहीं होता।

सी. अपने अवस्थान्तरों का आनुपूर्विक रूप से स्मरण कर योगी पूर्वनिवासानुस्मृति की अभिनिष्पत्ति करता है (अनुपूर्वावस्थान्तर स्मरणात्)[5] किन्तु आरूप्य ध्यान कामधातु के धर्मों को आलम्बन नहीं बनाते और जब पूर्वनिवासों की अनुस्मृति का साक्षात्कार होता

---

१. हम यहाँ अनास्रव परचित्त ज्ञान—जो परिगणित ज्ञानों में से संवृति को छोड़कर चार ज्ञान हैं—और सास्रव-संवृति ज्ञान और परचित्त ज्ञान का विचार कर रहे हैं।

२. =[क्षयाभिज्ञा] बलं यद्वत्, ७.२८सी]।

३. =पंच ध्यानचतुष्टये।

कम्पेण्डियम ६१ के अनुसार पाँचवाँ ध्यान अधिट्ठान पाद कम्मान है, अर्थात् वह ध्यान जो अभिज्ञा के स्वरूपों का उत्पाद करने वाली चेतना संतति का संनिश्रय है। किन्तु पटिसंभिदामग्ग, २.२०५ का मत है कि चार ध्यान ऋद्धि की ४ भूमियाँ हैं।

४. ईदृशे रूप ईदृशं चित्तं भवति (६५५, २५)।

यही मत पटिसंभिदामग्ग, १.११३ का है : "ऐसा रूप सौमनस्येन्द्रिय में होता है······।"

५. विभाषा, १००,१२······प्रश्न है कि प्रयोग में क्षण की या आनुपूर्विक अवस्थाओं की स्मृति होती है। स्पष्ट है कि वहाँ अवस्था स्मृति, न कि क्षण स्मृति के लिए स्थान है। यदि योगी क्षण-क्षण का आनुपूर्विक स्मरण करे तो अपने जीवन के अर्द्धभाग तक पहुँचने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो जायगी। तब प्रयोग पूरा कैसे होगा ?

है तब जैसा सूत्र में कहा है यह अनुस्मृति स्थान, गोत्रादि रूपी धर्मों को आलम्बन बनाती है।[1]

डी. वास्तव में जो योगी परचित्त ज्ञान जानना चाहता है वह प्रथम अपने सन्तान में काय और चित्त का निमित्त ग्रहण करता है—"मेरा काय ऐसा है, मेरा चित्त ऐसा है।" जैसे उसने अपने काय और अपने चित्त का विचार किया है उसी प्रकार दूसरे की सन्तति को सम्मुख कर वह उसके काय और चित्त के निमित्त को ग्रहण करता है। इस प्रकार वह दूसरे के चित्त को जानता है और अभिज्ञा का उत्पाद होता है। जब अभिज्ञा का साक्षात्कार होता है तो योगी कायरूप का अब और विचार नहीं करता; वह साक्षात् चित्त को जानता है।[2]

[१०३] ई. योगी जब अपने पूर्व निवासों का स्मरण करना चाहता है तो वह निरुद्ध होने वाले चित्त के निमित्त का उद्ग्रहण करता है (निमित्तमुद्गृह्य=चित्त प्रकारं परिच्छिद्य)। इस चित्त से आरोहण कर वह मन में (मनसि कुर्वन्) उन अवस्थाओं का विचार करता है जो प्रत्युत्पन्नभव में समनन्तर निरुद्ध हुई हैं यहाँ तक कि वह प्रतिसन्धि-चित्त का विचार करता है। जब वह चित्त क्षण में अन्तराभव का स्मरण करता है तब अभिज्ञा का साक्षात्कार होता है।[3]

दूसरों के पूर्वनिवासों की अनुस्मृति के लिए भी यही प्रयोग है।

जो योगी इस अभिज्ञा के अभ्यास में आदिकर्मिक है वह निवासों को केवल उनके समय-क्रम से जानता है, जब अभ्यास हो जाता है तब वह एक या दो जन्मों का अतिक्रमण कर स्मरण करता है (विलंघ्यापिस्मरणम्)।

फुकुआङ्: तीन व्याख्याएँ हैं। दूसरी व्याख्या सबसे अच्छी है क्योंकि "प्रयोग को पूर्ण करने में" 'पूर्ण' शब्द को संकुचित अर्थ में नहीं लेना चाहिए fei pi kin, Convreur, फाइ पि किन् १९०४, पृ० :४४)।

१. पूर्वोक्त सूत्र के अनुसार : ………साकारं सोद्देशम्……(पृ० ९६, टि० ४)।

२. परमार्थ के अनुसार (शुआन चाङ्) कहते हैं, "वह स्वचित्त रूप का और विचार नहीं करता।"

३. परमार्थ के अनुसार : (शुआन चाङ्) कहते हैं, "और यावत् वह चित्त जिसे वह अन्तराभव के पूर्ववर्ती क्षण में स्मरण करता है।

[जापानी सम्पादक की विवृति : "अर्थात् पूर्व निवास का चरमचित्त"]। तब पूर्व निवास [अनुस्मृति] का प्रयोग सफल होता है।"—प्रयोग आनन्तर्य मार्ग है; अभिज्ञा वियुक्ति मार्ग है।

केवल अनुभूतपूर्व का ही स्मरण होता है।[1] यदि ऐसा है तो वह शुद्धावासों का कैसे स्मरण करता है? वास्तव में इन देवों का इस संसार में आगमन नहीं होता, इसलिए योगी को उनका अनुभव यहाँ नहीं होता। उसने शुद्धावास भूमि में भी उनका अनुभव नहीं किया है क्योंकि पृथग्जनों की उस लोक में उपपत्ति नहीं होती। वह उनको स्मरण करता है क्योंकि उसने श्रवण से उनकी अनुभूति की है। उसने यह सुना है कि शुद्धावास देव ऐसे होते हैं। वास्तव में अनुभव द्विविध होता है। दर्शनानुभव और श्रवणानुभव। जो सत्त्व आरूप्य धातु से च्युत हो यहाँ उत्पन्न होते हैं वे इस अभिज्ञा का उत्पाद पर सन्तति को अधिष्ठान बना कर करते हैं (परसन्तत्यधिष्ठानेन)।

[१०४] वास्तव में पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञान ध्यान में संगृहीत है और इस ज्ञान से आरूप्यावचर चित्त का ग्रहण नहीं होता।

अन्य स्वसन्तति के अधिष्ठान से।[2]

एफ. पहली तीन अभिज्ञाओं का, ऋद्धि विषय, दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षु का प्रयोग यथाक्रम लघुत्व, शब्द और आलोक मनसिकरण से होता है।[3] जब प्रयोग सफल होता है तब योगी प्रत्येक की वशिता का लाभ करता है। अतः इन ५ अभिज्ञाओं के सन्निश्रय आरूप्य के ध्यान नहीं होते।[4]

---

१. भाष्य : अनुभूतपूर्वस्यैव स्मरणम्। शुद्धावासानां कथं स्मरणम्। श्रवणेनानुभूतत्वात्।

व्याख्या : नहि शुद्धावासानां इहागमनमस्त्यनागामित्वात्। तेन नैषां इहानुभूतिः। नापि तत्र। पृथग्जनानां तत्रानुपपत्तेः। श्रवणेनानुभूतत्वादिति। श्रुतं हि तेन भवति शुद्धावासानाम् देवा एवंभूता इति। द्विविधोह्यनुभवो दर्शनानुभवः श्रुतानुभवश्च (६५६, १२)।

२. व्याख्या : परसन्तत्यधिष्ठानेनोत्पादनमिति। ध्यान संगृहीतम पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञानम्। तेन चारूप्यावचरं चित्तं न गृह्णातीति। कथं च पुनः परसन्तत्यधिष्ठानेनोत्पादनम्। समनन्तर निरुद्धान् मनोविज्ञानात् परकीयान् निमित्तमुद्गृह्णीतिविस्तरः (६५६, १६)।

(देखिए पृ० १०३,१.२)। अन्येषामिति य आरूप्येभ्यो न प्रच्युतास्तेषां स्वसन्तत्यधिष्ठानेनैवोत्पादनं पूर्वनिवासानुस्मृतिज्ञानस्य सुकरत्वात्।

३. जिस प्रयोग से योगी दिव्यचक्षु (या ज्ञानदर्शन) प्राप्त करता है उसका व्याख्यान पटिसंभिदामग्ग, १.११४ में है, दिन और रात को आलोक सञ्ञा (दीघ,३.२२३) की प्राप्ति आवश्यक है। पृथ्वी कम्पन का उत्पाद योगी कैसे करता है इसके लिए, दीघ, २.१०८ देखिए।—लघुत्व १.१०डी, १२सी।

४. शुआन चाङ् जोड़ते हैं : "इसके अतिरिक्त आरूप्यों में विपश्यना की न्यूनता है, शमथ का आधिक्य है। किन्तु ५ अभिज्ञाओं का संनिश्रय एक ऐसी भूमि होनी चाहिए जहाँ विपश्यना और शमथ का समत्व हो। इसी कारण से अनागम्य आदि को भी वर्जित करते हैं।

स्वाधोभूविषयालभ्या उचितास्तु विरागतः ।
तृतीया त्रीण्युपस्थानान्याद्यं श्रोत्रर्द्धि चक्षुषि ।।४४।।

४४ ए. अभिज्ञाओं का विषय स्वभूमि या अधोभूमि है ।[1]

किसी भूमि की ऋद्धि विषय अभिज्ञा से अर्थात् ध्यान-विशेष से प्राप्त (७.४३ डी.) ऋद्धि-अभिज्ञा से उस भूमि की या अधोभूमि की, ऊर्ध्वभूमि की नहीं, गमन और निर्माण की शक्तियाँ (७.४८) प्राप्त होती हैं ।

इसी प्रकार दिव्यश्रोत्र अभिज्ञा से योगी उसी भूमि के जिसकी अभिज्ञा है या अधोभूमि के शब्द सुनता है, ऊर्ध्वभूमि के नहीं । चेतः पर्याय-अभिज्ञा से परचित्त नहीं जाना जाता यदि वह चित्त अभिज्ञा-भूमि से ऊर्ध्वभूमि का है ।

[१०५] पूर्वनिवासानुस्मृति—अभिज्ञा से अभिज्ञाभूमि से ऊर्ध्वभूमि के निवासों की स्मृति प्राप्त नहीं होती ।

अतः आरूप्य धातु का चित्त परचित्तज्ञान—अभिज्ञा या पूर्वनिवासानुस्मृति-अभिज्ञा से नहीं गृहीत हो सकता क्योंकि वह चित्त अभिज्ञा की भूमि से ऊर्ध्वभूमि का है ।[2]

अभिज्ञाओं का कैसे लाभ होता है (लभ्यन्ते) ?—

यदि किसी पूर्वजन्म में उनका लाभ नहीं हुआ है तो वे केवल प्रयोग से, यत्न से, उपलब्ध होती हैं ।

४४ बी. पूर्वाभ्यस्त होने से वे वैराग्य से उपलब्ध होती हैं ।[3]

जब किसी पूर्व जन्म में उनका अभ्यास (उचित) होता है तो वे वैराग्य से प्राप्त होती हैं : [योगी कामधातु से विरक्त होने के कारण और ध्यान समापन्न होने के कारण ही उसकी प्राप्ति करता है] ।

जो पहले से अभ्यस्त नहीं हैं उनकी प्राप्ति केवल प्रयोग से होती है । यह नियम केवल बुद्ध को लागू नहीं होता । बुद्ध सब अभिज्ञाओं को केवल वैराग्य से प्राप्त करते हैं और इच्छा मात्र से (२.४४ ए, ७.४१ डी) उनका सम्मुखीभाव करते हैं ।

४४ सी. तीसरी तीन स्मृत्युपस्थान हैं ।[4]

चेतः पर्याय-अभिज्ञा में वेदना, चित्त, धर्म, (६.१४) यह तीन स्मृत्युपस्थान हैं क्योंकि चित्त-चैत्त इसके आलम्बन हैं ।

---

१. =स्वाधोभूविषयाभिज्ञा (७.३६ की व्याख्या में उद्धृत) ।

२. परमार्थ के अनुसार—(शुआन चाङ्) और संक्षिप्त कथन करते हैं । वे यहाँ विविध आर्यों की अभिज्ञा शक्ति के विस्तार पर टिप्पणी देते हैं । वसुबन्धु इसे आगे पृ० १२४ में देते हैं ।

३. =[उचिता वैराग्यलाभिकाः]

४. तृतीया स्मृत्युपस्थानत्रयम् ।

परमार्थ कहते हैं । चेतः पर्याय-अभिज्ञा तीन स्मृत्युपस्थानों के अन्तर्गत है ।

[१०६] ४४ डी. ऋद्धि, श्रोत्र और चक्षु प्रथम स्मृत्युपस्थान हैं।[1]

ऋद्धि विषय, दिव्यश्रोत्र और दिव्यचक्षु की अभिज्ञा में प्रथम अर्थात् कायस्मृत्युप-स्थान है क्योंकि उनका आलम्बन रूप, वर्ण-संस्थान है। ऋद्धि विषय-अभिज्ञा के विषय शब्द को छोड़कर ४ बाह्य आयतन हैं।[2] दिव्यश्रोत्र और दिव्यचक्षु के विषय शब्द और रूप हैं।

यदि ऐसा है तो दिव्यचक्षु अभिज्ञा कैसे जान सकती है जो इस सूत्र में कहा है[3] : "यह सत्त्व कायदुश्चरित, वाग्दुश्चरित से समन्वागत, आर्यों के अपवादक, मिथ्या दृष्टि को उत्पन्न करने वाले, मिथ्या दृष्टि और मिथ्या कर्मों में आसक्त, इन्हीं के कारण, मरण के पश्चात् दुर्गति को प्राप्त होते हैं"?"

दिव्यचक्षु की अभिज्ञा नहीं जानती कि एक सत्त्व मानस कर्म से समन्वागत है या उसकी मिथ्या दृष्टि है, इत्यादि।

किन्तु एक दूसरा ज्ञान है जो दिव्य चक्षु की अभिज्ञा का परिवार है[4], जो आर्य के सन्तान में उत्पन्न होता है और जो मानस कर्म आदि जानता है। क्योंकि यह ज्ञान दिव्य-चक्षु अभिज्ञा के बल से उत्पन्न होता है इसलिए इसे च्युत्युपपाद ज्ञान-अभिज्ञा कहते हैं।

क्योंकि कारिका में उनका स्वभाव निश्चित नहीं किया गया है इसलिए पूर्वनिवासा-नुस्मृति और आस्रव क्षय की दो अभिज्ञाएँ ४ स्मृत्युपस्थान का स्वभाव रखती हैं।[5]

[१०७] अव्याकृते श्रोत्रचक्षुर्भिज्ञे इतराः शुभाः।
तिस्रो विद्या अविद्यायाः पूर्वान्तादौ निवर्तनात् ॥४५॥

४५ ए-बी. श्रोत्र और चक्षु की अभिज्ञा अव्याकृत हैं; शेष शुभ हैं।[6]

दिव्यश्रोत्र और दिव्यचक्षु की अभिज्ञाएँ अव्याकृत पक्ष की हैं क्योंकि स्वभाववश वे श्रोत्र विज्ञान संप्रयुक्त और चक्षुविज्ञान-संप्रयुक्त प्रज्ञा हैं।

---

१. परमार्थ : ऋद्धि, श्रोत्र, चक्षु प्रथम [स्मृत्युपस्थान] [हैं]।
२. उच्छेदित्वाच्छब्दो न निर्मीयते।—देखिए ७.४९ (६५८, २९)।
३. अमी बत भवन्तः सत्त्वाः कायदुश्चरितेन समन्वागताः······(६५७,२)।
मज्झिम, १.२२, संयुत्त, २.२१४ से तुलना कीजिए।
४. एक दूसरा ज्ञान है—अभिज्ञापरिवारज्ञान (६५७,१)।
५. शुआन चाङ् के संस्करण के अनुसार कारिका इस प्रकार है :—
"अन्य [अभिज्ञाएँ] चार [स्मृत्युपस्थान] हैं" और भाष्य :
"शेष अभिज्ञा ४ स्मृत्युपस्थानों के अन्तर्गत हैं क्योंकि पंचस्कंध उनके आलम्बन हैं।"
६. =अव्याकृते श्रोत्रचक्षुर्भिज्ञे [शेषिताः शुभाः] देखिए ७.२५ डी, पृ० ५९।

यदि ऐसा है तो कैसे कोई कह सकता है कि वह चतुर्ध्यानभूमिक हैं।[1]

वास्तव में द्वितीय ध्यान में और उससे ऊर्ध्व चतुर्विज्ञान और श्रोत्र विज्ञान नहीं होते (१.४६)। कोई विरोध नहीं है क्योंकि श्रोत्राश्रय वश ऐसा कहा गया है। श्रोत्र और चक्षु आश्रय जो अभिज्ञा का संनिश्रय है ४ ध्यानों के बल से उत्पन्न होता है और चतुर्ध्यानभूमिक है इसलिए इसका संनिश्रय ४ भूमि हैं। इसलिए आश्रय पर संनिश्रित अभिज्ञा के लिए कहा जाता है कि वह चार ध्यानों को संनिश्रय बनाती है। अथवा ऐसा इसलिए कहते हैं क्योंकि अभिज्ञा के आनन्तर्य मार्ग (अथवा प्रयोग मार्ग, ऊपर पृ० १०४, १.४ देखिए।) का विचार हो रहा है। वास्तव में दिव्यश्रोत्र और दिव्यचक्षु की अभिज्ञा का आनन्तर्य मार्ग चार भूमियों और ४ ध्यानों पर आश्रित है।

केवल शेष अभिज्ञाएँ शुभ हैं। यदि ऐसा है तो प्रकरण पाद शास्त्र क्यों कहता है—

"अभिज्ञा क्या है?—यह शुभ प्रज्ञा है?"

यह निर्देश बाहुलिक या प्राधानिक है अर्थात् बहुलता की दृष्टि से या प्रधानता की दृष्टि से ऐसा निर्देश है। अभिज्ञा अधिकांश में (बाहुल्येन) कुशल हैं; कुशल अभिज्ञा प्रधान हैं।

सूत्र के अनुसार तीन "अशैक्ष की विद्याएँ" हैं (अशैक्षी विद्या)।[2]

यह तीन विद्याएँ किन अभिज्ञाओं के अनुरूप हैं?

[१०८] ४५ सी-डी. तीन अभिज्ञा विद्या हैं क्योंकि वे अतीतादि की अविद्या का निवर्तन करती हैं।[3]

---

१. प्रत्येक प्राप्ति में दो मार्ग होते हैं—१. वह मार्ग जो आवरण का प्रहाण करता है और २. विमुक्ति मार्ग।

हमने देखा है कि अभिज्ञा "विमुक्ति मार्गप्रज्ञा" (७.४२ डी) हैं।

जो मत यहाँ व्यक्त हुआ है उसके अनुसार दिव्यचक्षु अभिज्ञा की प्राप्ति के लिए जो आवश्यक है उसके निमित्त योगी किसी एक ध्यान को संनिश्रय बनाता है किन्तु प्राप्ति प्रथम ध्यान को होती है।

२. वह मज्झिम, १.२२, २४६ में वर्णित तीन विद्याएँ हैं।

(बोधि प्राप्ति की रात्रि के तीन यामों में अधिगत) [८.२७ सी देखिए], अंगुत्तर, ५.२११, दीघ, ३.२२०, २७५।

३. =[तिस्रो विद्या अविद्याया] पूर्वान्तादौ निवर्तनात्॥—३.२५,३१ से तुलना कीजिए।

कहीं-कहीं ८ विज्जाओं की सूची मिलती है। इनमें से ६ अभिज्ञा हैं। चाइल्डस, ५७१, विसुद्धि मग्ग, २०२।

तीन विद्याएँ, अशैक्षी पूर्वे निवास ज्ञान साक्षात् क्रिया विद्या, अशैक्षी च्युत्युपपाद ज्ञान साक्षात् क्रिया विद्या, अशैक्षी आस्रव क्षयज्ञान साक्षात् क्रिया विद्या सूत्र वर्णित क्रम से पूर्वा, दूसरी और छठी अभिज्ञा है।

यह तीन अभिज्ञाएँ 'विद्या' क्यों कहलाती हैं ?—क्योंकि पूर्व निवासों की स्मृति (पाँचवीं अभिज्ञा) अतीत विषयक सम्मोह (पूर्वान्त सम्मोह) का निवर्तन करती है क्योंकि मरण और उत्पाद (दूसरी अभिज्ञा) का ज्ञान अपरान्त सम्मोह का निवर्तन करता है। क्योंकि आस्रव क्षय का ज्ञान (छठी अभिज्ञा) प्रत्युत्पन्न सम्मोह (मध्य सम्मोह) का निवर्तन करता है।[1]

इन तीन अभिज्ञाओं में से यथार्थ में अशैक्षी कौन है ?

[१०६] अशैक्ष्यन्त्या तदाख्ये द्वे तत्सन्तानसमुद्भवात्।
इष्टे शैक्षस्य नोक्ते तु विद्ये साविद्य संततेः ॥ ४६॥

४६ ए अन्तिम अशैक्षी है।[2]

आस्रव क्षय ज्ञान केवल अर्हत् को होता है।

व्याख्या सूत्र को उद्धृत करती है : त्रिपिटो भवति त्रिविद्य इति। तेविज्ज, तेविज्जक से तुलना कीजिए।

१. सूत्र में है : पूर्वेनिवासच्युत्युपपादास्रवक्षयज्ञानसाक्षात्क्रियास्तिस्रः.........। एता हि पूर्वापरान्तमध्यसम्मोहं व्यावर्तयन्ति यथाक्रमम्।

भगवद् विशेष आदि 'यथाक्रमम्' को इस प्रकार समझाते हैं :—

पूर्वनिवासानुस्मृति से पूर्वान्त सम्मोह का निवर्तन करते हैं; च्युत्युपपाद ज्ञान से मध्य-सम्मोह का निवर्तन करते हैं; आस्रव क्षय ज्ञान से अपरान्त सम्मोह का निवर्तन करते हैं (क्योंकि योगी कहता है कि 'नापरमस्माद् भवं प्रजानामि')।

वास्तव में अध्वानुक्रम इस प्रकार है : अतीत, प्रत्युत्पन्न, अनागत। किन्तु संघभद्र इस प्रकार निरूपण करते हैं : पूर्वनिवासों की स्मृति अतीत विषयक सम्मोह का अन्त करती है : च्युत्युपपाद का ज्ञान अनागत सम्मोह का अन्त करता है; आस्रव क्षय ज्ञान प्रत्युत्पन्न सम्मोह का अन्त करता है। इसलिए यह तीन अभिज्ञाएँ विद्या हैं। पूर्व से आत्म दुःख और परकीय दुःख का दर्शन होता है; पर से परकीय दुःख का ही दर्शन होता है। उसमें संवेग उत्पन्न होता है; इस प्रकार संविग्न हो वह तृतीय अभिज्ञा का उत्पाद करता है और निर्वाण-सुख का दर्शन करता है। इसलिए यह तीन अभिज्ञा विद्या हैं। यशोमित्र का कहना है कि हम संघभद्र के व्याख्यान को युक्त समझते हैं और आचार्य वसुबन्धु का भी यही अभिप्राय लक्षित होता है।

२. =[अशैक्ष्यन्त्या]।

४६ ए-बी. अन्य दो अशैक्ष कहलाती हैं जब वे अशैक्ष की सन्तान में उत्पन्न होती हैं।[१]

अन्य दो अभिज्ञाएँ अशैक्ष कहलाती हैं जब वे अशैक्ष की सन्तान में उत्पन्न होती हैं: स्वभाव में वह न शैक्ष हैं, न अशैक्ष। (२.३८ ए) यदि ऐसा है तो क्यों नहीं स्वीकार करते कि जब यह दो अभिज्ञाएँ शैक्ष में उत्पन्न होती हैं तब शैक्षी विद्या कहलाती हैं?

४६ सी-डी. हम स्वीकार करते हैं कि वे शैक्ष में होती हैं किन्तु तब उन्हें 'विद्या' नहीं कहते क्योंकि शैक्ष सन्तान अविद्या से संप्रयुक्त होता है।[२]

वास्तव में बुद्ध नहीं कहते कि यह दो विद्याएँ शैक्ष का धर्म हो सकती हैं।— क्यों? जब एक सन्तान अविद्या से संप्रयुक्त होती है तो इस सन्तान में उत्पन्न अभिज्ञा को विद्या का नाम देना युक्त नहीं है क्योंकि उस समय अभिज्ञा अविद्या से अन्तरित होती है।[३]

[११०] सूत्र कहता है कि प्रातिहार्य तीन हैं।[४] यह किन अभिज्ञाओं के अनुरूप हैं?

---

१. =[तदाख्ये तु द्वे तत्सन्तानजे यदा।]—परमार्थ:।
"उसके सन्तान में उत्पन्न होने से दोनों का एक ही नाम है।"

२. तिब्बती संस्करण में है :······
परमार्थ : "शैक्ष में वे विद्या नहीं कहलातीं क्योंकि सन्तान अविद्या से सहगत होता है।" (शुआन चाङ्) में एक ही पाद है : "शैक्ष, अविद्या है, विद्या नहीं।"

संयुत्त, २.५८ में जो योगी अनास्रव धम्म ञाण और अन्वयञ्याण से समन्वागत होता है वह 'दिट्ठि सम्पन्न' कहलाता है और उसमें सेखञ्याण, सेखाविज्जा होती है।

३. (शुआन चाङ्) के अनुसार परमार्थ कहते हैं,
"शैक्ष में, सम्मोह-अविद्या है। इसलिए यद्यपि उसमें पहली दो अभिज्ञाएँ होती हैं तथापि वह विद्या नहीं कहलातीं। यद्यपि कुछ काल के लिए वह अविद्या का विष्कम्भन और निरोध करती हैं तथापि बाद को वह अविद्या से आच्छादित हो जाती हैं। इसलिए वे विद्या नहीं हैं।"

४. पाटिहारिय, पाटिहारिक, पाटिहेर, पाटिहरि रूप मिलते हैं, सेनार्ट, कच्चायन, ५३६; चाइल्डर्स, ३६१, कर्न, मैनुअल, ६०, गाइगर, पालि ग्रामर, ५१।

पाटिहरि = केवल प्रातिहार्य; यमक पाटिहरि; पटि संभिदामग्ग, २.१२५।

मिलिन्द, ३०९, जो निर्वाण में प्रवेश कर चुके हैं उनके स्तूप पर उनके पूर्व अधिष्ठान से देवाधिष्ठान से या श्रावकाधिष्ठान से अद्भुत कर्म का उत्पाद करना।··· ······

(कोश, ७.५१ देखिए)।

परमार्थ और शुआन चाङ् का अनुवाद (तिओ) है।

महाव्युत्पत्ति में 'परिवर्तन-हरण' ऋद्धि-परिवर्तन।

आद्या तृतीया षष्ठी च प्रातिहार्याणि शासनं ।
अग्र्यमव्यभिचारित्वाद्धितेष्ट फलयोजनात् ।।४७।।

४७ ए-बी. प्रथम, तृतीय और षष्ठ, प्रातिहार्य हैं ।[1]

ऋद्धि विषयाभिज्ञा, चेतः पर्यायाभिज्ञा, आस्रव क्षयाभिज्ञा क्रम से तीन प्रातिहार्य हैं । ऋद्धि प्रातिहार्य, अर्थात् ऋद्धि से विनेय चित्त का हरण करता है; आदेशना प्रातिहार्य अर्थात् चित्त ज्ञान से--यह कहकर कि 'आपका चित्त ऐसा है'—चित्त हरण करना; अनुशासनी प्रातिहार्य अर्थात् यथाभूतोपदेश से विनेय चित्त का हरण करना । 'प्र' का अर्थ 'आदिकर्मन्' है । 'अति' का अर्थ 'भृशम्' है (६५८, १३) ।

यह तीन अभिज्ञाएँ प्रातिहार्य कहलाती हैं क्योंकि उनकी सहायता से विनेय हरण का कार्य आरम्भ होता है (इदमनेन कर्म प्रारब्धम्) और अत्यन्त तीव्रता के साथ होता है (प्रति शब्दयोरादि कर्म भृशार्थत्वात्) इनसे विनेय चित्त (विनेय मनस्) का आदि में (आदितस् आदौ) हरण (हरन्ति) होता है और अत्यन्त तीव्रता के साथ (अतिभृशम्) होता है । अथवा वे प्रातिहार्य इसलिए कहलाते हैं क्योंकि उनमें आदि में ही प्रबल रूप से उन सत्त्वों का चित्त अपहृत होता है जो सद्धर्म से द्वेष करते हैं, (प्रतिहत) जो उसके प्रति उपेक्षा भाव रखते हैं (मध्यस्थ)[2] इनसे विदुष्ट चित्त, अप्रतिपन्न चित्त, अनुत्साहित चित्त के सत्त्व शरण गमन

[१११] चित्त, श्रद्धाचित्त और अधिगम चित्त का उत्पाद करते हैं ।[3]

४७ बी. अनुशासनी सर्वोत्तम है ।[4]

---

१. दीघ १.१९३, २१२, ३.२२०, अंगुत्तर, १.१७० (बहुभिक्षुओं में होते हैं), ५.३२७; महावस्तु, ३.११६; बुरनुफ, लोटस्, ३१०, दिव्य, १२, प्रातिहार्य सूत्र ।

प्रातिहार्य आवर्जन के उपाय हैं; बोधि सत्त्वभूमि, १.६ ।

२. परमार्थ में यह वाक्य नहीं है—व्याख्या इस बात को निश्चित करती है कि मूल में 'प्रतिहत मध्यस्थ' है । महाव्युत्पत्ति, १४६, ७, प्रतिहत चित्त (६५८, १७) ।

३. शुआन चाङ् कहते हैं : यह तीन अभिज्ञाएँ क्रम से बुद्धधर्म में शरणगमन के लिए प्रोत्साहित करती हैं, श्रद्धा उत्पन्न करती हैं, चर्या में प्रवृत्त करती हैं (अधिगम के अर्थ में) ।

४. ऋद्धि प्रातिहार्य हीन है क्योंकि ऋद्धि मन्त्रों से उत्पन्न हो सकती है : वसुबन्धु यहाँ तक प्राचीनमत का उल्लेख करते हैं, दीघ, १.२१३ (नीचे टि० ५ देखिए) । [किन्तु बुद्ध इद्धिपाटि हारिय का अभिसंस्कार करते हैं, दीघ, ३.९ और सर्वत्र]—चुल्ल ५.८, २ (पिंडोलवस्तु) का उल्लेख करना आवश्यक है : उसने दुक्कट आपत्ति की है क्योंकि वह गृहपतियों को 'उत्तरिमनुस्सधम्म इद्धिपाटिहारिय' दिखाता है [अथवा "जो अपने ऋद्धि प्रभाव को प्रदर्शित करता है"] [दुक्कट शब्द के प्रयोग के काल पर रोज डेविड्स की सूचनाएँ डायलाग्स, ३.३] दिव्य, २७५ और प्रिशिलुस्की, अशोक, ८० से तुलना कीजिए ।

तीन प्रातिहार्यों में अनुशासनी प्रातिहार्य उत्तम है।

४७ सी-डी. क्योंकि यह बिना अभिज्ञा के नहीं होता, क्योंकि यह हितमनोज्ञ फल प्रदान करता है।[1]

ऋद्धि प्रातिहार्य और आदेशना प्रातिहार्य का 'विद्या' से उत्पाद किया जा सकता है।[2]

गान्धारी नाम की एक विद्या है।[3] जो सत्त्व उससे समन्वागत होता है

[११२] वह आकाश में उड़ सकता है। ईक्षणिका[4] नाम की भी एक विद्या है, जो सत्त्व उससे समन्वागत होता है वह परचित्त को जानता है।

दीघ, ३.११२ का कहना है कि "आर्या ऋद्धि (इद्धि) जो आस्रव और उपाधि से विनिर्मुक्त होती है" उपेक्षा (उपेक्खा) है और ऋद्धि प्रातिहार्य (एकोपिहुत्वा, इत्यादि) अनार्या ऋद्धि (न अरिया) है और आसव तथा उपाधि से संयुक्त होती है।

८·३५ बी देखिए।

अंगुत्तर धम्म-इद्धि का प्रतिपक्ष आमिस-इद्धि बताता है (१.९३); देवदत्त केवल पृथुग्जनिका इद्धि की प्राप्ति करता है। (चुल्ल, ७.१, ५ और धम्मपद की अर्थ कथा; १७)।

दीघ, ३.१०७ के अनुसासन विद्या और अनुशासनी एक दूसरे से भिन्न हैं। इनमें कोई समानता नहीं है।

१. =अव्यभिचारित्व [हितमनोज्ञ फल योजनात् ॥]

परमार्थ विद्यास्थान का अनुवाद देते हैं। शुआन चाङ् जिस शब्द का प्रयोग करते हैं उसका अनुवाद·········अभिचार मन्त्र 'अथर्व' करते हैं।

२. आदेसन विधा, दीघ, ३.१०३।

३. दिव्य पृष्ठ ६३६ नीचे देखिए।

दीघ, १.२१३ : अत्थि खो भो गन्धारी नाम विज्जा। तायसो भिक्खु अनेक विहितम् इद्धिविधं पच्चनुभोति। एकोपि हुत्वा·········। इमं खो अहमिद्धि पाटिहारिये आदीनवं सम्पस्समानो इद्धि पाटिहारियेन······जिगुच्छामि·········।

[डायलाग्स, १.२७-; जातक, ४.४९८ में यह विज्जा अपने को अदृश्य बनाने की विद्या है।]

गान्धारी—गान्धारी एक विद्यादेवी है (हेमचन्द्र)।

गान्धार मन्त्र से शीफनर, टिबटन टेल्स, पृ० २८८ (कंजुर ४.१७१) के नायक गन्धमादन पर्वत के फल प्राप्त करते हैं।

४. शुआन चाङ्, ईक्षणि, परमार्थ, ईक्षणिका। —

नीचे देखिए ७.५६ बी.—बोधिचर्या, ९.२५; संयुत्त, २.२६०, इत्थिहृक्खनिका।

अनुशासिनी प्रातिहार्य का ऐसे उपायों से साक्षात्कार नहीं हो सकता क्योंकि आस्रवक्षयाभिज्ञा[1] से कभी वियुक्त न होने के कारण (अव्यभिचारिन्) यह अन्य दो प्रातिहार्यों मे उत्कृष्ट है।

इसके अतिरिक्त पहले दो प्रातिहार्य केवल अल्प समय के लिए परचित्त को आबद्ध कर सकते हैं और उत्कृष्ट फलों का उत्पाद नहीं करते।

इसके प्रतिकूल तृतीय प्रातिहार्य हित-सुख फल उत्पन्न करने में दूसरों की सहायता करता है क्योंकि इस प्रातिहार्य द्वारा शास्ता यथार्थ में मोक्षोपाय और सुखोपाय की शिक्षा देता है।

'ऋद्धि' से क्या समझना चाहिए।

> **ऋद्धिः समाधिर्गमनं निर्माणं च ततो गतिः।**
> **शास्तुर्मनोजवान्येषां वाहिन्यप्याधि मोक्षिकी ॥४८॥**

४८ ए. ऋद्धि समाधि है।[2]

[११३] विभाषा नय से ऋद्धि शब्द का अर्थ समाधि है। समाधि को ऋद्धि इसलिए कहते हैं क्योंकि इसके द्वारा ही कार्य सम्पन्न होता है, कार्य का सम्मुखीभाव होता है।

यह कर्म ऋद्धि का विषय कहलाता है। यह क्या है?

अत्थि मणिको (मणिका) नाम विज्जा। ताय······परसत्तानम्······चित्तं पि आदिसति चेतसिकं पि आदि सति··· ।···जिगुच्छामि। कतमं च केवद्ध अनुसासनीपाटिहारियम् [डायलाग्स, १.२७८ बुद्धघोस "मणिक विज्जा" और "चिन्तामणि विज्जा" को एक बताते हैं; रीज़ डेविड्स जातक, ३.५०४, सुमंगलविलासिनी, २६५, २६७, २७१ का हवाला देते हैं।]

१. अव्यभिचारित्वात्=क्लेशक्षयनान्तरीयकत्वात् (व्याख्या) (६५८, १६)।

शुआन चाङ्: "अनुशासनी प्रातिहार्य केवल आस्रवक्षयाभिज्ञा से ही सम्मुखीकृत हो सकता है। इसलिए यह अव्यभिचारिन् है।" सम्पादक के अनुसार अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए—"इसलिए यह अवश्यमेव निर्वाण और सुख के फल प्रदान करता है।"

२.=[ऋद्धिः समाधिः]।

ऊपर पृष्ठ ६८, टिप्पणी १ देखिए।

'इद्धि' १० प्रकार की है। इसमें से अन्तिम तीन (अधिट्ठानिद्धि, विकुब्बनिद्धि, मनोमयिद्धि) का यहाँ उपयोग है। इन १० इद्धियों की व्याख्या "कम्पेण्डियम की भूमिका पृ० ६० में की है (पटिसंभिदामग्ग, २.२०५, अत्थसालिनी, ६१, विसुद्धि, २०२, ३७३, ७६६)—श्रीमती रीज़ डेविड्स, साइकालोजी, १६६।

इद्धि प्रभाव की मर्यादा, कथावत्थु, २१.४ बोधिसत्त्वभूमि, १.५ (म्यूज़िओं, १६११ पृ० १५६-१६४)।

४८ ए-बी. गमन और निर्मित ।[1]

गमन तीन प्रकार का है : वहनं, अधिमोक्षं, मनोजवं ।[2]

४८ बी-सी. मनोजव गमन केवल शास्ता में होता है ।[3]

यह गमन चित्त के समान बड़े वेग से सम्पन्न होता है । इसलिए इसे 'मनोजव' कहते हैं । केवल बुद्ध में यह होता है, दूसरों में नहीं ।

काय सुदूर अन्तर उतने समय में पहुँच जाता है जितने समय में चित्त वहाँ पहुँचता है । इसलिए बुद्ध कहते हैं कि बुद्ध का विषय अचिन्त्य है ।[4] शास्ता में अन्य दो गमन भी होते हैं ।

[११४] ४८ सी-डी. दूसरों में वहन-गमन और अधिमोक्ष-गमन होते हैं ।

श्रावक और प्रत्येक बुद्ध अपने शरीर को उठाकर आकाश में आरोहण करते हैं जैसे पक्षी अपने पक्षों[5] को उठाती है और आकाश में संचार करती है ।[6] जब अधिमोक्ष-गमन होता है तब जो वस्तु दूर है वह चित्त संकल्प से (अधिमोक्ष से) आसन्न हो जाती है (दूरस्यासन्नाधि मोक्षेण) (६५८, २१) :[7]

---

१. परमार्थ : अत्र आकाशगमनम् निर्मितम् ।—शुआन चाङ् : "विषय द्विविध है, गमन और निर्मित ।"

संयुत्त, ५.२८२ देखने योग्य है ।

२. "किसी साधन से गमन" मुझे मूल संस्कृत शब्द नहीं ज्ञात है । तिब्बती अनुवाद सूचित करता है कि मूल शब्द 'वृ' या 'गम्' धातु से बना है । शुआन चाङ् : शरीर का आवहन, परमार्थ : (आकर्ष, आवह, आवर्ज—शरीर का आवहन) ।

'अधिमोक्ष गमन', अधिमोक्ष से निर्वृत्त, आधिमोक्षिक । "चित्त के समान आशुगमन" निस्सन्देह 'मनोजव गमन' है । परमार्थ : चित्त-जव; शुआन चाङ् : मनस्-आक्षेप (आवेध) । दिव्य, ५२-५३ में बुद्ध और मौद्गल्यायन की मारीचक लोक की यात्रा का वर्णन है । सुमेरु को उल्लंघन का आश्रय बना वे मौद्गल्यायन की ऋद्धि से जाते हैं । साधारणतः सात दिन की यात्रा है । वे क्षण में बुद्ध की ऋद्धि से लौट आते हैं : इस ऋद्धि का क्या नाम है ? "मनोजवा" ।—

पुनश्च, पृ० ६३६ और नीचे. एक 'मनोजवा विद्या' का उल्लेख है ।—रीज़ डेविड्स सूचित करते हैं कि 'मनोजव' अश्व को कहते हैं : विमानवत्थु ।

३. ऊपर देखिए पृष्ठ ८३ ।

४. अंगुत्तर, २.८०, दिव्य, ५३ से तुलना कीजिए ।

५. पक्खी सकुनो— यहाँ विसुद्धि, पृ० ३९६ की व्याख्या देखिए ।

६. पृथग्जन इस प्रथम गमन से समन्वागत होते हैं । (शुआन चाङ्) ।

७. विसुद्धि, ४०१ में उद्धृत पटिसंभिदा :—

ब्रह्मलोकं गन्तुकामो···दूरे पि सन्तिके अधिट्ठाति सन्तिके होतू ति सन्तिके होति ।—

इस अधिमोक्ष के कारण वस्तु का आशु गमन होता है।

कामाप्तं निर्मितं बाह्यं चतुरायतनं द्विधा।
रूपाप्तं द्वे तु निर्माणचित्तं स्तानि चतुर्दश ॥४६॥

४६ ए-सी. कामधातु का निर्मित ४ बाह्य आयतन है।

यह द्विविध है। रूपधातु का निर्मित २ आयतन है।[1]

निर्मित दो प्रकार का है—१. कामधातु के विषय का, २. रूपधातु के विषय का। प्रथम रूप (वर्ण संस्थान), गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य का निर्माण है। इस शब्द को छोड़कर शेष ४ बाह्य आयतन (बाह्य-चतुरायतन)[2] है। दूसरा निर्मित केवल रूप (=वर्ण संस्थान) और स्प्रष्टव्य का निर्माण है क्योंकि गन्ध और रस का रूपधातु में अभाव है।[3]

कामधातु का निर्मित द्विविध है—१. स्वशरीर सम्बद्ध; २. परशरीर सम्बद्ध;

[११५] उदाहरण के लिए, योगी सिंह का रूप धारण करता है या वह स्वात्मा के बाहर सिंह का निर्माण करता है।

रूपधातु के निर्मितों के लिए भी यही नियम है।

कामधातु में उपपन्न सत्त्व दो प्रकार के निर्माण का निर्माण करता है, कामावचर, रूपावचर। और यह भी द्विविध होता है—स्वशरीर सम्बद्ध, परशरीर सम्बद्ध। इस प्रकार कामधातु में उपपन्न सत्त्व का निर्मित चतुर्विध होता है, एवं रूपधातु में उपपन्न सत्त्व का भी चतुर्विध निर्मित होता है।

इसलिए निर्वाण अष्टविध है।

किन्तु जब रूपधातु में उपपन्न सत्त्व कामधातु संगृहीत निर्माण का उत्पाद करता है तो क्या वह गन्ध और रस से समन्वागत (समन्वागम, प्राप्ति) नहीं होता?—नहीं, उसमें कोई प्राप्ति नहीं होती, जैसे अपने शरीर से सम्बद्ध वस्त्र या आभरण से उसका समन्वागम नहीं होता क्योंकि यह पदार्थ असत्त्व संख्यात (१ १०बी) होने से इन्द्रियाधिष्ठान से सम्बद्ध नहीं है।

ब्रह्मलोक को जाने की इच्छा से वह अधिष्ठान करता है कि यद्यपि वह दूर है तथापि वह समीप आ जाय; यह आसन्न हो। और वह आसन्न हो जाता है। [यह कायेन वसं वत्तेति सूत्र की व्याख्या है, ऊपर पृष्ठ ६८, टिप्पणी १ को देखिए]।

१. =कामाप्तनिर्मितं बाह्यं चतुरायतनं [द्विधा। रूपाप्तं द्वे] चार आयतन, शब्द नहीं, ऊपर देखिए पृ० ११८ और नीचे ७.५१ बी.।

२. बाह्य अर्थात् अनुपात्त, कोश, १.३४ सी.।

"आध्यात्मिक नहीं जो चित्त को उपयोगी होती है।"

३. जैसा १.३० बी-डी में है।

तथापि कुछ आचार्य कहते हैं कि रूपधातु में उपपन्न सत्त्व केवल दो आयतनों का —रूप और स्प्रष्टव्य का—निर्माण कर सकता है क्योंकि उनका मत है कि यदि यह सत्त्व गन्धादि का निर्माण करता है तो उसमें गन्धादि के समन्वागम का अभाव पाया जाता है।[1]

क्या निर्माण-अभिज्ञा से ही योगी निर्मित का निर्माण करता है?—नहीं।—यह कैसे है?—यह अभिज्ञा फल से होता है। (२.७१ बी, पृ० ३२०)—यह अभिज्ञा फल कौन-सा धर्म है?

४६ सी-डी. निर्माण चित्त से इसका निर्माण होता है। इनकी संख्या १४ है।[2]

ऋद्धि-विषय-अभिज्ञा का फल निर्माण चित्त है। यह निर्मित का उत्पाद कर सकता है। यह चित्त १४ हैं।

यथाक्रमं ध्यानफलं द्वे यावत् पंचनोर्ध्वजं।
तल्लाभो ध्यानवच्छुद्धात् तत् स्वतश्च ततोऽपिते ॥५०॥

५० ए-बी. यह ध्यान फल हैं। संख्या में २ से ५, यथाक्रम।

[११६] यह चित्त १४ हैं। यह ध्यान से (मूल ध्यान से) जो इनका संनिश्रय है, विभक्त होते हैं। दो चित्त, प्रथम ध्यान के फल: कामधातु-संगृहीत प्रथम चित्त, प्रथम ध्यान-संगृहीत द्वितीय चित्त।[3]

तीन चित्त, द्वितीय ध्यान के फल: दो अधर भूमियों (कामधातु और प्रथम ध्यान) के दो चित्त और एक स्वभूमिक चित्त (उस भूमि का जिस भूमि का वह ध्यान है जिसका यह फल है, अर्थात् द्वितीय ध्यान का) इसी प्रकार चार चित्त, ५ चित्त, तृतीय और चतुर्थ ध्यान के फल। निर्माण चित्त, जो किसी एक ध्यान का फल है, इस ध्यान की भूमि का होता है या एक अधर भूमि का होता है।

५०बी. वह अधर ध्यान से नहीं उत्पन्न होते।[4]

---

१. कम्पेण्डियम, इण्ट्रोडक्शन, पृ० ६१ और विसुद्धि, ४०५ में दी हुई तीन इद्धियों की व्याख्या से तुलना कीजिए।

२. =[मानचित्तं स्तानि पुनश्चतुर्दश ॥]

३. अर्थात् कामधातु संगृहीत चित्त और जिससे योगी कामधातु के रूप का निर्माण करता है, प्रथम ध्यान संगृहीत चित्त और जिससे योगी प्रथम ध्यान के रूप का निर्माण करता है।—७.५१ ए-बी.।

४. =“ऊर्ध्वभूमि से उनका उत्पाद नहीं होता।”—

परमार्थ: “ऊर्ध्व नहीं”, भाष्य: एक ऊर्ध्वभूमि का निर्माण-चित्त एक अधर ध्यान के चित्त का फल नहीं है।” शुआन चाङ् अपनी कारिका में इस पाद का अनुवाद नहीं देते किन्तु भाष्य में देते हैं: “[निर्माण चित्त] अधरभूमि को संनिश्रय नहीं बनाता।”

एक अधर भूमि के ध्यान का चित्त ऊर्ध्वभूमि के निर्माण चित्त (अर्थात् ध्यान फल) का उत्पाद नहीं करता क्योंकि उसका बल स्वल्प है।

अधर भूमि का निर्माण (अर्थात् निर्मित सत्त्व) जो द्वितीय ध्यान का फल है, गति की दृष्टि से (गमन ?) ऊर्ध्व भूमि के निर्माण से, जो प्रथम ध्यान का फल है, विशिष्ट है।[१]—तृतीय-चतुर्थ ध्यान के लिए भी यही है।

५० सी. उनका लाभ ध्यान के समान होता है।[२]

[११७] मूल ध्यान के फल, निर्माण चित्त का लाभ, ध्यान-लाभ के समान होता है अर्थात् वैराग्य से। क्योंकि फल का लाभ उसी समय होता है जब उसके संनिश्रय का लाभ होता है।

५० सी-डी. निर्माण चित्त शुद्धक चित्त या निर्माण चित्त से उत्पन्न होता है; यह दो का उत्पाद करता है।[3] ध्यान से उसका फल, अर्थात् निर्माण चित्त, उत्पन्न होता है।

१. द्वितीय ध्यान के निर्माण चित्त से निर्मित कामधातु का निर्मित सत्त्व, चाहे वह कामधातु का क्यों न हो, द्वितीय ध्यान की भूमि में जा सकता है। प्रथम ध्यान के निर्माण चित्त से निर्मित प्रथम ध्यान भूमिक निर्मित सत्त्व की गति द्वितीय ध्यान भूमि में नहीं है।

२. ध्यानवल् लाभः (६५६, १६)।

वैराग्य से ध्यानों का लाभ होता है।

कामधातु से अपने को विरक्त कर योगी प्रथम ध्यान का लाभ करता है। उसी प्रकार में योगी प्रथम ध्यानभूमिक निर्माण चित्तों की प्राप्ति करता है।

३. क्या उसने निर्माण चित्त के उत्पाद के लिए ध्यान से व्युत्थान किया है? हाँ या नहीं? नहीं।—

५० सी-डी. यह शुद्धक ध्यान से और अपने से उत्पन्न होता है; यह दो से अनुगत होता है।—

शुद्धक ध्यान के अनन्तर निर्माण-अभिज्ञा होती है। निर्माण-अभिज्ञा के अनन्तर निर्माण चित्त होता है जो अभिज्ञा का फल है। इस निर्माण के अनन्तर अनेक निर्माणचित्त होते हैं जो दूसरे चित्त से उत्पन्न नहीं होते। अन्त में अन्तिम निर्माण चित्त के अनन्तर निर्माण-अभिज्ञा होती है। इसके अनन्तर शुद्धकध्यान या निर्माण-चित्त होता है।—यह कैसे? जो योगी समाधिफल में स्थित हो (समाधिफलस्थितस्य = निर्माणचित्त—स्थितस्य) यदि पुनः मूलध्यान में न प्रवेश करे तो समाधि फल से व्युत्थान नहीं होता।

व्याख्या में भाष्य का एक वाक्य उद्धृत है: "निर्माणचित्त शुद्धक ध्यान से उत्पन्न होता है अर्थात् निर्माणचित्त का सम्मुखीभाव होने पर जो आद्य होता है वह शुद्धक से उत्पन्न होता है; और निर्माणचित्त से भी उत्पन्न होता है अर्थात् द्वितीयादि निर्माणचित्त, जब निर्माणचित्त का प्रवाह होता है।

यह चित्त व्युत्थान में प्रवृत्त नहीं होता। शुद्धक ध्यान से (शुद्धक, ८.६) आद्य निर्माण चित्त उत्पन्न होता है। उसके अनन्तर निर्माण-चित्तों का प्रवाह स्वजातीय चित्त से अर्थात् आद्य निर्माण चित्त से, द्वितीय से······उत्पन्न होती है। इस प्रवाह के पूर्व निर्माण-चित्त इसलिए निर्माण-चित्त का उत्पाद करते हैं। अन्तिम निर्माण-चित्त के अनन्तर शुद्धक ध्यान होता है। इसलिए निर्माण-चित्त दो चित्तों से (शुद्धक ध्यान और निर्माण-चित्त से) उत्पन्न होता है और इन्हीं दो का उत्पाद करता है। अव्याकृत समाधि फल, निर्माण चित्त में स्थित योगी ध्यान में पुनः प्रवेश नहीं करता ऐसा मानने का अर्थ यह होगा कि वह ध्यान से व्युत्थान नहीं करेगा। द्वार से प्रवेश करता है, द्वार से बहिर्गत होता है।

स्वभूमिकेन निर्माणं भाषणं त्वधरेण च।
निर्मात्रैव सहाशास्तुरधिष्ठायान्यवर्तनात् ॥५१॥

५१ ए. स्वभूमि चित्त से निर्माण होता है।[1]

[११८] सर्व निर्माण वस्तु (निर्मित) स्वभूमि चित्त से निर्मित होती है। क्योंकि किसी एक भूमि का निर्माण चित्त दूसरी भूमि के निर्मित का उत्पाद नहीं करता।

५१ बी. किन्तु भाषण अधर भूमि के चित्त से भी होता है।[2]

निर्मित का भाषण एक अवस्था में अधरभूमि के चित्त पर भी आश्रित है।

कामधातु या प्रथम ध्यान के निर्मित सत्त्व का भाषण उस निर्मित सत्त्व की भूमि के चित्त के प्रभाव से होता है। किन्तु द्वितीय ध्यान आदि के ऊर्ध्वभूमिक चित्त के निर्मित सत्त्व का भाषण प्रथम ध्यानभूमिक चित्त से होता है। क्योंकि ऊर्ध्व भूमियों में सवितर्क-सविचार (२.३३, पृ० १७४) और विज्ञप्ति (४.७ डी) समुत्थापक चित्त नहीं होता।

५१ सी. निर्माता के साथ, शास्ता के व्यतिरिक्त।[3]

---

१. =स्वभूमिकेन निर्माणम्।

२. =भाषणं तु अधरेण च (व्याख्या, २.७१ बी में उद्धृत)।

३. व्याख्या में इस श्लोक की टीका है, १ पृ० २७ (पेट्रोग्राड, १६१८)—

देखिये दिव्य, १६६—यह कोश के अत्यन्त समीप है।

यं खलु श्रावको निर्मितम् अभिनिर्मिमीते यदि श्रावको भाषते निर्मितोऽपि भाषते। श्रावके तूष्णीभूते निर्मितोऽपि तूष्णीभवति। एकस्य भाषमाणस्य सर्वे भाषन्ति निर्मिताः। एकस्य तूष्णीभूतस्य सर्वे तूष्णी भवन्ति ते। भगवान् निर्मितं प्रश्नं पृच्छति भगवान् व्याकरोति (यह पाठ अधिक ठीक है : भगवन्तं निर्मितः प्रश्नं पृच्छति। भगवान् व्याकरोति। निर्मितं भगवान् प्रश्नं पृच्छति। निर्मितो व्याकरोति।)—

बोध, २.२१२ से तुलना कीजिए। मध्यमक, १७.३१-३२।

निर्मित पर, कारण प्रज्ञाप्ति, ६, मध्यमक वृत्ति, पृ० ४५।

जब निर्माता जो निर्मितों का निर्माण करता है, कतिपय निर्मित का निर्माण करता है तो सब निर्मित अपने निर्माता के बोलने पर भाषण करते हैं क्योंकि वाग्-विज्ञप्ति (४.३ डी) या वाक्कर्म सर्वसाधारण है। इसीलिए श्लोक में कहा है "जब एक बोलता है अर्थात् निर्माता, तब सब निर्मित बोलते हैं; जब एक चुप हो जाता है तब सब चुप हो जाते हैं।"

यह नियम बुद्ध के लिए नहीं है क्योंकि वह ध्यानवशित्व से समन्वागत है :

[११६] उनकी इच्छा के अनुसार निर्मित एक-दूसरे के बाद भाषण करते हैं; वे प्रश्न पूछते हैं और बुद्ध उत्तर देते हैं; बुद्ध प्रश्न करते हैं और वे उत्तर देते हैं। किन्तु कहा जायगा कि जब वह चित्त उत्पन्न होता है जो वाक् का उत्पाद करता है तब निर्माण चित्त नहीं रहता; इसलिए उस क्षण में निर्मित नहीं रहता; तो फिर निर्मित कैसे भाषण करेगा ?

५१. निर्मित भाषण करता है क्योंकि निर्माता निर्मित की अवस्थान-कामना कर दूसरे चित्त से भाषण को प्रवर्तित करता है।[1]

ध्यान प्रवेश और निर्माण के पूर्व के चित्त के बल से निर्माता निर्मित का 'अधिष्ठान', (अधितिष्ठति) रक्षा विधान यह कहकर करता है कि 'यह अवस्थान करे'। दूसरे चित्त से वह वाक् का प्रवर्तन करता है। इसलिए यद्यपि निर्मित भाषण करता है तथापि दो चित्त, निर्माण चित्त और वह जो वाक् प्रवर्तन करता है, युगपत् नहीं है और सदा निर्मित का संनिश्रय ले वाक् कर्म प्रवृत्त होता है।

मृतस्याप्यस्त्यधिष्ठानं नास्थिरस्यापरे तु न।
आदावेकमनेकेन जितायां तु विपर्ययात् ॥५२॥

५२ ए. अधिष्ठान मरणानन्तर भी रहता है।[2]

---

१. =अधिष्ठायान्यवर्तनात् ॥ (६५६, २७)।

२. ए. स्थापित करने, अवस्थान करने के अर्थ में 'अधिष्ठान' और 'अधितिष्ठति' शब्द कई बार आ चुके हैं (अधिष्ठानि की ऋद्धि ३.६, नीचे पृ० १२०, टि० १ देखिए; २. पृ० १२०, आयुः संस्कारान् अधितिष्ठति (स्थापयति)=अधिष्ठानवशिता; ७. पृ० ८३ अधिष्ठान प्रभाव।

बी. इस शब्द के कई प्रयोग अपारिभाषिक अर्थ में मिलते हैं, उदाहरण के लिए, बोधिचर्यावतार, २.४५।

"यम के दूतों से पापी अधिष्ठित (आत्मसात्कृत) है; महावस्तु, ३.३७६, शिक्षा समुच्चय, ३१४ :

[१२०] अपने जीवनकाल के लिए ही निर्माता निर्मित के अधिष्ठान का सामर्थ्य नहीं रखता; उसके अधिष्ठान बल से निर्मित उसके मरण के अनन्तर भी अवस्थान कर सकता है।

इस प्रकार आर्य महाकाश्यप ने अपने अधिष्ठान से (या 'अधिमोक्ष' से) भगवत् मैत्रेय के उत्पाद काल तक के लिए अपनी अस्थियों की अवस्थिति रखी है।[1]

"जो सत्त्व यह नहीं समझते कि बोधिसत्त्व के विषय में कैसे कहना चाहिए वह मार से अधिष्ठित हैं।"—शिक्षा समुच्चय, ३५६, "सब शुभकर्म वीर्य से अधिष्ठित हैं।" वही, २८५, : "बोधिसत्त्व इस प्रकार कर्म करते हैं कि उनका आशय सुगुप्त, विशुद्ध, स्वधिष्ठित होता है।" संयुत्त, ५.२६८ : सुग्गहीत, स्वधिट्ठित : संयुत्त, ३.१०, १३५. (चित्तक्लेश का अधिट्ठानाभिनिवेस)।

सी. अधितिष्ठति="किसी वस्तु, किसी आश्रय, स्वात्मा पर विशेष अधिमोक्ष प्रयोग से, एक विशेष क्रिया करता है।"

कोश में 'स्थापित करने के' अर्थ में यह सामान्य अर्थ विशिष्ट हो गया है [पटिसंभिदामग्ग, २.२०७ की नामावली में इसका उद्देश्य 'एकोपि हुत्वा बहुधा अस्सं' इत्यादि ऋद्धि-प्रातिहार्य है; २.२०७; अत्थसालिनो, अनुवाद, पृ० १२१ और कम्पेण्डियम भी देखिए]।

किन्तु रूपाधिष्ठान बल से (शिक्षा समुच्चय, ३३०, ११) प्रम्थ दोपंकर के मस्तक पर चढ़ते हैं (दिव्य, २५१, १); बुद्ध के अधिष्ठान (=आनुभाव) से सत्त्व पुण्य में मति करते हैं, बोधि, १.५।

डी. बुरनुफ़ 'आशीर्वाद' अर्थ करते हैं।

वह कहते हैं कि थेर के आशीर्वाद से सत्त्व थूपवंस की यात्रा करते हैं; बुद्ध के आशीर्वाद से बोधिसत्त्व बुद्धत्व के लिए प्रणिधान करते हैं (लंकावतार में दो अधिष्ठान देखिए जिनमें से दूसरा अभिषेक है, नञ्जियो पृ० १००)। हम जानते हैं कि ८वीं भूमि अधिष्ठान-भूमि है (चीनी पर्याय कई प्रकार के हैं) :

इस भूमि का यह नाम इसलिए है क्योंकि यह अचल है (पराविकोपनत्वात्)

ई. गीता, ४.६ से तुलना कीजिए : 'प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया, और लोटस् १५.३ : आत्मानम् अधिष्ठहामि सर्वांश्च सत्त्वान्......निर्माण भूमि चुपदर्शयामि......न चापि निर्वाम्यहु तस्मि काले।

१. दिव्य, ६१—मैत्रेयः......काश्यपस्य भिक्षोरविकोपितं अस्थिसंघातं दक्षिणेन पाणिना गृहीत्वा......काश्यप सम्बन्धी सब कथाओं पर देखिए, प्रिज़िलुस्की, जे० एएस० १९१४, २.५२४ और अशोक, १६६, ३३१; फाहियान, अध्याय ३३।

कोश, ३ ९ डो के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि बोधिसत्त्व जरायु से क्यों उत्पन्न होते हैं, उपपादुक से क्यों नहीं उत्पन्न होते। ऐसा इसलिए होता है ताकि उनका शरीर मिल सके क्योंकि उपपादुक का शरीर उनकी मृत्यु पर गुप्त हो जाता है। —

यह व्याख्या उन आचार्यों की है जो भगवत् को अधिष्ठानिकी ऋद्धि में अप्रतिपन्न हैं।

५२ ए. जो चिरस्थितिक नहीं है उसके सम्बन्ध में नहीं।

केवल चिरस्थितिक वस्तु ही दीर्घकाल के लिए अधिष्ठान की योग्यता रखती है। इसलिए महाकाश्यप अपने शरीर का अधिष्ठान नहीं करते।

५२ बी. अन्य आचार्य कहते हैं—नहीं।

अधिमोक्ष बल से अधिष्ठित शरीर मृत्यु के उपरान्त नहीं रहता। यदि काश्यप के अस्थि संघात की अवस्थिति होती है तो यह देवताओं के अधिष्ठान से है।[1]

[१२१] ५२ सी-डी. आरम्भ में योगी अनेक निर्माण-चित्तों से एक निर्मित का निर्माण करता है; इसके विपरीत, जब अभ्यास विशुद्ध हो जाता है।[2] आदि कार्मिक, अनेक निर्माण-चित्तों से, एक निर्मित का निर्माण करते हैं; पश्चात् जब अभ्यास पूरा हो जाता है तब योगी अपनी इच्छा के अनुसार, एक निर्माण-चित्त से अनेक स्वल्प-निर्मित का निर्माण करता है।

अव्याकृतं भावनाजं त्रिविधं तूपपत्तिजं।
ऋद्धिर्मन्त्रौषधाभ्यस्व कर्मजा चेति पंचधा ॥५३॥

५३ ए-बी. भावना से उत्पन्न, अव्याकृत, औपपत्तिक, त्रिविध।[3]

जब निर्माण-चित्त भावना से उपलब्ध होता है (अर्थात् जब वह ध्यानफल, अभिज्ञा-फल होता है) तब वह अव्याकृत होता है: अभिज्ञा-फल वास्तव में एक प्रकार का अव्याकृत है (२.७१ बी)।

किन्तु जब यह उपपत्तिज होता है तो कुशल, अकुशल, अव्याकृत होता है: उदाहरण के लिए, देव, नागादि कभी दूसरे पर अनुग्रह करने के लिए, कभी विहेठन के लिए, निर्माण करते हैं।

१० रूप आयतनों में से शब्द को छोड़कर ९ आयतन, अर्थात् चक्षु, रूप, श्रोत्र, घ्राण, इत्यादि निर्मित हो सकते हैं।[4]

---

१. देवों के अधिष्ठान से प्रवर्तित स्वप्न, विनीत देव न्याय बिन्दु पर, पृ० ४७ (तिब्बती अनुवाद, बिबलिओथिका इण्डिका में)।

२. अंगुत्तर, १ २०९ की अर्थ कथा।

३. =अव्याकृतं भावनजं त्रिविधं तूपपत्तिजम्।

४. मन-आयतन और धर्मायतन का निर्माण नहीं हो सकता क्योंकि निर्मित अचित्तक होता है। यह शास्त्र से ज्ञात होता है: निर्मितः अचिन्तिको वक्तव्यः। निर्मातुश्चित्तवशेन वर्त्तते, (व्याख्या)। यह शास्त्र 'कारण प्रज्ञाप्ति शास्त्र' है। इसका विवेचन बुद्धिस्ट कास्मोलोजी, पृ० ३४०-४१ में किया गया है (६६०, १२. अचिन्तिको, अचिन्तिको)।

किन्तु यह कहा जायगा कि यदि ६ आयतनों का निर्माण हो सकता है तो इन्द्रिय निर्माण भी हो सकता है और इन्द्रिय निर्माण से अपूर्व सत्त्व का प्रादुर्भाव हो सकता है क्योंकि इन्द्रियाँ रूप (वर्ण-संस्थान) हैं जो 'सत्त्व संख्यात' हैं।[१]

इन्द्रिय का निर्माण नहीं हो सकता, किन्तु हम यथार्थतः कह सकते हैं कि

[१२२] "निर्माण नवायतनिक है" क्योंकि स्वशरीर सम्बद्ध या परशरीर सम्बद्ध निर्माण में रूप, गन्ध, रस, स्प्रष्टव्य यह चार आयतन होते हैं और निर्माण की अवस्थिति ५ इन्द्रियों के बिना नहीं होती [गन्ध] (६६०, १७)।

(अविनिर्भूत, अविनिर्भागेन अवस्थित) (६६०, १७)।

[१८ बी.६][२] जैसा हमने कहा है ऋद्धि द्विविध है : भावना (या ध्यान) से उत्पन्न, औपपत्तिक।[३] यह अन्य तीन प्रकार की भी है :

५३ सी-डी. ऋद्धि मन्त्र, ओषधि, कर्म से भी उत्पन्न होती है।

सब मिलाकर यह पाँच प्रकार की है।

इसलिए यह भावनाज, उपपत्तिलाभिक, विद्याकृत या मंत्रकृत, ओषधिकृत[४] कर्मज[५] है।

पाँचवें प्रकार का उदाहरण—मान्धाता आदि की ऋद्धि, अन्तराभव सत्त्वों की ऋद्धि (३.१४ डी.) [१६ ए २] है।

---

१. सत्त्वसंख्यात, सत्त्वाख्य, १.१० बी.—ऊपर पृ० ११४ में कहा गया है कि 'निर्माण' बाह्य आयतन हैं।

२. शुआन चाङ् ५४ कारिका को ५३ सी-डी कारिका के पूर्व रखते हैं।

३. उपपत्तिलाभिका—वह ऋद्धि जो कुछ सत्त्वों में होती है क्योंकि वह एक विशेष प्रकार के सत्त्व हैं।

औपपत्तिक ऋद्धि के उदाहरण, महावग्ग, १.१५, २, ६.१५, ८ चुल्ल, ७.१, ४; २,१—हम मान सकते हैं कि महासुदस्सन सुत्त के राजा की ४ इद्धियों में (अभिरूपता, दीर्घायु, अल्पाबाधता-सुपाचन, लोकप्रियता) कुछ अलौकिकता है किन्तु जब अजातसुत्त वचन देता है कि वह वज्यों का नाश करेगा, चाहे कितनी ही उनकी इद्धि, आनुभाव क्यों न हो (महापरिनिब्बान), तो इन शब्दों के अर्थ के बारे में सन्देह रह जाता है। उसका अमात्य-वस्सकार निस्सन्देह एक अच्छा विद्याधर है।

४. विद्या से मन्त्र या ओषधि बल से उत्पादित ऋद्धि।

५. उदाहरण के लिए, जिस ऋद्धि से कुछ सत्त्व जन्म से ही समन्वागत होते हैं, जैसे मान्धातर, इसलिए नहीं कि वे मनुष्य हैं किन्तु विशेष कर्म बल के कारण। यह ऋद्धि औपपत्तिक ऋद्धि से इसलिए भिन्न है। (देखिए नीचे पृ० १२६, टि० ३)।

दिव्यचक्षु और दिव्यश्रोत्र मुख्यवृत्या 'दिव्य' कहलाते हैं क्योंकि इनका देवताओं की इन्द्रियों का स्वभाव है या उपचार से यह 'दिव्य' है क्योंकि दिव्य तुल्य (दिव्ये इव) हैं।—बोधिसत्व, चक्रवर्तिन्, गृहपतिरत्न में वह 'दिव्य तुल्य' हैं।[1]

जब वह मुख्यवृत्या 'दिव्य' होते हैं तब[2] :

[१२३] दिव्ये श्रोत्राक्षिणी रूप प्रसादौ ध्यानभूमिकौ।
सभाग विकले नित्यं दूर सूक्ष्मादि गोचरे ॥५४॥

४५ ए-बी. दिव्यचक्षु और दिव्यश्रोत्र ध्यानभूमिक 'रूप प्रसाद' होते हैं।[3]

योगी ध्यान का संनिश्रय ले अपने चक्षु में आलोक का और कामाप्त श्रोत्र में शब्द का ध्यान करता है। इस प्रयोग द्वारा तद्ध्यानभूमिक सूक्ष्म, प्रणीत, भौतिक 'रूप प्रसाद' (२.१० ए, पृ० १२१) निर्वृत्त होता है।

यह रूप चक्षु और श्रोत्र है; यह देखता है और सुनता है; इसे दिव्यचक्षु और दिव्यश्रोत्र कहते हैं। ध्यानभूमिक रूप से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियाँ मुख्यवृत्या दिव्य हैं।

५४ सी-डी. वे सदा पटु होती हैं, वे अविकल नहीं होतीं। वह दूर, सूक्ष्म आदि को आलम्बन बनाती हैं।[4]

भावना प्राप्त[5] दिव्यचक्षु और दिव्यश्रोत्र सदा तत्सभाग (१.४२) नहीं होते क्योंकि वह नित्य चक्षुर्विज्ञान या श्रोत्र विज्ञान सहगत होते हैं। वह कभी अविकल नहीं होते क्योंकि वह युग्म में होते हैं, क्योंकि वह अच्छी अवस्था में होते हैं (काण विभ्रान्ता—भावात्; विभ्रान्त=केकर जो सब ओर नहीं देखता) जैसे रूपधातु में उपपन्न सत्त्वों की इन्द्रियाँ होती हैं। वह अन्तरित, सूक्ष्म, दूरादि विषय का ग्रहण करते हैं। इस विषय में

---

१. यह 'कर्मज' चक्षु और श्रोत्र से समन्वागत हैं।

२. युआन चाङ् : 'दिव्य चक्षु' 'दिव्य श्रोत्र' का क्या अर्थ है ?

यदि प्रज्ञा यहाँ अभिप्रेत है तो 'चक्षु' और 'श्रोत्र' शब्द का प्रयोग अयुक्त है। यदि रूपीन्द्रिय यहाँ अभिप्रेत है तो अभिज्ञा की इन्द्रियाँ रूपीन्द्रिय कैसे हैं ?

कारिका कहती है कि "दिव्यचक्षु और दिव्यश्रोत्र रूप प्रसाद हैं······।"

३. रूप प्रसाद, कोश, १.६ सी, इन्द्रियाँ भौतिक हैं, १. अनुवाद, पृ० ६५ कथावत्थु··· ३.७-८ से तुलना कीजिए।

४. =[सभागाविकले नित्यं दूरसूक्ष्मादिगोचरे ॥]

५. उस दिव्य चक्षु का प्रतिपक्ष जो देवों में औपपत्तिक है।

देवों का दिव्य चक्षु ११ अपसालों से क्लिष्ट होता है, ३.१४ ए, देखिए ७.५५ डी।

[१२४] एक श्लोक है : 'मांस चक्षु दूर, अन्तरित सूक्ष्म रूप नहीं देखता; वह सब ओर नहीं देखता, (सर्वतश्च न पश्यति), दिव्य चक्षु इसके विपरीत है"[१] (६६०, २७)।

२. जब योगी दिव्य चक्षु से रूप देखता है तो चक्षुर्विज्ञान के विषय आसन्न या दूर होते हैं ?—आश्रय और चक्षु के अनुसार विषय आसन्न या दूर होते हैं। महाश्रावक, प्रत्येक बुद्ध और बुद्ध भगवत्, जब वे देखना चाहते हैं तो यदि वह प्रयत्न नहीं करते तो क्रम से एक साहस्र, द्विसाहस्र, त्रिसाहस्र[२] (३.७३) देख सकते हैं, यदि वह यत्न करते हैं तो

द्वित्रिसाहस्रिका संख्य दृशोऽर्हन् खड्गदैशिकाः।
अन्यदप्युपपत्याप्तं तद् दृश्यो नान्तराभवः ॥५५॥

५५ ए-बी. अर्हत्, खड्गकल्प और शास्ता द्विसाहस्र, त्रिसाहस्र, असंख्य लोकधातु देख सकते हैं।[३]

यदि महाश्रावक दिव्यचक्षु से देखने की इच्छा करे तो प्रभूत यत्न करने पर एक द्विसाहस्र मध्यम लोकधातु देखता है।[४] प्रत्येक बुद्ध एक त्रिसाहस्र महासाहस्र लोकधातु देखता है। बुद्ध भगवान् असंख्य लोकधातु देखते हैं : वह अपनी इच्छा के अनुसार देखते हैं।—क्यों ?—जिस प्रकार उनका ध्यान धर्मों को गोचर बनाता है उसी प्रकार उनका दिव्य चक्षु रूपों को आलम्बन बनाता है।

क्या कोई ऋद्धि औपपत्तिक हो सकती है ?

क्या अन्य अलौकिक शक्तियाँ औपपत्तिक हो सकती हैं।

५५ सी. अन्य भी औपपत्तिक हैं।[५]

---

१. शुआन चाङ् के अनुसार : "दिव्य चक्षु अचूक देखता है।" वह सर्वतः देखता है, आगे, पीछे, (पृष्ठतः) पार्श्व में; दिन में, रात्रि में, आलोक में, अन्तरित में (देखिए १ पृ० ५२)।

२. शुआन चाङ् के संस्करण में ५५ ए-बी कारिका ४३ वीं कारिका के बाद आती है। और भाष्य में परिवर्तन हुआ है : "छोटी, बड़ी, ५ अभिज्ञाओं की स्वगोचर लोकधातु में प्रवृत्ति के विषय में सब आर्य एक समान नहीं हैं। श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और बुद्ध, जब वे अधिमात्र मनसिकार नहीं करते तो गमन और निर्माण से अपनी वशिता का समुदाचार उत्पन्न करते हैं—श्रावक महासाहस्र में, प्रत्येक द्विसाहस्र में और बुद्ध त्रिसाहस्र में। जब वे अधिमात्र मनसिकार करते हैं तो क्रम से द्विसाहस्र, त्रिसाहस्र, असंख्य लोकधातु में।

३. द्वित्रिसाहस्रिकासंख्यदृग् अर्हत्खड्गदैशिकः।—नाम संगीति की टीका में उद्धृत ६.१८, असंगदृक्)।

४. साहस्रचूडिक लोकधातु······पर ३.७३ देखिए।

५. =[औपपत्तिकमप्यन्यत्]

कामावचर देव और रूपधातु के अनागामिन् उपपत्तिवश इन ४ शक्तियों से समन्वागत होते हैं। आरूप्यावचरों में इन शक्तियों का अभाव होता है : रूपाभावाद् दृष्टिर् (?)

[१२५] दिव्यश्रोत्र, दिव्यचक्षु, पूर्वनिवासानुस्मृति, परचित्त ज्ञान, यह चार शक्तियाँ भी औपपत्तिक हैं। किन्तु औपपत्तिक शक्तियाँ 'अभिज्ञा' की संज्ञा को नहीं प्राप्त करतीं।

५५ सी-डी. दिव्यचक्षु जब औपपत्तिक होता है तो अन्तराभव को नहीं देखता।[1]

यह अन्तराभव के सत्त्वों के वर्ण-संस्थान को नहीं देख सकता। इन्हें केवल अभिज्ञा के दिव्यचक्षु से देखा जाता है। अन्यत्र औपपत्तिक-दिव्यचक्षु अभिज्ञा-दिव्यचक्षु के समान हैं।

> चेतो ज्ञानं तु तत् त्रेधा तर्कं विद्या कृतं च यत्।
> जानते नारका आदौ नृणां नोत्पत्ति लाभिकं ॥५६॥

५६ ए. यह परचित्त ज्ञान तीन प्रकार का है।

यह ज्ञान, अर्थात् औपपत्तिक परचित्त ज्ञान तीन प्रकार का : कुशल, अकुशल, अव्याकृत।

५६ बी. वह भी जो तर्क और मन्त्र से उत्पन्न होता है।

परचित्त ज्ञान कुशल, अकुशल, अव्याकृत है : जब यह तर्क से उत्पन्न होता है, या मन्त्र से उत्पन्न होता है। ईक्षणिक शास्त्र[2] का अध्ययन कर एक सत्त्व निमित्तों का अर्थ बता सकता है : उसका परचित्त ज्ञान तर्क से उत्पन्न होता है। इसी प्रकार मन्त्र द्वारा परचित्त ज्ञान होता है। इसके विपरीत, भावना या ध्यान से जब यह ज्ञान उत्पादित होता है (भावना फल) तो यह ज्ञान केवल कुशल होता है।[3]

[१२६] परचित्त ज्ञान और पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञान नारकीय सत्त्वों में औपपत्तिक होते हैं।

इन दो ज्ञानों से

५६ सी. नारकीय सत्त्व पहले से जानते हैं।

जन्म से और जब तक वह दुःख वेदना से अभ्याहत नहीं होते, वह परचित्त का ज्ञान और अपने पूर्वजन्मों की स्मृति रखते हैं (देखिए ४.८० डी)। अन्य गतियों के सत्त्व

[=ऋद्धिर्] गमनं निर्माणं च नास्ति नापि दिव्यं श्रोत्रं चक्षुर्वास्ति। परचित्तज्ञानमपि नास्ति स्वपरसन्तानपरिच्छेदाभावात्। (यह विवरण रोचक है)। पूर्वनिवासानुस्मृतिरपि नास्ति। कामरूपावचरसत्त्ववत् तादृशस्यात्मभावस्यासमुदागमनात्। अथवा सर्वा अप्यभिज्ञा न सन्ति (६६१, ३)।

१. ३.१४ ए में इसे समझाया है; ऊपर पृ० १२३, टि० ३।

२. ईक्षणिक शास्त्र (मनु ९.२५८ आदि)—ऊपर पृ० ११२, टि० १।

३. अत्थसालिनी, ९१।

[जहाँ परचित्त ज्ञान और पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञान औपपत्तिक हैं, नित्य जानते हैं क्योंकि वे दुःख वेदना से अभ्याहत नहीं होते।

५६ डी. मनुष्यों में, उपपत्तिलाभिक नहीं है।[१]

मनुष्यों में ऋद्ध्यादि पांच शक्तियाँ औपपत्तिक नहीं हैं।

यदि ऐसा है तो किस प्रकार कुछ मनुष्यों में बोधिसत्त्वों में पूर्व निवासों की स्मृति का ज्ञान प्राकृतिक रूप से होता है?—

जिस पूर्व जन्म स्मृति से वे प्रकृतिवश समन्वागत होते हैं (प्रकृति जाति स्मरत) वह उनमें उपपत्तिलाभिक नहीं है अर्थात् मनुष्य जन्म[२] के कारण उपलब्ध नहीं हुई है। वह कर्म-विशेष से निर्वृत्त होती है (कर्म विशेषज) (६६१, १३)।—

ऐसा क्यों है? पूर्वनिवासानुस्मृति ज्ञान तीन प्रकार का है: भावना फल (पूर्वोक्त अभिज्ञा), उपपत्ति-प्रतिलब्ध (देव), कर्मज (बोधिसत्त्व)।

समाप्तं ज्ञाननिर्देशो नाम सप्तमं कोशस्थानम्।

———

१. =नृणां नोत्पत्तिलाभिकम् (६६१, ११)।

पुरुषों के लिए ऋद्ध्यादिक ५ शक्तियाँ या वैराग्यलाभिक (=अभिज्ञाफल) हैं या तर्कविद्यौषधकर्मकृत हैं, उपपत्तिलाभिक नहीं हैं (६६१, १२)।

२. उपपत्तिलाभिकं हि नाम यद् उपपत्तिकाल एव सर्वेषां निसर्गतो लभ्यते। न तु यत् कस्य चिद् एवोपपत्तिकालादूर्ध्वम्। यथा पक्षिणाम् आकाशगमनम् (६६१, १६)।

अष्टम कोशस्थान

समाधि[1]

[१२७] दस ज्ञानों के संयोग में हमने प्रणिधिज्ञान, अभिज्ञान आदि ज्ञानमय गुणों का निर्देश किया है। अब समाधि आदि अन्य स्वाभाविक गुणों का निर्देश करना है।[1] हम पहले उनके आश्रयों का उल्लेख करेंगे अर्थात् उन चैत्तों का जिनके कारण वे उत्पन्न होते हैं। ये आश्रय समापत्तियाँ हैं।[2] उनमें से पहले हम ध्यानों का निर्देश करेंगे।

१ ध्यान चार प्रकार के हैं; इन चारों में प्रत्येक द्विविध है उपपत्ति ध्यानों का लक्षण दिया गया है। समापत्ति ध्यान शुभ चित्तों का ऐकाग्र्य है सानुगों के साथ, पाँच स्कन्ध।[3]

हम पहले ध्यानों का निर्देश करते हैं क्योंकि आरूप्यों अर्थात् रूपरहित समापत्तियों से अन्य, वे, क्या साधारण, क्या विशेष, क्या अनास्रव, क्या सास्रव सब धर्मों के आश्रय हैं।

[१२८] ध्यान चार प्रकार के हैं, प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ।

इन चार ध्यानों में प्रत्येक द्विविध हैं क्योंकि समापत्ति ध्यान हेतु है (कारणध्यान) या उपपत्ति ध्यान निमित्तक है (कार्यध्यान)।[4] इस कोश के लोकनिर्देश नामक तृतीय कोशस्थान में उपपत्ति ध्यान का लक्षण दिया गया है — निर्दिष्ट है कि प्रथम तीन (उपपत्ति-ध्यान) त्रिभूमिक, तथा चतुर्थ अष्टभूमिक है[5] (३.२)।

---

१. व्याख्या—अन्यस्वभावानां तु [गुणानां] समाध्यादीनं कर्त्तव्यो [निर्देशः]। —अच्छा पाठ—"अप्रमाणादि" (८.२९-३७) है।

२. शुआन-चाङ् में तिंग है।—८.२३ के अनुसार जहाँ समापत्ति-समाधि पर कुछ टिप्पणियाँ सुलभ हैं, मैं असमाधि और समापत्ति का पाठ पढ़ता हूँ।

३. =द्विधा ध्यानानि चत्वारि [तत्रोक्ता उपपत्तयः। समापत्तिः शुभैकाग्र्यं सानुगा स्कन्धपंचकम् ॥]

कारिका का पाठ निःसन्देह समापत्तिः शुभैकाग्र्यम् है; किन्तु सूत्र समाधि का उल्लेख करता है।—अष्टम कोशस्थान के परम्परागत भावार्थ तथा समापत्ति-समाधि पर नीचे ८.२३, टिप्पणी देखिए।

४. परमार्थ का अनुवाद—"जन्मोत्पन्न ध्यान, समाध्युत्पन्न ध्यान"।

५. कोश, ३.२ सी, ६.३८ ए-बी, ४३ ए-बी, २.४१ डी। प्रथम ध्यान लोक में तीन या दो भूमियाँ हैं, इत्यादि।—'ध्यानोपपत्ति' पर, ८.१२, १४ ए, १६ सी, १९ सी।

अभेदेन समापत्ति ध्यान का लक्षण शुभ चित्तों का ऐकाग्रय है (शुभानां चित्तानाम् ऐकाग्रयम्),[1] क्योंकि ध्यानों का स्वभाव समाधि है (२. पृ० १५५)। यदि समाधि सानुग अभिप्रेत किया जाय तो समापत्ति में पाँच स्कन्ध संगृहीत है।[2]

'एकाग्रता' या समाधि (ऐकाग्रय) से क्या समझा जाय ?

[१२९] चित्तों की एकालम्बनता (एकालम्बनता चित्तानाम्)।[3]

सौत्रान्तिक का आक्षेप : यदि ऐसा है तो समाधि शब्द से, जो अभिप्रेत है, वह एकालम्बित चित्त ही है (चित्तान्येवैकालम्बनानि)। एक द्रव्यान्तर अर्थात् समाधि नामक चित्तधर्म-विशेष स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं है।[4]

वैभाषिक उत्तर देता है—जिस धर्म-विशेष से चित्त एकालम्बित तथा एक ही आलम्बन पर एकाग्र होते हैं, वह समाधि कहलाता है। एकाग्र चित्त ही समाधि नहीं है।[5]

---

१. पालि-कुसलचित्तेकग्गता (विसुद्धिमग्ग, ८४; विषय-सूची देखिए); मज्झिम, १.३०१, संयुक्त, ५.२१, धम्मसंगणि, ११ (चित्तस्सेग्गता) (अनुवादिका योगावचर के मैनुअल को उद्धृत करती हैं, पृ० २६); श्रीमती रीज़ डैविड्स, साइकालोजी, १९१४, १०४ (मूल ग्रन्थों के उद्धरण)।—समाधि=अधिचित्त, ६. पृ० २२५; मार्गाङ्ग, बोध्यंग, ६.५४ डी, ७०; ऋद्धिपाद, ६.६९ सी-डी, शैक्षाशैक्षांग, ६.७५।

बोधिसत्त्वभूमि, आगे ८२ बी, ८.२७ सी-२८ को उद्धृत करती है।

समाधि पर एक अति आचारीय वचन मज्झिम १.३०१ में—समाधिस्कन्ध में मार्ग के तीन अंग सम्यग्व्यायाम, सम्यक्स्मृति, सम्यक्समाधि संगृहीत हैं; इसके फलस्वरूप निम्नलिखित भेद माने जाते हैं—१. समाधि (=चित्तस्स एकाग्रता); २. समाधि के निमित्त जो स्मृत्युपस्थान हैं; ३. समाधि के परिष्कार जो सम्यक्प्रधान हैं; ४. समाधि की भावना जो समाधि, प्रधान तथा स्मृत्युपस्थानों की भावना है ['भावना' परिशुद्धि परिपूरि के अर्थ में माना जाता है।]

२. जो कोई ध्यान में प्रवेश करता है अर्थात् जो ध्यान नामक समापत्ति से समन्वागत है, वह चैत्त चित्त के अतिरिक्त (चार स्कन्ध) "ध्यानसंवर" (४.२) अर्थात् रूप से समन्वागत है।

३. एकालम्बनता चित्तानाम्; यही अभिधर्म की परिभाषा है; किन्तु चित्तचैत्तानाम् समझना चाहिए—"चित्तों या चैत्तों की एकाग्रता······"

४. कोश, २.२४ डी में परिभाषित; अनुवाद पृ० १५५।

५. न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तन्ते समाहितानि स धर्मः समाधिः। इसी प्रकार वैशेषिक का मत है कि शुक्लगुणयोगात्=शुक्ल गुण के योग से जैसे कोई वस्त्र शुक्ल होता है।

यहाँ निम्न कठिनाइयाँ सामने आती हैं—(१) चूँकि चित्त क्षणिक है इसलिए उनमें से प्रत्येक एक ही ग्राह्य पर आलम्बित हैं। तो समाधि का क्या मतलब ? (२) आप कहेंगे कि समाधि ही के कारण द्वितीय चित्त प्रथम चित्त के आलम्बन से अमनस्क या अविक्षिप्त (अविक्षेप) नहीं हो पाता है। किन्तु यदि ऐसा है तो समाधि उस प्रथम चित्त के प्रति किसी भी प्रकार कार्यशील नहीं है फिर भी आप उसे समाधि-संप्रयुक्त मानते हैं।[1] (३) द्रव्यान्तर समाधि की कल्पना क्यों की जाय ? यह क्यों न मानें कि जिन कारणों को आप समाधि में सन्निहित करते हैं उन्हीं कारणों से चित्त एक ही आलम्बन पर एकाग्र होते हैं।[2] (४) अन्य में आपने समाधि को एक सामान्य धर्म (महाभूमिक, २.२४) के लक्षण से अभिप्रेत किया है; इसलिए सब चित्तों को एकाग्रता के स्वभाव से समन्वागत होना पड़ता है।

[१३०] वैभाषिक अन्तिम आक्षेप का उत्तर देता है—नहीं, समाधि की दुर्बलता के कारण।[3] सौत्रान्तिक कहता है कि एकाग्र चित्त ही समाधि है—उससे अन्यत्र समाधि का अस्तित्व नहीं है क्योंकि सूत्र में उक्त है कि चारों ध्यान अधिचित्त शिक्षा है; आगे कहा है कि चारों ध्यान चित्त परिशुद्धि प्रधान हैं, अर्थात् चित्त परिशुद्धीकरण के प्रधान अंग हैं।[4]

ध्यान शब्द का क्या अर्थ है ?[5] ध्यान के कारण योगी समाहित तथा उपनिध्यान

---

१. संप्रयुक्ते समाधिवैयर्थ्यम्, अर्थात्—यत् प्रथमं चित्तं समाधिसंप्रयुक्तं तस्मिन् संप्रयुक्ते समाधिवैयर्थ्यम्। तत्र कारित्रं समाधिर् न करोति द्वितीये करोतीति कृत्वा।

२. मेरे विचार से भाष्य में यही है—यत एव समाधिस्तत एव चित्तानाम् एकालम्बनत्वं किं नेष्यते।

व्याख्या किं च यत एव कारणात् समाधिर् एकाग्रतालक्षणोऽभिप्रेतस्तत एव कारणाच्चित्तानाम् एकालम्बनत्वं किं नेष्यते ? किं समाधिनार्थान्तरभूतेनेत्यभिप्रायः।

३. सब चित्त समाधिसंप्रयुक्त है किन्तु दुर्बल समाधि से संप्रयुक्त चित्त एकाग्र नहीं होता है।

४. व्याख्या के अनुसार, एक ही सूत्र में दोनों परिभाषाएँ—अधिचित्तं शिक्षा कतमा। चत्वारि ध्यानानि। तीन शिक्षाओं पर अंगुत्तर, १.२३५; २.१९४ कोश, ६.४३ सी, पृ० २२५।

जैसे अधिशील शिक्षा अधिशील है, जैसे अधिप्रज्ञ शिक्षा प्रज्ञा है वैसे ही अधिचित्त शिक्षा चित्त-मात्र है। फिर ध्यान अधिचित्त शिक्षा है इसलिए वे चित्त हैं;—दूसरी ओर ध्यान समाधि है, इसलिए समाधि चित्त है। जैसे शीलपरिशुद्धि शील है, दृष्टिपरिशुद्धि दृष्टि है, विमुक्तिपरिशुद्धि विमुक्ति है (कोश, ६.७६ सी, पृ० २९७ देखिए)।

५. सर्वास्तिवादी उत्तर देता है।

करने में समर्थ होता है ।[१] उपनिध्यै का अर्थ 'प्रज्ञा से जानना है', जैसे सूत्र में कहा है—'जो समाहित है, वह प्रज्ञा से जानता है ।'[२] ध्यै धातु का प्रयोग उपनिध्यान के अर्थ में हुआ है ।

इसलिए सर्वास्तिवादियों के निकाय में उपनिध्यान स्वभावतः प्रज्ञा ही है;

[१३१] [जबकि अन्य निकायों में उपनिध्यान स्वभावतः चिन्ता है ।][३]

यदि ध्यान स्वभावतः समापत्ति होते हैं तो क्या यही माना जाय कि शुभ, अशुभ, शुभाशुभ सब समापत्तियाँ ध्यान ही हैं ?—नहीं । केवल प्रकर्षयुक्त समापत्ति का नाम ध्यान पड़ता है । इसी प्रकार लोक में खद्योत नहीं किन्तु सूर्य भास्कर कहलाता है ।

क्योंकि ध्यान प्रकर्षमय है; वह एक अंगसमायुक्त (८.१०) समापत्ति है जो युग-नद्धवाही (अर्थात् जिसमें शमथ तथा विपश्यना संतुलित हैं)[४] शमथ तथा विपश्यना से प्रकर्षित है, जो सूत्र में "सुखविहार" (दृष्टधर्मसुखविहार, ८.२७) के नाम से

---

१. महाव्युत्पत्ति, २४५, १०५२, १०५५ उपनिध्यातव्य निध्यायति—कोश, १.४१ सी, या व्याख्या का उद्धरण-संतोरणम्···विषयोपनिध्यानपूर्वकं निश्चयाकर्षणम् ।

२. समाहितचित्तो यथाभूतं प्रजानाति [यथाभूतं पश्यति]—यही वचन पाँच विमुक्त्-यायतनों के सूत्र में सामने आता है (व्याख्या १.२७ के स्थान पर उद्धृत, महाव्युत्पत्ति, ८१, दीघ, ३.२४१, अंगुत्तर, ३.२१); संयुत्त, ३.१३—समाहितो भिक्खवे भिक्खु यथाभूतं प्रजानाति, २-३१—समाधूपनिसं यथाभूतं ञाणदस्सनम् इत्यादि । यथा अन्यत्र नेत्तिप्पकरण, ६६, अंगुत्तर, ५३, विसुद्धिमग्ग, ३७१ इत्यादि ।

इन सब वचनों के अनुसार विमुक्ति के लिए, आवश्यक प्रज्ञा के लिए समाधि अनिवार्य है । इस सिद्धान्त पर संक्षेप में कम्पेण्डियम ५५, ७५; कोश, ६. भूमिका पृ० ६, ८.२२ डी ।

३. शुआन-चाङ् तथा किओकुगा सेकी की टिप्पणियों के अनुसार ।—परमार्थ के अनुसार—"अन्य आचार्य कहते हैं कि तिग (=समाधि) डि चा-ना है । ध्यान का क्या अर्थ है ? [तिग] के द्वारा ज्ञान, दर्शन प्रलब्ध होता है, इसलिए वह ध्यान कहलाता है । यह क्यों ? क्योंकि जो चित्त (तिग) [समाहित चित्त] का लाभ करता है, वह सचमुच जानता तथा देखता है । इसलिए ध्यान शब्द का अर्थ (से), (चिन्ता, चेतना)+(लिअंग) (नापना) है । (से) प्रज्ञा है । सिद्धान्त इस प्रकार का है ।"

४. शमथविपश्यनाभ्यां युगनद्धाभ्यामिवाश्वाभ्यां रथो वहतीति युगनद्धवाही । तद्भावात्······।

युगनद्ध अश्व युगल से खींचे हुए रथ के समान शमथ विपश्यना से युगनद्ध ध्यान आगे बढ़ता है ।—आरूप्यों में शमथ महान् है, विपश्यना अल्प है; अनागम्य (८.२२) में इसकी विपरीत स्थिति होती है; ध्यानों में सन्तुलन होता है ।

[१३२] तथा सुखप्रतिपद (६.६६) के नाम से विख्यात है, जिस मार्ग से ज्ञान सुखवत् निकलता है।[1] इसलिए प्रकर्षयुक्त समापत्ति ही ध्यान कहलाती है।

किन्तु बताया जायेगा, यदि ध्यान अंगमय समापत्ति है तो क्लिष्ट अर्थात् आस्वादन-संप्रयुक्त (८.५) समापत्ति का नाम ध्यान कैसे पड़ सकता है ?

क्योंकि वह एक मिथ्या उपनिध्यान है।[2]

किन्तु यह कहा जायेगा—इसमें स्पष्टतः मिथ्या निष्कर्ष संगृहीत हैं। (वास्तव में कामरागपर्यवस्थित चित्त से मिथ्या ही उपनिध्यान किया जाता है—और यह अवस्था अवश्यमेव ध्यान ही नहीं हो सकती है।)

नहीं।[3] हम उस क्लिष्ट चित्त के लिए ध्यान नाम सुरक्षित करते हैं जो सत्य ज्ञान के प्रतिरूप हैं; इसी प्रकार लोक में पूतिबीज अर्थात् सड़ा हुआ बीज नाम कंकड़ी को नहीं देते बल्कि एक ऐसी वस्तु को दिया जाता है जो अनुपजाऊ होने पर भी बीज के प्रतिरूप है। इसी प्रकार एक पाराजिक भिक्षु का नाम लिया जाता है (४.३९ सी-डी) और [शास्त्र में] अकुशल ध्यानों का नाम लिया है।[4]

शमथ=समाधि=समापत्ति, विपश्यना=प्रज्ञा।

पालि टेक्स्ट सोसाइटी के सम्पादक (कुछ हस्तलेखों की उपेक्षा करके) युगनन्ध पाठ पढ़ते हैं (पटिसंभिदा०, २.९२ और आगे; विसुद्धिमग्ग, १४९)—"कोई-न-कोई शमथ के अनन्तर विपस्सन का अभ्यास करता है; कोई-न-कोई विपस्सन के अनन्तर शमथ का अभ्यास करता है (समथविपस्सनं युगनन्धं भावेति)।"

समाधि तथा प्रज्ञा नामक युगनन्ध धर्म एक-दूसरे का अतिक्रमण नहीं करते······ (समाधिपञ्ञासंखाता युगनन्धधम्मा अञ्ञमञ्ञम् अनतिवत्तमाना···)—बोधिचर्यावतार, ८.४, शिक्षासमुच्चय, ११९, सूत्रालंकार, १४.९—कर्न्सेण्डियन, ५५, ७५।

तंत्रवाद में युगनद्धक या युगनद्धक्रम, संसार तथा निर्वाण, ग्राहक तथा ग्राह्य इत्यादि का अभेद है (पंचक्रम, पृ० ४६-४८)।

१. सुतरां तेन ध्यायन्ति सुखत्वात्।

२. मिथ्योपनिध्यानादिति मिथ्यासंतीरणादित्यर्थः।

३. न। तत्प्रतिरूप एव···क्लिष्टे ध्यानमिति संज्ञासंनिवेशः। पूतिबीजवत्।

४. उक्तानि चाकुशलानि ध्यानानि—व्याख्या सूत्र उद्धृत करती है—स कामराग-पर्यवस्थितः कामरागपर्यवस्थानमन्तरा कृत्वा ध्यायति प्रध्यायतीति विस्तरः।

क्लिष्ट ध्यान पर उस भिक्षु की कहानी जो प्रथम ध्यान में अपने को स्रोतआपन्न तथा चतुर्थ ध्यान में अर्हत् मानता है परन्तु जो वास्तव में कामपर्यवस्थित रहता है, प्रोशिलुस्की, अशोक, ३९०।

तीन मिथ्या ध्यायियों पर कोश, ५.२१ बी-डी, अनुवाद पृ० ४३ और टिप्पणी; मज्झिम, ३.१४।

किन लक्षणों के कारण चारों ध्यान विशिष्ट माने जाते हैं ?

२ ए-बी. प्रथम (ध्यान) विचार-प्रीति-सुखवत् हैं। इनमें पूर्वाङ्गों से अनुगामी (ध्यान) क्रमशः वर्जित हैं।[1]

[१३३] प्रथम ध्यान विचार-प्रीति सुखवत् ऐकाग्र्य है। [अर्थात् प्रीतिसुखवत् विचार से युक्त और प्रीति तथा सुख से युक्त]। इसमें यही उक्ति अव्यक्त है—"वितर्कवत्" क्योंकि जिस प्रकार धुआँ आग का अनुग होता है, उसी प्रकार वितर्क अवश्य ही अनुग होता है—कभी ऐसा नहीं होता कि विचार-प्रीति तथा सुख से युक्त हो पर वितर्क से युक्त न हो।[2]

द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ ध्यान—इन तीन पूर्वाङ्गों में प्रत्येक के क्रमिक वर्जण से विशिष्ट है; विचारवर्जित प्रीतिसुखवत् द्वितीय ध्यान; प्रीति वर्जित करके सुखवत् तृतीय ध्यान, सुख को वर्जितकर चतुर्थ ध्यान जो तीन पूर्वाङ्गों से रहित है।

इसी प्रकार ऐकाग्र्य चार वर्गों में, चार ध्यानों में विभाजित है। अब तक हमने ध्यानों का उल्लेख किया है; आरूप्य क्या है ?

२ सी. उसी प्रकार आरूप्य, चार स्कन्ध।[3]

ए. आरूप्य अर्थात् आरूप्य धातुलोक की समापत्तियाँ तथा उपपत्तियाँ—

[१३४]—संख्या तथा स्वभाव की दृष्टि से ध्यानों के प्रतिरूप हैं।

१.=विचारप्रीतिसुखवत् पूर्वपूर्वाङ्गवर्जितम् ॥ वितर्क, विचार, प्रीति, सुख का अर्थ नीचे प्रज्ञप्त हुआ है।

निद्देस, पृ० ३७३ में ध्यानों के वर्गीकरण का एक कुशल प्रयत्न।

२. एक कठिनाई उत्पन्न हो गयी। प्रथम ध्यान को विचारप्रीतिसुखवत् कहते हुए लेखक अव्यक्त रूप से कैसे कहते हैं कि यही ध्यान वितर्कवत् भी है ? क्योंकि ध्यानान्तर विचार तथा वितर्क वर्जित है।—व्याख्या का उद्धरण-यथा ध्यानान्तरे विचारो न प्रीति-सुखवान् इत्यवितर्को नैवम् अयं विचारः। विशेषितो हि अयं विचारः प्रीतिसुखसह-पठितः। विचारप्रीति सुखवद् इति प्रीतिसुखवता विचारेण प्रीतिसुखेन च सम्प्रयुक्तं प्रथमं ध्यानम् इत्यर्थः।

वसुबन्धु वितर्कप्रीतिसुखवत् उक्त नहीं करते हैं क्योंकि आगे वह कहते हैं कि अन्य ध्यान क्रमशः उद्धृत अंगों को तिरोहित कर देते हैं। यदि द्वितीय ध्यान का लक्षण वितर्क-वर्जित होता तो ध्यानान्तर द्वितीय ध्यान के साथ ही एक हो जाता।

३. =[तथारूप्याश्चतुःस्कन्धाः]।

आरूप्यों पर, मज्झिम, १.२, १६४, ४१०, २.२६१ (यहाँ प्रथम दो [ध्यानों] का नाम नहीं लिया जाता है), विसुद्धिमग्ग, ११।, ३२६-३४०; दीघ का भाष्य, डायलाग्स, ३. पृ० २७३—आकासाञ्चायतन एक ध्यान है जिसका आयतन (आलम्बन) आकाश की अनन्तता है। श्रीमती रोज़ डैविड्स की टिप्पणियों के उद्धरण, वही, पृ० २१६।

चार आरूप्य हैं तथा प्रत्येक आरूप्य द्विविध हैं—उपपत्ति और समापत्ति। उपपत्तियों का (एषाम् आरूप्याणां उपपत्तयः) लक्षण तृतीय कोशस्थान में प्रज्ञप्त है (३.३)। आरूप्य समापत्तियाँ स्वभाव तथा अभेद से समापत्ति ही हैं, अर्थात् 'शुभ चित्तों का ऐकाग्र्य"।

इस द्विविध आरूप्य के कारण कारिका कहती है कि आरूप्य ध्यान का प्रतिरूप है।

बी. ध्यान पाँच स्कन्धों से समन्वागत है; आरूप्य चार स्कन्धों से समन्वागत है, क्योंकि उसमें हर प्रकार के रूप का (ध्यानसंवर, अनास्रवसंवर, ४.४) का अभाव है (अनुपरिवर्तकरूपाभावात्, २.५१ ए-सी)।

२ डी. वह अधोभूमि के विवेक से उत्पन्न होता है।[1]

सब आरूप्य ऐकाग्र्य हैं; फिर भी चार ही आरूप्य हैं, क्योंकि जो ऐकाग्र्य प्रत्येक आरूप्य को सम्पन्न कर देता है, वह अधोभूमि के विवेक से उत्पन्न होता है।

जो आकाशानन्त्यायतन कहलाता है, वह चतुर्थ ध्यान के विवेक से उत्पन्न समापत्ति है; और इसी प्रकार एक के अनन्तर दूसरा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन (भवाग्र) तक आकिञ्चन्यायतन के विवेक से उत्पन्न होता है।

विवेक को क्या माना जाय?—वह आनन्तर्य तथा विमुक्तिमार्ग जिससे योगी अधोभूमि से विमुक्त हो जाता है, क्योंकि यही मार्ग [अधोभूमि] से विमुख ले जाता है [वैराग्यगमनात् तद्वैमुख्यगमनात्)।

[१३५] ३ ए-बी. उनको विभूतरूपसंज्ञ तथा तीन सामन्तक कहा गया है।[2]

मौल आरूप्यों का तथा तीन उत्तम मौल आरूप्यों के सामन्तकों का लक्षण है—जिसने रूप संज्ञा पराजित कर ली है।

प्रथम सामन्तक अर्थात् आकाशानन्त्यायतन की योगभूमि का यह नाम नहीं पड़ता है क्योंकि उसका ग्राह्य चतुर्थ ध्यान ही है; उससे रूप संज्ञा का अतिक्रमण पर्याप्त नहीं है।

---

१. =[अधोभूमिविवेकजाः]

परमार्थ का अनुवाद—"विवेक-भूमि-अधर जन्म लेता है"। शुआन-चाङ्—"विवेक अधोभूमि जन्म लेना, जिससे चतुर्विभाजन।-फ़ुकुआङ् की व्याख्या—"वह चतुर्विध है, क्योंकि वह अधोभूमि के विवेक से उत्पन्न होता है।"—फा-पाओ—"अधोभूमि जन्म से विविक्त होने के कारण, वह चतुर्विध है"—'जन्म से विवेक' का अर्थ है—'क्लिष्ट धर्मों से विवेक' या "विविक्त होना या जन्म लेना"। [ऊर्ध्व] में जन्म होता है, क्योंकि [अधः से] विवेक होता है।

२. =विभूतरूपसंज्ञाख्याः [सामन्तकैस्त्रिभिः सह ?]।

३. ···कोश, ३.३, व्याख्यान करता है कि स्थान, भूमिवर्जित आरूप्यधातु, उसमें उत्पन्न देवों के भाव की दृष्टि से चतुर्विध है—आरूप्यधातुस्थान उपपत्त्यां चतुर्विधः।—

आरूप्यों का यही नाम पड़ता है क्योंकि उनमें रूप नहीं है।
३ सी. आरूप्य में रूप नहीं है।

[१३६] अन्य निकायों का कहना है कि यही [सिद्धान्त] साध्य है (साध्यं तावदेतत्); क्योंकि हम मानते हैं कि आरूप्य में ईषत् रूप होता है।

किन्तु उस अवस्था में 'आरूप्य' आरूप्य कैसे कहलाते हैं ?— वह आरूप्य इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वहाँ रूप किञ्चित् मात्र होता है (ईषद् रूपा आरूप्याः), जिस प्रकार ईषत् पिंगल को आपिंगल कहते हैं (१·१७, पृ० ३२)।

किन्तु आपके विचार में आरूप्य में किस प्रकार का रूप होता है ?

१. यदि आप कहते हैं कि यह रूप न काय है, न वाक् किन्तु कायवाक् संवरमात्र रूप है (=धर्मायतन में संगृहीत रूप, ४. अनुवाद पृ० १६) तो यह दो संवरकाय और

अभिसमयालंकारालोक (अष्टसाहस्रिका, १५३, १८ के स्थान पर) इस परिभाषा का उद्धरण करके, एक पंक्ति (किस शास्त्र से उद्धृत ?) जोड़ देता है—ध्यानादूर्ध्वं ससंस्थानो रूपेषधावोऽथ वा (हस्तलेख वैसा ही)—या ध्यानलोक के (=रूपधातु) ऊर्ध्वसंस्थित, वह रूपवत् ही है, क्योंकि उसमें ईषत् रूप है। बौद्धलोकनिर्देश में आरूप्य के कुछ अन्योलोपरी स्वर्गलोकों का वर्णन है, जिनमें दुर्ग (Kong) स्थित है; उदाहरण के लिए हेस्टिंग्स लेख लोकनिर्देश देखिए।

कथावत्थु, ८-८, १६.६।—अन्धकों का मत है कि आरूप्य में सूक्ष्म रूप का अस्तित्व है (विज्ञान प्रत्ययं नामरूपम् वचन के कारण, नीचे पृ० १३८ देखिए)।—वसुमित्र तथा भव्य देखिये।

महासाङ्घिक, महीशासक जिनमें भाषा विभज्यवादियों को जोड़ देती है, रूप का अस्तित्व स्वीकार करती है।

जापानी सम्पादक की टिप्पणियाँ।—समयभेद का व्याख्यान : रूप तथा आरूप्य में छह प्रकार के विज्ञानकाय (षड्विज्ञानकायाः) विद्यमान है।—किन्तु यदि आरूप्य में रूप विद्यमान है तो वह आरूप्यधातु क्यों कहलाता है क्योंकि उसमें अनौदारिक सूक्ष्म रूप का अस्तित्व है।

विभाषा, ८३, १६—कुछ विभज्यवादियों के समान कहते हैं कि आरूप्य में रूप होता है···। महासंघिकों का विचार है कि आरूप्य में कर्म का रूप-विपाक है।

शारिपुत्राभिधर्म का कहना है कि आरूप्य में एक रूप होता है जो धर्मायतन में संगृहीत है (कोश, ४. अनुवाद पृ० १६)। महायान में कहते हैं कि आरूप्य में समाधि का रूप विपाक होता है। महाधर्मभेदीसूत्र, १.१३, महानिर्वाण, ८, १६—दो यानों के आर्य नहीं जान सकते कि नैवसंज्ञानासंज्ञायतन देव कैसे होते हैं···।—केवल बुद्ध जानते हैं कि असंज्ञी देवों में आयु होती है या नहीं; नैवसंज्ञानासंज्ञायतन देवों के सम्बन्ध में भी यही बात है।

वाक् के अभाव में कैसे होंगे ? और संवर जो एक भौतिक रूप है भूत रूप के अभाव में, महाभूतों के अभाव में कैसे होगा ?—यदि आप कहें कि कायसंवर और वाक्संवर आरूप्यावचर भूत रूप के अभाव में उसी प्रकार होते हैं जिस प्रकार अनास्रव संवर अनास्रव महाभूतों के बिना होता है, तो यह कल्पना युक्त नहीं है क्योंकि अनास्रव संवर का आश्रय उस भूमि के सास्रव महाभूत होते हैं जहाँ आर्य की उपपत्ति होती है (४.६)। आरूप्यों की उपपत्ति में रूप का प्रतिषेध सिद्ध होने से आरूप्यों[1] की समापत्ति में भी रूप का प्रतिषेध सिद्ध हो जाता है, [जहाँ संवर रूप का अभाव है]।

२. यदि आप यह मानते हैं कि आरूप्य धातु के सत्त्व रूपीन्द्रियों से समन्वागत होते हैं तो आप यह कैसे कह सकते हैं कि आरूप्य

[१३७] का रूप सूक्ष्म है ? आपका उत्तर है कि उनका परिणाम स्वल्प होता है (परिणामाल्पत्वात्); इसलिए वहाँ के सत्त्व ईषत् रूप के होते हैं। वहाँ के सत्त्व इसलिए आरूप्य हैं —किन्तु यदि आपकी यह युक्ति है तो अणुमात्र अदृश्य रूप जलजन्तुओं में भी [जिनका विनय में उल्लेख है] 'आरूप्य' होने का प्रसंग होगा।

क्या आप कहेंगे कि आरूप्य का रूप अच्छ (२ १३०) है ?—किन्तु अन्तराभाव और रूपधातु के सत्त्व भी अच्छ रूप से समन्वागत होते हैं।[2]

क्या आप कहेंगे कि आरूप्य का रूप अधिक अच्छ होता है और इसलिए केवल अरूप संज्ञा का अधिकारी है ? किन्तु उस अवस्था में आपको आरूप्य की सर्वोच्च अवस्था के लिए ही इस नाम को सुरक्षित रखना होगा, क्योंकि जैसे-जैसे समापत्ति विशिष्टतर, विशिष्टतम होती जायगी वैसे-वैसे उस-उस समापत्ति का उपपत्ति-विशेष भी अच्छतर-अच्छतम होता जायगा (समापत्तिवद् उपपत्तिविशेषात्)।[3]

इसके अतिरिक्त उपपत्ति रूप (या ध्यानरूप) का ग्रहण अधरभूमिक चक्षु से नहीं हो सकता क्योंकि वह अत्यन्त अच्छ होता है, वह उस रूप से किस बात में विशिष्ट है जो आपके अनुसार आरूप्य में पाया जाता है ?

---

१. भाष्य—समापत्तावपि तत्प्रतिषेध उक्तः—व्याख्या—"दूसरों के अनुसार अर्थ इस प्रकार है— सर्वशो रूपसंज्ञानां समतिक्रमात्-इस वचन से यह व्यवस्थित होता है कि आरूप्य समापत्ति भी रूप का प्रतिषेध है।" जापानी सम्पादक—"क्योंकि इस समापत्ति में [अनास्रव संवर] का होना स्वीकृत नहीं है।"

२. अन्तराभवरूपावचरा हि वज्रमयेषु अपि पर्वतेष्वच्छत्वाद् असज्जमाना गच्छन्ति। तेषां आरूप्यप्रसंगात्—देखिये ३.१४ ए—"अच्छ" शब्द का "पारदर्शी" अर्थ यथार्थ नहीं है। [यहाँ वह रूप अभिप्रेत है जो अन्य रूपों में से होकर जा सकता है, यह रूप आकाश तुल्य है।]

३. क्योंकि "समापत्ति की तरह तदुपपत्ति भी विशिष्टतर-विशिष्टतम है।"

यदि अंततः आपका यह मत है कि पहले दो धातुओं का नाम अपने-अपने आलम्बन के अनुसार है अर्थात् उनकी अन्वर्थ संज्ञा है।[1] किन्तु आरूप्य धातु की अन्वर्थ संज्ञा नहीं है तो इसमें युक्ति क्या है? यह केवल यादृच्छिकी है।

३. एक मत है कि आरूप्य में रूप का अस्तित्व है; इसकी सिद्धि के लिए चार युक्तियाँ दी जाती हैं—१. यह कि सूत्र वचन है कि आयु और ऊष्म संस्पृष्ट है;[2] २. यह कि सूत्र वचन है कि

[१३८] नामन् (चार अरूपीस्कन्ध) और रूप में न कलाप द्वय के समान अन्योन्यनिष्ठित हैं,[3] ३. यह कि सूत्र वचन है कि नामरूप विज्ञान प्रत्ययवश होता है;[4] ४. यह कि सूत्र वचन है कि रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार से अन्यत्र विज्ञान की आगति या गति नहीं होती।[5]

इन वचनों से यह सिद्ध नहीं होता कि आरूप्य में रूप है क्योंकि संप्रधारण के लिए स्थान है। (संप्रधार्यत्वात्)—१. सूत्र का कहना है कि आयु ऊष्म से संप्रयुक्त है और ऊष्म

---

१. व्याख्या—कामगुणप्रभावितः कामधातुः। रूपप्रभावितो रूपधातुः। देखिए २.१४, ३.३।

२. यच्चायुष्मान् कोष्ठिल आयुर यच्चोष्मकं संसृष्टाविमौ धर्मौ न विसंसृष्टौ।—संसृष्ट पर, ७. पृ० १७, और ३.३२ ए-बी देखिए। महाकोट्ठिन इस विषय पर सारिपुत्र से सम्वाद करते हैं, मज्झिम, १.२९६ (देखिये कोश, २.४५, पृ० २१५)।

३. नडकलापीद्वयवन् नामरूपयोर् अन्योन्यनिश्रितवचनात्—किन्तु दोनों चीनी संस्करणों का पाठ यहाँ और नीचे इस प्रकार है—नामरूप-विज्ञानयोर्—पालि में भी ऐसा ही पाठ है। किन्तु व्याख्या सूत्र उद्धृत करती है—तद्यथायुष्मान् शारिपुत्र द्वे नडकलाप्यावाकाश उच्छ्रिते स्याताम्। तेऽन्योन्यनिश्रिते। अन्योन्यं निश्रित्य तिष्ठेयाताम्। तत्र कश्चिद् एकाम् अपनयेद् द्वितीया निपतेत्। द्वितीयाम् अपनयेद् एका निपतेत्। एवम् आयुष्मान् शारिपुत्र नाम च रूपं चान्योन्यनिश्रितम् अन्योन्यं निश्रित्य तिष्ठति······।—यही उपमा संयुत्त, २.११४ में है; किन्तु नामरूप और विज्ञान में तुलना है, रूप और नामन् में नहीं।

४. विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम् इति वचनात्।—विभाषा, ८३, १६ (ऊपर देखिये पृ० १३५ टि० २) के अनुसार विभज्यवादियों की युक्ति। व्याख्या—प्रतीत्यसमुत्पादसूत्र उक्तम् आरूप्यप्रसिद्धि (?) क्षणे विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम् इति वचनात्।

५. रूपोपगं भिक्षवो विज्ञानं तिष्ठति रूपालम्बनं रूपप्रतिष्ठम्। यः कश्चिद् भिक्षवः एवं वदेत। अहम् अन्यत्र रूपाद् वेदनायाः संज्ञायाः संस्कारेभ्यो विज्ञानस्य आगतिं वा [गतिं वा] च्युतिं वोपपत्तिं वा वदामीति तस्य तद् वाग्वस्त्वेव स्यात्—इससे बहुत मिलता-जुलता पाठ, संयुत्त, ३.५३ (वारेन का अनुवाद, पृ० १६२)।

रूप है; किन्तु यहाँ सब प्रकार की आयु अभिप्रेत है या केवल कामावचर आयु ?[१] सूत्र का कहना है कि नामन् और रूप अन्योन्य निश्रित हैं, किन्तु यहाँ सब धातु के नाम-रूप अभिप्रेत हैं या केवल काम और रूप धातु के ? ३. सूत्र में कहा है कि विज्ञानप्रत्ययं नामरूपम्[२]—

[१३९] किन्तु क्या इस वचन की यह शिक्षा है कि—सब विज्ञान चाहे उसका प्रत्यय काम या रूपधातु के संस्कार हों, या आरूप्यधातु के [अर्थात् यह विज्ञान जिसका प्रत्यय कामभव में विपाक देनेवाला अर्थ है]—नामरूप का प्रत्यय है ? अथवा सूत्र का यह अभिप्राय है कि सब नामरूप का प्रत्यय विज्ञान होता है।[३] ४. सूत्र विज्ञानस्थितियों (विज्ञानस्थिति, ३.७) अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा और संस्कार के बिना विज्ञान की आगति या गति का प्रतिषेध करता है : किन्तु क्या सूत्र का यह अर्थ है कि "इन सब स्थितियों के बिना विज्ञान की आगति या गति नहीं होती" ?

यह कहा जायगा कि सूत्र का वचन सामान्य है, विशेष नहीं है (अविशेषवचनात्), इसलिए उसका संप्रधारण नहीं करना है (न सम्प्रधार्यम् एतत्), इसलिए हमको यह सोचने का अधिकार नहीं है कि कामधातु आदि में संधान कर यह वचन कहा गया है।

यह उत्तर समीचीन नहीं है; क्योंकि सूत्र का अक्षरार्थ लेने से, अतिप्रसङ्ग का दोष उपस्थित होता है : बाह्य उष्म भी बिना आयु के नहीं हो सकेगा;[४] २ बाह्य रूप नामन् के आश्रित होगा; ३. बाह्य रूप का प्रत्यय विज्ञान होगा; ४. रूप और आरूप्यधातु

१. व्याख्या—श्लोक-आयुरूष्माऽथ विज्ञानम्......"जब आयुः ऊष्म और विज्ञान काय का परित्याग करते हैं, तब वह काष्ठ के समान अपविद्ध और अचेतन शयन करता है।" २.४५ ए सिद्ध करता है कि सूत्र केवल कामावचर आयु को लक्ष्य करता है क्योंकि—१. आरूप्य धातु में काय नहीं होता; २. रूपधातु में यद्यपि काय होता है तथापि मरणान्तर काय नहीं रहता"—रूपधातौ तु यद्यपि कायोऽस्ति तत्र कायनिधनम् [३.९ के अनुसार]।

२. यहाँ यह कहना आवश्यक है कि उपपादुकों के लिए यह वाक्य है—विज्ञान-प्रत्ययं षडायतनम्, क्योंकि जिसे हम नामरूप कहते हैं, वह पाँच स्कन्ध हैं जिनकी षडायतन की अवस्था अभी निष्पन्न नहीं हुई है (अनिष्पन्नषडायतनावस्था); किन्तु उपपादुकों में आरम्भ से ही षडायतन होता है, कोश, ३.१४, पृ० १३२।

३. सूत्र इसी अर्थ को द्योतित करता है। इस सूत्र का पाली संस्करण दीघ २.६३, में पाया जाता है : विज्ञानं चेद् आनन्द मातुः कुक्षिं नावक्रामेद अपि नु तत् नामरूपं कललत्वाय संमूर्छेत। नो भदन्त। विज्ञानं चेद् आनन्दावक्रम्य क्षिप्रम् एवापक्रामेद अपि नु तत् नामरूपम् इत्यत्वाय प्रज्ञायेत। नो भदन्त। विज्ञानं चेद् आनन्द दहरस्य कुमारस्य कुमारिकाया वा उच्छिद्येत विनश्येत् न भवेद् अपि नु तत् नामरूपं वृद्धिं विपुलताम् आपद्येत। नो भदन्त।

४. बाह्यस्यापि ह्यूष्मण आयुषा विनाभावो न प्राप्नोति।

में कवर्गाकार आहार का प्रसंग होगा, क्योंकि सूत्र का दूसरा अविशेषवचन कि चार आहार हैं (३.४०), जैसे अविशेषवचन है कि चार "विज्ञान स्थितियाँ" हैं : जिससे आप यह परिणाम निकालते हैं कि आरूप्यधातु में "रूप स्थिति" है ।

आप कहेंगे, नहीं, क्योंकि आहारों के चतुष्क सम्बन्ध सूत्रों का वचन अविशेष इस उत्सर्ग का भी अपवाद है[1] : सूत्र ऐसे शब्द का भी उल्लेख करता है "जो कवर्गाकार आहार का भक्षण करने वाले

[१४०] देवों का अतिक्रमण करते हैं";[2] सूत्र ऐसे शब्द का भी उल्लेख करता है ' जिनका आहार प्रीति है" ।[3]

बहुत ठीक, किन्तु क्या सूत्र का यह भी स्व-वचन नहीं है कि, आरूप्य में रूप का अभाव है ? सूत्र वचन है कि : १. "रूपों का अतिक्रमण आरूप्यों में है"[4]; २. "रूपों का अतिक्रमण कर आरूप्य है, जो शान्त वियोग की अवस्था है······"[5]; ३. "रूप संज्ञा का सर्वथा अतिक्रमण कर अरूपी सत्त्व है"[6]; यदि आरूप्य समापत्ति या उपपत्ति में रूप होता तो वहाँ के सत्वों में अपने रूप की संज्ञा अवश्य होती । फिर सूत्र यह नहीं कहता कि योगी रूप संज्ञा का अतिक्रमण कर इन उपपत्ति और समापत्तियों का लाभ करता है ।[7]

विपक्षी का उत्तर होगा कि सूत्र इन विविध वचनों में अविशेषतः रूप उल्लेख नहीं करना चाहता, किन्तु उसको अभिप्रेत एक अधोभूमिक औदारिक रूप है ।

हमारा इस आरोप का यह उत्तर है कि, १. इस विकल्प में कवडीकार आहार सम्बन्धी वचन को भी तुल्य अर्थ में लेना होगा, इसका फल यह होगा कि रूप और आरूप्य धातु में सूक्ष्म कवडीकार आहार का प्रसङ्ग होगा; २. ध्यानों के विषय में भी आरूप्यत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होगा क्योंकि ध्यान एक अधोभूमि के अर्थात् कामावचर के औदारिक रूप का निःसरण है; ३. आरूप्यों को वेदनादि निःसरण कहना होगा :

---

१. अस्त्यस्योत्सर्गस्यापवादः ।

२. उदायिसूत्र (कोश, २.४४ डी, अनुवाद २०६) कहता है : भेदाच्च कायस्यातिक्रम्य देवान् कवडीकाराहारभक्षान् अन्यतमस्मिन् दिव्ये मनोमयकाय उपपद्यते ।

अंगुत्तर, ३.१६२, तुलना कीजिए दीघ, १.३४, १८६ ।

३. प्रीत्याहारवचनात्—३.६८ ।

४. रूपाणां निःसरणम् आरूप्याः ।

५. ये ते शान्तविमोक्षा अतिक्रम्य रूपाण्यारूप्याः······८.३२ ।

६. मध्यम, २४, १२ ।

७. रूपजातिं तु कृत्स्नाम् अतिक्रान्तः ।

क्योंकि आरूप्यों में अधोभूमिक वेदना का अतिक्रमण होता है; और आरूप्यों को अवेदना अर्थात् वेदनारहित आदि कहना होगा।—किन्तु कोई वचन ऐसा नहीं है। इसलिए सिद्धान्त यह है आरूप्य सकल रूप जाति का प्रतिरूपण करता है।

आपत्ति—आरूप्य रूपों का निःसरण कैसे हो सकता है?

[१४१] वास्तव में, भगवत् इसे नहीं मानते हैं कि भाव का निःसरण हो सकता है: "मैं भव से भव का निःसरण नहीं कहता"।[1] भगवत् का यह कहना युक्तियुक्त है, क्योंकि एक ओर उसी भव से किसी भव का निःसरण नहीं हो सकता; और, दूसरी ओर, किसी भी भव से न सर्व भव का निःसरण (असर्वनिःसरण) हो सकता है, और न किसी भव का अत्यन्त निःसरण (अत्यन्तनिःसरण) हो सकता है।

अन्त में भगवत् कहते हैं कि, ध्यान रूप है, वेदना है, संज्ञा है, संस्कार है, विज्ञान है; और, आरूप्य में वेदना······विज्ञान है। यदि आरूप्य में सत्य ही रूप होता है तो भगवत् क्यों न कहते कि वहाँ रूप है, जैसा ध्यानों के लिए वह कहते हैं?

इसलिए जैसा हम कह चुके हैं:

३ सी. आरूप्यों में रूप नहीं है।

पूर्वोक्त दो तर्कों से यह परिणाम निकलता है कि आरूप्य में धातुरूप नहीं है। जो आचार्य यह मानते हैं कि आरूप्यधातु में रूप है उनका वाद युक्तिविरुद्ध और मिथ्या है।

यदि ऐसा है तो जब एक सत्य आरूप्यधातु की उपपत्ति का लाभ करता है तो उसकी रूप सन्तति अनेक कल्पों के लिए (३.८१) व्युच्छिन्न हो जाती है। अन्ततोगत्वा जब यह सत्य एक अधोधातु में उत्पन्न हो जाता है तो उसका रूप कहाँ से आता है?[2]

---

१. नाहं भावेन भवस्य निःसरणं वदामि।—तुलना कीजिए उदान, ३.१०।—भव की व्याख्या १.८ सी में है।

कोशस्थान ५-६ की भूमिका पृ० ६ पर देखिए।—योगी प्रथम लौकिक ध्यान से, जो एक भव है, प्रथम ध्यान के ऊपर आरोहण नहीं कर सकता। और इसी प्रकार कोई भव नहीं है जो नैवसंज्ञानासंज्ञायतन का जो भवाग्र है, अर्थात् भव का शिखर है, निःसरण हो। इसके अतिरिक्त उपपत्ति की कोई ऊर्ध्वावस्था नहीं, अधोभूमि से अत्यन्त निःसरण नहीं हो सकता क्योंकि पुनरा की सदा सम्भावना है—इसलिए भव निःसरण केवल मार्ग द्वारा होता है, जो धातु पर्यापन्न नहीं है, जो भव नहीं है।

२. विभाषा, ८३, १६—विभज्यवादियों का आक्षेप: "यदि आरूप्य में रूप का अत्यन्त अभाव है, तो जो सत्यकामा और रूप में मृत्यु को प्राप्त होते हैं और तदनन्तर आरूप्य में उपपन्न वह पश्चात् जब आरूप्य में मृत्यु को प्राप्त होते हैं और अधोभूमि में फिर उत्पन्न होते हैं तो उनके रूप को व्युच्छिन्न हुए २००००, ४००००, ६००००, ८०००० कल्प हो चुके होते हैं: उनके रूप की पुनरुत्पत्ति किस प्रकार होती है? यदि, जैसा कि आप

[१४२] ३ डी. रूप चित्त से उत्पन्न होता है।

पूर्वकाल में—विशेष कर्म आदि के—रूप में हेतु उत्पन्न हुआ; इसका रूप विपाक होने के पूर्व इस हेतु की वासना चित्त में निवास करती है : अब इसका फल देने का सामर्थ्य विपाकावस्था को प्राप्त होता है;[1] इसलिए अब जो रूप उत्पन्न होता है, वह चित्त से उत्पन्न होता है।

मानते हैं, व्युच्छिन्न प्रहीण रूप का पुनरुत्पाद होता है, तो इसके कहने में क्या बाधा है कि निर्वाण की प्राप्ति से व्युच्छिन्न और प्रहीण संस्कार आगे चलकर फिर न उत्पन्न होंगे। इस दोष के परिहार के लिए यह स्वीकार करना आवश्यक है कि आरूप्य में रूप होता है।

१. परमार्थ : "चित्त में अवरूप उत्पन्न करने का सामर्थ्य है क्योंकि रूप विपच्यमान होने के पूर्व ही से यह एक पूर्व हेतु से वासित है।" ऐसा मालूम होता है कि वासना शब्द से (कोश, ४.२७ डी, पृ० ६४, ७.२८ सी, पृ० ७०, ३० सी, ३२ डी) सर्वास्तिवाद से अपरिचित है। जो कुछ हो, संघभद्र इस शब्द का प्रयोग नहीं करते।

संघभद्र, (२३.८, ८० बी ३) : "इस आरूप्य शब्द का क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि सर्वरूप का वहां अभाव है। जब एक सत्य की [आरूप्य में] मृत्यु होती है और वह अधोभूमि में फिर से पैदा होता है तो चित्त से रूप का उत्पाद होता है। हमारा कहना है कि, इस लोक में रूपी और अरूपी धर्मों का उत्पाद वास्तव में अन्योन्याश्रित होता है : चित्त की विसदृशता से विविध रूप की उत्पत्ति होती है; जब रूप इन्द्रियों में विकार होता है तो विज्ञान भी भिन्न होता है। इसलिए जब एक सत्त्व आरूप्य में मृत्यु को प्राप्त होकर अधोभूमि में उत्पन्न होता है, तो चित्तसन्तति रूपोत्पाद के अनुकूल होती है और उसके बल से अधर भव रूप का उत्पाद होता है। इसके अतिरिक्त यह कहना यथार्थ न होगा कि रूप केवल चित्त से उत्पन्न होता है। पूर्व-भव की रूपसहगति-चित्तसन्तति के कारण भी इसकी उत्पत्ति होती है : चिरकाल से निरुद्ध रूप अपना स्वयं बीज होता है। हमारा मत यह है कि सभागहेतु अतीत और प्रत्युत्पन्न (२.५२ ए, पृ० २५६) दोनों हैं। जो अर्हत् निर्वाण में प्रविष्ट हुए हैं, उन्होंने स्कन्ध सन्तति का सर्वथा उपच्छेद किया है; कोई हेतु अवशिष्ट नहीं रह जाता जो नवीन स्कन्धों का उत्पाद करे : उस सत्त्व का उदाहरण जो आरूप्य में मृत्यु को प्राप्त करता है [और एक नवीन रूप का प्रतिलाभ करता है] इस अर्हत् में नहीं घट सकता। (विभज्यवादियों का तर्क देखिये, पृ० १४१, टि० २)।

विभाषा (२३.६, ६९ बी ५) : विपक्षी ने जिन आगमों को उद्धृत किया है, वे यह व्यवस्थित नहीं करते कि रूप का अस्तित्व है। उनकी उक्ति भी निःसार है, क्योंकि यद्यपि आरूप्य में कोई रूप नहीं, आरूप्य का एक रूप जब मरणान्तर अधोभूमि में फिर से उत्पन्न होता है तो उसके रूप का उत्पाद चित्त से होता है। हमारा वचन है कि इस लोक में……।

[१४३] किन्तु रूप के आश्रय के बिना आरूप्यधातु में चित्त का अस्तित्व कैसे हो सकता है ?—वह रूप के बिना क्यों नहीं रह सकता ?—क्योंकि कायधातु में ऐसा कभी नहीं होता कि चित्त बिना काय के हो। – किन्तु इसी युक्ति के अनुसार आपको इसका प्रतिषेध करना चाहिए कि रूप धातु के सत्वों को कवडीकार आहार की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त हमने बताया है[1] कि कैसे आरूप्यधातु की चित्त सन्तति का निश्रय निकाय और जीवित होते हैं।

हमने आरूप्यों के सामान्य नामों का विचार किया है।

१. आकाशानन्त्यायतन आदि उनके भिन्न नाम इस कारण पड़ते हैं कि ये आकाशादि को आलम्बन बनाते हैं ?

नहीं।—प्रथम तीन,

४ए-सी. प्रयोग के अनुसार आकाशानन्त्य, विज्ञानानन्त्य, आकिंचन्य कहलाते हैं।[2]

तीन अधर आरूप्यों का नाम इस कारण ऐसा है, क्योंकि प्रयोगकाल में योगी आकाशादि की भावना करता है।[3]

४ सी-डी. चतुर्थ आरूप्य अपनी मन्दता के कारण नैवसंज्ञानासंज्ञायतन[4] कहलाता है।

---

१. ३ सी-डी : निकायं जीवितं चात्र निश्रिता चित्तसंततिः; देखिये २.४१,४५।

२. [विज्ञानानन्त्यम् आकाशानन्त्यम् आकिंचन्याह्वयम्]। तथा प्रयोगात्।

३. व्याख्या : प्रयोगकाल आकाशादीन्यालम्बनानि—युआन चाङ् : प्रयोग काल में योगी चिन्तन करता है, चित्त : "अनन्त आकाश" "अनन्त (षड्विध) विज्ञान" "किंचिन्मात्र नहीं है।"

आरूप्यों पर कैसे उनकी प्राप्ति होती है, मज्झिम, १.१६४, सुत्त १२१, विसुद्धि-मग्ग, ३२६ और आगे देखिये।

विभाषा ८४,३— "आकाशानन्त्य का नाम स्वभाववश या आलम्बनवश नहीं है, किन्तु यह प्रयोगवश है। आदि कार्य के कुड्य, वृक्ष, गृह के ऊर्ध्व जो आकाश है, उसके लक्षण का चिन्तन करता है। जब यह लक्षण सुगृहीत होता है तो अधिमुक्ति द्वारा वह अनन्त आकाश के लक्षण का ध्यान करता है। आरूप्य समापत्तियों में योगी अनित्य प्रत्यय आदि का चिन्तन करता है। वसुमित्र बताते हैं कि किस प्रकार आकिंचन्य (प्रयोगावस्था) में ग्राहक और ग्राह्य की संज्ञा तिरोहित हो जाती है; ऊपर देखिये १२४, टि० ५।

४. मान्द्यात् तु नसंज्ञानाप्यसंज्ञकम्॥

यहाँ यह विचारणीय है कि चतुर्थ आरूप्य में "नैवसंज्ञानासंज्ञायतन में कोई संज्ञा भी है।"—अंगुत्तर, ४.४२६; कथावत्थु, १३.१२; वसुमित्र और भव्य।

संज्ञा और वेदना निरोधसमापत्ति केवल उसी योगी द्वारा प्राप्त हो सकती है जिसने इस आरूप्य समापत्ति में (२.४४ डी, पृ० २१० और ३.६ सी) प्रवेश किया है। इससे हम

[१४४] चतुर्थ आरूप्य का यह नाम इस कारण पड़ता है क्योंकि वहाँ संज्ञा की मन्दता है।—वहाँ संज्ञा स्पष्ट या पटु नहीं है, किन्तु ऐसा भी नहीं है कि वह सर्वथा संज्ञा से रहित हो।

निःसन्देह,[१] इस आरूप्य के लिए यह प्रयोग करना पड़ता है। योगी चिन्तन करता है—"संज्ञा[२] रोग है! संज्ञा गुण है! संज्ञा शल्य है! संज्ञा का अभाव (आसंज्ञिक; तुलनीय २.४१ डी) सम्मोह[३] है! नैवसंज्ञानासंज्ञायतन शान्त है, प्रणीत है!" किन्तु इस प्रयोग के कारण चतुर्थ आरूप्य का यह नाम पड़ा है।— और योगी इस चतुर्थ आरूप्य को प्रयोग-काल की समापत्तियों में क्यों संज्ञानासंज्ञा के रूप में ग्रहण करता है?[४]—इस परिप्रश्न का उत्तर अवश्य देना चाहिए कि संज्ञा की मन्दता से (मृदुत्वात् संज्ञानाम्) यह कहलाता है। इस आरूप्य के नाम में यह हेतु है।

५. इसलिए मौलसमापत्ति द्रव्य है; पहले सात त्रिविध हैं : आस्वादनयुक्त शुद्ध (शुद्ध, शुद्धक), अनास्रव; आठवाँ द्रव्य द्विविध है।

६. आस्वादनयुक्त समापत्ति तृष्णा से संप्रयुक्त होती है; शुद्ध समापत्ति लौकिक शुभ होती है : यह प्रथम के आस्वादन

[१४५] का विषय है; अनास्रव समापत्ति लोकोत्तर[५] है।

यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वह संज्ञा का अस्तित्व है। (सूक्ष्म-सूक्ष्म चित्त पर, ८.३३ बी देखिये)।

१. यद्यपि तत्राप्येवं प्रयुज्यते……।

२. तुलना कीजिए, १.४३५, २.२३०; अंगुत्तर, ४,४२२, विसुद्धिमग्ग, ३३५।—अधर समापत्तियों की संज्ञा का प्रश्न है।—वास्तव में सामन्तक ध्यान द्वारा तृतीय आरूप्य से विरक्त होकर योगी चतुर्थ आरूप्य में प्रवेश करता है।

३. अर्थात् सम्मोहकारण।

४. कस्मात् तु तैस् तद् एवं गृह्यते, अर्थात् व्याख्या के अनुसार : तैर् इति तत्समापत्तिमिस्तद् इति नैवसंज्ञानासंज्ञायतनम् एवं गृह्यत इति नैव संज्ञा नासंज्ञेति गृह्यत इत्यर्थः।

५. [एवं मौलसमापत्तिद्रव्यम् अष्टविधं त्रिधा।
सप्त] आस्वादनवच्छुद्धानास्रवाण्य् [अष्टमं द्विधा॥]
[आस्वादनसंप्रयुक्तं सतृष्णं लौकिकं शुभम्।
शुद्धं तदास्वाद्यम् इदं लोकोत्तरम् अनास्रवम्॥]
यहाँ अनास्रव का अर्थ "Pur" नहीं करना चाहिए। अन्यत्र यह अनुवाद ठीक है क्योंकि इसके पर्याय अमल निर्मल मिलते हैं।

चार ध्यान और चार आरूप्य—यह आठ मौलसमापत्ति हैं, इन्हें आठ मौलसमापत्तिद्रव्य[1] कहते हैं।

इन आठ में से पहले सात त्रिविध हैं; संज्ञा की मन्दता के कारण (संज्ञामन्द्यात्) [और विपश्यना के कारण] आठवीं समापत्ति कभी आस्वादन नहीं होती।[2]

[१४६] प्रथम प्रकार, आस्वादनसमापत्ति है, यह समापत्ति तृष्णा से संप्रयुक्त होती है। तृष्णा को आस्वादन कहते हैं, क्योंकि आवद्ध होती है और आस्वाद लेता है। इसलिए तृष्णा संप्रयुक्त समापत्ति आस्वादन समापत्ति है।[3]

विभाषा, १६३,११—अनास्रव समापत्ति यथार्थ में शुद्ध है; इसको शुद्धक क्यों नहीं कहते?······ कुछ का कहना है कि : अर्थभेद के कारण नाम की व्यवस्था की गयी है। जो समापत्ति कुशल और सास्रव (सास्रव, लौकिक) दोनों है, वह क्लिष्ट धर्मों का प्रथम प्रतिपक्षी : उसे शुद्ध इसलिए कहते हैं क्योंकि शुद्धता के अर्थ की वहाँ प्रधानता है। आर्य मार्ग में अनास्रव अर्थ का प्राधान्य है।

शुद्धक, अर्थात् कुशल सास्रव, अनास्रव, अर्थात् मार्ग। किन्तु कुशल सास्रव समापत्ति समल, सकषाय, सविष, सकण्टक, सास्रव, सदोष है : फिर उसे शुद्धक कैसे कह सकते हैं? यद्यपि यह सर्वथा शुद्ध नहीं, तथापि इसे शुद्धक इसलिए कहते हैं क्योंकि यह अंशतः शुद्ध है, क्योंकि यह क्लेश से संसृष्ट नहीं है, क्योंकि यह क्लेशों का प्रतिपक्ष है; क्योंकि यह उस अनास्रव समापत्ति का आनयन करती है जो यथार्थ में शुद्ध है; क्योंकि यह मार्ग के अनुकूल है; क्योंकि अनास्रव का परिवार है।

१. शुआन चाङ् : मौलसमापत्ति ध्यान और आरूप्य की संख्या आठ है, इनका निर्देश ऊपर हो चुका है।

परमार्थ : वस्तु सत्धर्म (या द्रव्य की दृष्टि से मौलसमापत्ति केवल आठ द्रव्य हैं—चार रूप समापत्ति, चार आरूप्य समापत्ति)।

व्याख्या : समापत्तिद्रव्याणि मौलानीति शाखास्तेषां नोपन्यस्यन्त इति अभिप्रायः—सामन्तक (८.२२ ए) और ध्यानान्तर या असंज्ञिसमापत्ति और निरोधसमापत्ति शाखा हैं [अनुवाद की टिप्पणियाँ]

२. अर्थात् "इस आठवीं समापत्ति में प्रवेश कर योगी मार्ग की भावना नहीं कर सकता।"—विभाषा, १६२,११—न कामधातु में और न भवाग्र में मार्ग की भावना हो सकती है।—कोशस्थान ५-६ की भूमिका देखिये।

३. महाव्युत्पत्ति, ८५.७ : आस्वादनसंप्रयुक्तध्यान।

अंगुत्तर, २.१२६ : "एक सत्व······प्रथम ध्यान में प्रवेश करता है और वहाँ अवस्थिति करता है, वह उसका स्वाद लेता है, उससे प्रेम करता है, वहाँ इन्द्रियों का स्वाद पाता है (तं अस्सादेति तं निकामेति तेन च वित्तिम् आपज्जति)। यदि वह वहाँ से च्युत हुए बिना मृत्यु को प्राप्त होता है तो वह ब्रह्मकायिकों के लोक में उत्पन्न होता है।" अन्य

शुद्धक समापत्ति लौकिक शुभ समाधि है। समापत्ति शुभ होती है जब वह अलोभ आदि (४.९ ए) शुक्ल धर्मों के साथ उत्पन्न होती है।

शुद्धक समापत्ति आस्वादन समापत्ति का आस्वाद्य है। ज्योंही शुद्धक समापत्ति अन्तर्हित होती है, त्योंही आस्वादन समापत्ति, जो उसका आस्वादन करती है, उत्पन्न होती है। उस समय योगी समापत्ति से, जिसका वह आस्वादन करता है, व्युत्थित होता है; किन्तु यह आस्वादन समापत्तिवश जिससे वह आस्वाद लेता है, समापन्न होती है।

अनास्रव समापत्ति लोकोत्तर है। यह तृष्णा का हेतु या विषय नहीं हो सकती इसलिए यह आस्वादना संप्रयुक्त नहीं है।

समापत्तियों में आरूप्यों को वर्जित कर केवल ध्यान अंगों से समन्वागत है, [क्योंकि वहाँ शमथ और विपश्यना सम हैं, पृ० १५७ टि० ४]।

प्रत्येक ध्यान में कितने अंग[1] होते हैं?

[१४७] ७-८. प्रथम ध्यान में पांच अंग—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और समाधि; द्वितीय में चार—संप्रसाद और प्रीत्यादि; तृतीय में पाँच—उपेक्षा, स्मृति, संप्रज्ञान, सुख और समाधि; अन्तिम में चार—स्मृति, उपेक्षा, अदुःखसुख, समाधि।[2]

ध्यानों के विषय में भी यही है, अनुकूल लोक में पुनरुत्पत्ति होती है।

कथावत्थु, १३.७ में थेरवादियों के विरुद्ध अन्धक यह वचन प्रमाण-रूप उपस्थित करते हैं।

१. एफ० हाइलर, बुद्धिस्टिशे फेरसेनकुंग (F. Heiler, Buddhistische Versenkung) १९२२ में उद्धरणों की पूरी सूची है।—मुख्य पालि ग्रन्थ विभंग, २५७, विसुद्धि, १३९ हैं। योरोपीय ग्रन्थों में, बुरनुफ, लोटस्, ८००, सेनार्ट, महावस्तु, १.५५२ (हाइलर इसका उल्लेख करना भूल गये)। यह स्पष्ट है कि आभिधार्मिक-आभिधार्मिकों के प्रयत्न के होते हुए भी पिटक की व्याख्याएँ अस्पष्ट हैं।

२. [आद्ये पञ्च तर्क] चारप्रीतिसुखसमाधयः। ए
[प्रीत्यादयः प्रसादाश्च द्वितीयेऽगचतुष्टयम् ॥]
तृतीये पंच तूपेक्षा [स्मृतिर्ज्ञानं सुखं स्थितिः। बी
चत्वार्यन्त्ये स्मृत्युपेक्षासुखादुःखसमाधयः ॥]

ए. व्याख्या—विचारप्रीति

बी. प्रथम और चतुर्थ पंक्ति में समाधि, तिब्बती अनुवाद अवधान (Concentration) है, तृतीय इनस (Inas) है—परमार्थ सर्वत्र तेहाउ (Tehou) अनुवाद देते हैं और शुआन चाङ् तिग (Ting)।—स्थिति पाठ का उद्धार कर में समझता हूँ कि मैं अपने आप को धोखा नहीं दे रहा हूँ। सूत्रालंकार, १६.२५, अनुवाद पृ० १८८ इस पाठ का समर्थन करता है।

प्रथम ध्यान—जब वह शुद्धक या अनास्रव होता है—पाँच अंगों से समन्वागत होता है—वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और चित्तैकाग्रता (=समाधि)।[1]

[१४८] निकाय की शिक्षा है कि समाधि ध्यान भी है और ध्यान का अंग भी है, किन्तु अन्य अंग ध्यान के अंग हैं, ध्यान नहीं हैं; किन्तु, हमारे मत में, जैसे चतुरंगिणी सेना का अपने अंगों से अर्थान्तर नहीं है, उसी प्रकार पञ्चांग ध्यान का अपने अंगों से अर्थान्तर नहीं है।[2]

द्वितीय ध्यान चार अंगों से समन्वागत है : प्रीति आदि—अर्थात् प्रीति, सुख और चित्तैकाग्रता—और अध्यात्मसंप्रसाद।

प्रथम पंक्ति के भाष्य में शुआनचाङ् कहते हैं : "कारिका का स्थिति शब्द से समाधि का अर्थ है : यद्यपि शब्द भिन्न हैं, तथापि अर्थ एक ही है। इसलिए सूत्र (संयुक्त, २८.२०) कहता है : चित्त की स्थिति तिंग (Ting), चित्त की संस्थिति (Ting Ting) को ही सम्यक् समाधि कहते हैं; इसे शुभैकाग्र भी कहते हैं।"

तृतीय पंक्ति के भाष्य में परमार्थ कहते हैं : "स्थिति से शुभैकाग्र का अर्थ लेना चाहिए, क्योंकि तेहाउ (Tehou) समाधि का दूसरा नाम है।" सम्यग्व्यवस्था में वचन है : "समाधि क्या है ? यह सम्यग्विषय में चित्त की स्थिति है।"

प्रथम ध्यान : वितर्क, विचार, प्रीति (=सौमनस्य, मानसिक अनुकूल वेदना, "चैतसिक सुख", २.८ ए), सुख (=प्रश्रब्धि, संस्कारस्कन्ध के अन्तर्गत, २.२५, पृ० १२७), समाधि।

द्वितीय ध्यान : अध्यात्मसंप्रसाद (=श्रद्धेन्द्रिय), प्रीति (=सौमनस्य), सुख (=प्रश्रब्धि), समाधि।

तृतीय ध्यान : उपेक्षा (=संस्कारोपेक्षा, २.२५, पृ० १२६), स्मृति, संप्रजन्य, सुख (अनुकूल वेदना, २.७सी) समाधि।

चतुर्थ ध्यान : उपेक्षा (न अनुकूल, न प्रतिकूल वेदना), उपेक्षापरिशुद्धि (=संस्कारोपेक्षा), स्मृतिपरिशुद्धि, समाधि।

१. परमार्थ यहाँ इतना जोड़ते हैं : "यह पाँच जब समापन्न होते हैं तो प्रतिपक्ष प्रश्रब्धि को आकृष्ट कर सकते हैं।"

२. चतुरंगसेनावत् समन्तप्रासादिका, १.१४६ से तुलना कीजिए : जिस प्रकार सेना से सेना के अंग समझे जाते हैं और कुछ नहीं (यथा सेनांगेसु एव सेनासम्मुति), उसी प्रकार ध्यान से पाँच अंग समझे जाते हैं और कुछ नहीं......। विभंग में है : "ध्यान, अर्थात् वितर्क, विचार, प्रीतिसुख, चित्तस्येकाग्रता";......इसलिए चित्तैकाग्रता भी एक अंग है।"—इसी प्रकार निकाय की शिक्षा है कि धर्मप्रविचय बोधि और बोध्यंग दोनों हैं, सम्यग्दृष्टि मार्ग और मार्गांग दोनों हैं, और अनशन उपवास भी है और उपवास का एक अंग भी है (४.२६, पृ० ६८)।

तृतीय ध्यान के पाँच अंग है : १. उपेक्षा, यह वेदनोपेक्षा नहीं हैं, किन्तु संस्कारोपेक्षा है, यह प्रीति है और अनाभोगलक्षणा है[1], अर्थात् जो किसी भी विषय की ओर प्रवृत्त नहीं होती; २. स्मृति, अर्थात् इस उपेक्षा के निमित्त (उद्देश्य हेतु) की दृष्टि से अलग न होने देना (उपेक्षानिमित्तासंप्रमोष)[2]; ३. संप्रज्ञान, अर्थात् स्मृति-सम्बन्धी ज्ञान; ४. सुख; ५. समाधि।

चौथे ध्यान में चार अंग हैं :

[१४६] उपेक्षापरिशुद्धि,[3] स्मृतिपरिशुद्धि, अदुःखासुखा वेदना या उपेक्षा वेदना समाधि।

इस प्रकार नामक दृष्टि से कुल मिलाकर १८ अंग होते हैं; किन्तु जब हम विशेषताओं का विचार नहीं करते तो इन १८ अंगों के कितने द्रव्य होते हैं ?

९ ए. द्रव्य का विचार करेंगे तो, १८ अंग[4] हैं :

---

२. इस उपेक्षा का वाक्य व्याख्या, ३.३५ डी में दिया है : चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा नैव सुमना भवति [=नानुनीयते] न दुर्मना भवति [=न प्रतिहन्यते] उपेक्षको भवति [नाभुजति। कथम् नाभुजति कि प्रतिसंख्याय आहोस्विद् अप्रतिसंख्याय इति विशेषयन्नाह] स्मृतिमान् सम्प्रजानन् [=स्मृतिसम्प्रयुक्तया प्रज्ञया प्रतिसमोक्षमाणः]।—जैसा चक्षु विज्ञान और उसके विषय के सम्बन्ध में है, वैसे ही अन्य विज्ञानों के लिए है। यह षड्विधि उपेक्षा षड्विधिसातत, सततविहार है।—देखिये ७.३२, पृ० ७६, टि० १।

यह विभंग का चित्त "मज्झत्त" है;—विसुद्धिमग्ग, ६५९। समन्तप्रासादिका, १.१५०, उपेक्खको विहासिम् की टीका।

२. इसी कारण यह कहा गया है कि बुद्ध के अप्रतिसंख्याय उपेक्षा नहीं होती।—कुशल से अकुशल उपेक्षा का विनिर्गत करना कितना आवश्यक है, इस पर ३.३५ डी देखिये।

३. अधोभूमिकामक्षालविगमात्।

४. द्रव्यतो दश चैकं च।

विभाषा, ८०,४—नामवश ध्यान के अंगों की संख्या १८ है। द्रव्य कितने हैं ? केवल ग्यारह। प्रथम ध्यान में ५ नाम और ५ द्रव्य। द्वितीय ध्यान में अंग चार हैं, किन्तु तीन पहले कैसे हैं; चौथा अध्यात्मसंप्रसाद है। तृतीय ध्यान में पाँच अंग हैं : किन्तु पाँचवें का पहले उल्लेख हो चुका है; चार नये हैं। चतुर्थ ध्यान में चार अंग हैं; अन्तिम तीन का उल्लेख हो चुका है; प्रथम नया है······।

पहले दो ध्यानों में, प्रश्रब्धि सुख है, अर्थात् प्रश्रब्धिमय सुख; तृतीय में वेदनासुख वेदनामय सुख है। प्रथम दो ध्यानों का सुख संस्कार-स्कन्ध में संगृहीत है; तृतीय का सुख वेदनास्कन्ध में संगृहीत है······।

अर्थात् प्रथम ध्यान[1] के पाँच इसमें जोड़िये; फिर : १. द्वितीय ध्यान या अध्यात्म-संप्रसाद[2]; २-५. तृतीय ध्यान की उपेक्षा स्मृति, संप्रज्ञान और सुख; ६. चतुर्थ ध्यान की अदुःखासुखा वेदना। इस प्रकार ग्यारह विविध द्रव्य होते हैं।

इसलिए प्रथम ध्यान के ऐसे अंग हैं जो द्वितीय ध्यान के नहीं हैं। चार विकल्प हैं : १. प्रथम अंग जो द्वितीय के अंग नहीं हैं, अर्थात् वितर्क और विचार; २. द्वितीय का अंग जो प्रथम का अंग नहीं है, अर्थात् अध्यात्मसंप्रसाद; ३. वह अंग जो प्रथम दो ध्यानों को सामान्य है, अर्थात् प्रीति, सुख, चित्तैकाग्रता; ४. अंग।

[१५०] जो प्रथम दो ध्यानों में से किसी में नहीं पाये जाते, अर्थात् शेष अंग।

इसी प्रकार इतर ध्यानों के अंगों की परस्पर योजना करनी चाहिए।

आप यह क्यों कहते हैं कि तृतीय ध्यान का सुख द्रव्यान्तर है, एक क्या अंग है? क्या प्रथम दो ध्यानों में सुख नहीं है?

क्योंकि तृतीय ध्यान का सुख सुखावेदना है; किन्तु,

६ बी. प्रथम दो ध्यानों में सुख से प्रश्रब्धि अभिप्रेत है।[3]

प्रथम और द्वितीय ध्यान में, जिसे सुख कहते हैं, वह प्रश्रब्धि (=कर्मण्यता,

---

चित्तैकाग्र्य ध्यान है क्योंकि ध्यान का स्वभाव समाधि (=अर्थात् चित्तैकाग्र्य) है। समाधि और अन्य परिगणित धर्म ध्यान के अंग हैं।

कोश, ६ अनुवाद, पृ० १५४ देखिये।

१. पंच प्रथमध्यानिकानि।

२. द्वितीयेऽध्यात्मसंप्रसादो वर्धते।

३. प्रश्रब्धिः सुखम् आद्ययोः।

विभंग में प्रथम ध्यान का सुख चैतसिक सुख है, चेतोसंफस्सज सुख; यह सुख प्रीति सहगत होता है, इसलिए प्रीतिसुख कहलाता है। प्रीति पामोज्ज है······अत्तमनता चित्तस्स।

प्रश्रब्धि पर, २.१७ सी, २५, टि० १५७, ४.४८ (संस्कारस्कन्ध) विभाषा, पृ० १४६, टि० २ देखिये।

संघभद्र, २३.६, ७२ए १० : हमारे निकाय में यह नहीं कहा गया है कि प्रश्रब्धि सुखेन्द्रिय (=सुखावेदना) है, किन्तु यह कहा गया है कि प्रश्रब्धि सुख का हेतु है, और पहले दो ध्यानों का सुख नामक अंग है। शास्त्र में केवल सुखावेदना को ही सुख का अधिवचन नहीं दिया गया है; अन्य धर्म भी इस नाम से जाने जाते हैं। इस प्रकार यह कहा गया है कि सुख तीन हैं, प्रहाणसुख, विरागसुख (?), निरोधसुख; अन्यत्र कहा गया है कि सुख पंचविध हैं, प्रव्रज्यासुख, विवेकसुख, शमथसुख, बोधिसुख (६.५०बी, पृ० २५६), निर्वाणसुख। इसलिए सूत्रों में सुख शब्द सब प्रकार के धर्मों के लिए व्यवहृत होता है।

२. अनुवाद १५७) : वहाँ प्रश्रब्धि सुख है, वह सुख जो प्रश्रब्धिमय है । तृतीय में सुखा-वेदना[1] है ।

वास्तव में, पहले दो ध्यानों में, सुखेन्द्रिय की सम्भावना नहीं है (सुखेन्द्रिययोगात्=असम्भवात्) ।—क्यों ?—क्योंकि १. इन ध्यानों का सुख

[१५१] कायिक[2] सुख नहीं हो सकता, क्योंकि पञ्च इन्द्रियाँ विज्ञानों का उस सत्त्व में अभाव होता है जो ध्यान में समापन्न[3] होता है; २. इन ध्यानों का सुख चैतसिक सुख नहीं हो सकता क्योंकि इन ध्यानों में प्रीति होती है । किन्तु प्रीति सौमनस्य, और यह नहीं माना जा सकता कि प्रीति और सुख, सुखावेदना का सहभाव है; हम यह भी नहीं मान सकते कि एक के अनन्तर दूसरा होता है, क्योंकि प्रथम ध्यान के पाँच अंग हैं, और दूसरे के चार ।

दार्ष्टान्तिक पक्ष :

१. पहले तीन ध्यानों में चैतसिक सुखेन्द्रिय (चैतसिक=सौमनस्य) नहीं होती, किन्तु केवल कायिक सुखेन्द्रिय होती है, यही ध्यानों का सुख नामक अंग व्यवस्थापित है [और यही समाहित अवस्था के अन्तराल में समुदाचार करता है] ।[4]

---

१. ३.३२ सी पर व्याख्या—तृतीय ध्यान का सुख मनस् पर ही आश्रित है, अन्य इन्द्रियों पर नहीं (मन एवाश्रितम्) ।—कामधातु में कोई ऐसा सुख नहीं है जो मनोभूमिक सुख हो ।

२. अर्थात्, "सुखावेदना जिसका निश्रय परमाणुधारित पंचेन्द्रिय है, पंचविज्ञानों से (चक्षु……)", २.२५, पृ० १५७-८ । संयुक्तवेदना……।

३. प्रथम ध्यानभूमि में उत्पन्न सत्त्व चक्षुरादि विज्ञान से समन्वागत होते हैं; किन्तु प्रथम ध्यान समापत्ति में प्रविष्ट सत्य नहीं होते ।

४. व्याख्या : समाहितावस्थान्तरालसमुदाचारात् । दार्ष्टान्तिकानां किलैष पक्षः । तेषां हि न द्विभूमिकम् एव सुखेन्द्रियं काम प्रथमध्यानभूमिकं किं तर्हि चतुर्भूमिकम् (=सुखेन्द्रिय केवल दो भूमियों के अर्थात् कामधातु और प्रथम ध्यान में ही नहीं, किन्तु द्वितीय और तृतीय ध्यान में भी होती हैं) ।—अतएव च विभाषायां भदन्तेन सौत्रान्तिकेनोक्तम् आभिधार्मिकाणां परमटेनेव (?) चक्षुर्विज्ञानादिकम् अधस्ताद् ऊर्ध्वम् आकृष्यत इति तद् एवम् अस्येष्टं भवति चक्षुर्विज्ञानादिकं द्वितीयादिध्यानभूमिकम् अपि भवतीत्यपि ।—आभिधार्मिकों के अनुसार चक्षुर्विज्ञान केवल दो भूमियों में अर्थात् कामधातु और प्रथम ध्यान में (१.४६, ८.१३ए) होता है; किन्तु वे स्वीकार करते हैं कि ऊर्ध्व ध्यान के सत्त्व अधोभूमिक चक्षुर्विज्ञान से देखते हैं : चक्षुर्विज्ञान मानो एक यन्त्र से नीचे से ऊपर खींचा जाता है, विभाषा में भदन्त सौत्रान्तिक कहता है कि यह मानना अधिक सुगम है कि चक्षुर्विज्ञान द्वितीय ध्यानभूमिक है……।

आपेक्ष—इस विकल्प में आपको बताना होगा कि सूत्र का वचन यह है, "क्योंकि सुखेन्द्रिय (सामान्यतः सुखावेदना) क्या है? सुख स्पर्श से संजात सुख (सुखावेदना) कायिक और चैतसिक सुखेन्द्रिय कहलाता है।"

[१५२] दार्ष्टान्तिक कहता है कि यह पाठ अध्यारोपित[1] है; चैतसिक शब्द जोड़ दिया गया है। सब निकायों का पाठ केवल "कायिक सुख" है।

इसके अतिरिक्त तृतीय ध्यान के सुख नामक अंग के निर्देश में, सूत्र का ही यह शब्द है कि इस ध्यान में "योगी काय से सुखसंवेदन करता है" (सुखं ... कायेन सम्प्रवेदयते)[2]। क्या आप कहेंगे कि कायेन शब्द का अर्थ मन:कायेन=मनःसमुदायेन है, और इसलिए पूर्वोक्त वाक्य का अनुवाद इस प्रकार होना चाहिए: "योगी इस मनसमुदाय से सुख का संवेदन करता है"?[3]—इस शब्द को व्यक्त करने के लिए सूत्र कायेन शब्द का क्यों व्यवहार करता है?

२. वैभाषिक का मत है कि पहले दो ध्यानों का सुख अंग प्रश्रब्धि (=कर्मण्यता) है, अमान्य है; क्योंकि चतुर्थ ध्यान की प्रश्रब्धि पहले दो ध्यानों की प्रश्रब्धि की अपेक्षा निश्चय ही बहुतर है। सूत्र के अनुसार चतुर्थ ध्यान में सुख नाम का कोई अंग नहीं है।[4]

---

१. अध्यारोपित एव पथ इति।

२. स प्रीतेर् विरागाद् उपेक्षको विहरति स्मृतिमान् संप्रजानमानः सुखं च कायेन संप्रवेदयते यत् तद् आर्या आचक्षते उपेक्षकः स्मृतिमान् सुखविहारी [निष्प्रीतिकं] तृतीयं ध्यानम् उपसंपद्य विहरति।—कोई एक चैतसिक वेदनाकाय से (कायेन) कैसे संवेदन करेगा?

३. विभंग (पृ० २५९) का यहाँ सुख से अर्थ चैतसिक सुख से है (वैभाषिकों के समान), और यह काय का इस प्रकार अर्थ करता है काय=सञ्ज्ञा, संस्कार और विज्ञान यह तीन स्कन्ध।

कायेन साक्षात्करोति, ६ ४३सी, ५८बी, ८.९,३५ बी—एम वी इ ४५, पृ० २३।

४. चतुर्थे ध्याने प्रश्रब्धिभूयस्त्वेऽपि सुखावचनाच्च।—व्याख्या—चतुर्थे ध्याने प्रश्रब्धि-सुखं भूयो भवति बहुतरं भवति ध्यानान्तरेभ्यश्चतुर्थस्य प्रश्रब्धतरत्वात्। तद्भूयस्त्वेऽपि सुख-स्यावचनम्। चतुर्थे ध्याने सुखं नोच्यते। तस्य सुखस्यावचनाद् वेदना सुखम् एव तृतीये ध्याने न चतुर्थे सुखा वेदनास्तीति तत्र नोच्यत इत्यभिप्रायः।

चतुर्थ ध्यान में अधोभूमियों की अपेक्षा प्रश्रब्धि सुख बहुतर होता है और इस पर भी इस भूमि में सुख का अंग नहीं बताते। इससे यह परिणाम निकलता है कि अधरभूमियों में जो सुख अंग है, उससे सुखावेदना वेदनासुख [प्रश्रब्धि सुख नहीं] समझना चाहिए और चतुर्थ ध्यान में सुखावेदना नहीं होती।

[१५३] यदि वैभाषिक का यह उत्तर है कि "प्रथम दो ध्यानों की प्रश्रब्धि सुख कहलाती है, यह सुखवेदना के अनुकूल है, किन्तु चतुर्थ ध्यान की प्रश्रब्धि का यह स्वभाव नहीं है।"[1] तो इसके उत्तर में दार्ष्टान्तिक कहता है कि "प्रथम दो ध्यानों की तरह ध्यान की प्रश्रब्धि सुखावेदना के अनुकूल होती है; फिर वैभाषिक य ाँ प्रश्रब्धि सुख क्यों नहीं कहते, इसके विरुद्ध उन्होंने उसे वेदनासुख, चैतसिक वेदनासुख व्यवस्थापित किया है ?"

यदि वैभाषिक का यह उत्तर है कि "तृतीय ध्यान में कर्मण्यता, लक्षणाप्रश्रब्धि (२. अनुवाद १५७), अकर्मण्यता लक्षणा, उपेक्षा से उपहत होती है", तो दार्ष्टान्तिक इस प्रतिज्ञा की सत्यता का प्रतिषेध करता है : उपेक्षा से प्रश्रब्धि की वृद्धि होती है, क्योंकि तृतीय ध्यान की प्रश्रब्धि प्रथम द्वितीय ध्यान की प्रश्रब्धि से विशिष्ट है।

अन्ततः सूत्र का वचन है[2] कि : "जिस समय आर्य श्रावक, प्रविवेक से उत्पन्न प्रीति का काय से साक्षात्कार कर, समापन्न हो, विहार करता है, उस समय उसके पाँच धर्म प्रहीण होते हैं और पाँच धर्मों की भावना परिपूर्ण होती है। पाँच धर्म यह हैं—प्रीति, प्रश्रब्धि, सुख, प्रज्ञा और समाधि"। इस सूत्र में प्रश्रब्धि को सुख से पृथक् गिनाया है; प्रश्रब्धि सुख से अर्थान्तर होगी, क्योंकि अन्यथा पाँच धर्मों का पंचत्व कैसे हो।

[१५४] इसलिए प्रथम दो ध्यान का सुख प्रश्रब्धि[3] नहीं है।

३. वैभाषिक का आक्षेप—प्रथम दो ध्यानों का सुख कायिकवेदना, कायिकावेदना

---

१. सुखवेदनानुकूलत्वात् प्रश्रब्धिः सुखम् इति चेत्।

२. व्याख्या के अनुसार। भाष्य सूत्र के केवल पहले शब्द देता है (जैसा परमार्थ के संस्करण से स्पष्ट है)।

ए. शुआन चाङ् : इसके अतिरिक्त, क्योंकि सूत्र (संयुक्तक, १७,२४) कहता है : यस्मिन् समये आर्यश्रावकः प्रविवेकजां प्रीतिं कायेन साक्षात्कृत्वोपसंपद्य विहरति पंचास्य धर्मास्तस्मिन् समये प्रहीयन्ते पंचधर्मा भवनापरिपूरिं गच्छन्ति [इति विस्तरः यावद् भावनीया धर्माः कतमे। तद्यथा प्रामोद्यं (?) प्रीतिः प्रश्रब्धिः सुखं समाधिश्च]।

संयुत्त, ४.७८, अंगुत्तर, ५.१, आदि की सूची से तुलना कीजिये (प्रमोद्यादयः)।

बी. परमार्थ : "इसके अतिरिक्त, क्योंकि सूत्र प्रश्रब्धि और सुख में अन्तर करता है। जैसा कि सूत्र का वचन है : यस्मिन् समये आर्यश्रावकः प्रश्रब्धिजां प्रीतिं कायेन साक्षात्कृत्वा उपसंपद्य विहरति। सूत्र में प्रश्रब्धि का उल्लेख सुख से पृथक् है। इसलिए हम जानते हैं कि वे भिन्न हैं।" [प्रश्रब्धिजां पाठ कदाचित् मूल से है।]

३. व्याख्या : "इसलिए, पहले ही तीन ध्यानों में सुख अंग कायिक ही सुख सिद्ध होता है।"

हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि समापन्न योगी में कायविज्ञान उत्पन्न हो। यह सम्भव नहीं है।

दार्ष्टान्तिक का उत्तर—समाहित अवस्था में कायसमाधि विशेष से उत्पन्न (समाधिविशेषज) वायु से स्फुरित होता है [यह वायु स्पष्टव्य है], यह सुखवेदनीय (=सुखवेदनानुकूल) है [और इसे प्रश्रब्धि कहते हैं]। इसलिए कायविज्ञान उत्पन्न होता है [और इस विज्ञान से संप्रयुक्त सुखावेदना होती है]।

वैभाषिक की आलोचना—जब यह विज्ञान उत्पन्न होता है, तब बाह्य विषय की ओर चित्त विक्षेप होता है (बहिर्विक्षेप, बाह्य विषयविक्षेप): इसलिए योगी समाधि (समाधिभ्रंश) होगा।

दार्ष्टान्तिक का उत्तर—नहीं, क्योंकि कायिक सुखावेदना जो समाधि से उत्पन्न होती है [जैसा हम देखेंगे], आध्यात्मिक होने से समाधि के अनुकूल होती है।[1]

वैभाषिक की आलोचना—किन्तु क्या योगी कायविज्ञान काल में समाधि से व्युत्थित होगा?

दार्ष्टान्तिक का उत्तर—नहीं, और इसलिए यह विज्ञान समाधि के अनुकूल है। इस विज्ञान के सम्मुखीभाव के अनन्तर ही समाधि फिर उपस्थित होती है।[2]

[१५६] वैभाषिक—कामावचर (कायेन्द्रिय), रूपावचर इस कायविज्ञान की जो आपके अनुसार प्रश्रब्धि (एक प्रकार की वायु) है, किस प्रकार उत्पन्न कर सकती है? (१.४७ सी)?

दार्ष्टान्तिक—यह अलोचना युक्तियुक्त नहीं है: क्योंकि प्रश्रब्धि के कारण कायविज्ञान की उत्पत्ति होती है।[3]

---

१. भाष्य: न। समाधिजस्य अन्तःकायसंभूतस्य कायसुखस्य समाध्यनुकूलत्वात्।

व्याख्या: समाधिजस्य अबहिर्भूतस्य कायविज्ञानसंप्रयुक्तस्य वेदितसुखस्य समाध्यनुकूलत्वात्।

२. पुनर् उपतिष्ठते समाधि:—व्याख्या—कामावचर काय रूप विज्ञान रूपावचर के स्पष्टव्य का ग्रहण नहीं कर सकता: इसलिए वह कायविज्ञान जो प्रश्रब्धि का ग्रहण करता है, रूपावचर का है, और इस विज्ञान से संप्रयुक्त सुखावेदना "ध्यानांग" हो सकती है।

३. व्याख्या में भाष्य उद्धृत है: प्रश्रब्धिज्ञानस्योत्पत्ते: (?)

शुआन चाङ् के अनुसार: नैव दोष:। प्रश्रब्धि प्रत्ययस्य विज्ञानस्य उत्पत्ते:; परमार्थ के अनुसार: नैषोऽर्थ: स्वयं प्रश्रब्धिविज्ञानस्य उत्पत्ते:।

व्याख्या का अर्थ अत्यन्त संतोषप्रद है: "समाहित की कायेन्द्रिय [यद्यपि वह कामावचर के]......ऐसी अवस्था को प्राप्त होती है [ताम् अवस्था गतं यद्......यह एक ऊर्ध्वभूमिक कायविज्ञान का आश्रय हो सकती है।"

वैभाषिक—प्रश्रब्धि को स्पष्टव्य मानने में कठिनाई है।[1] मान लीजिए कि योगी लोकोत्तर या अनास्रव ध्यान में है : स्पष्टव्य (प्रश्रब्धि) और कायविज्ञान जिसका यहाँ उल्लेख है, अनास्रव होंगे, क्योंकि ऐसा नहीं हो सकता कि अनास्रव ध्यान के कुछ अंग अनास्रव हों, कुछ सास्रव। [किन्तु सूत्र का वचन है कि "सर्वचक्षु……सर्व स्पष्टव्य सास्रव है]।

दार्ष्टान्तिक—कोई विरोध नहीं है। वास्तव में कायिक प्रश्रब्धि

[१५६] (कायस्य कर्मण्यता) एवं "बोध्यंग[2] कहा गया है।" यदि वैभाषिक का यह उत्तर है कि "बोधि का अंग न होते हुए भी कायिक प्रश्रब्धि की उपाचार से प्रश्रब्धि को बोध्यंग कहा है क्योंकि यह चित्त प्रश्रब्धि नामक बोध्यंग के अनुकूल है", तो हम कहेंगे कि इसी कारण हम कायिक प्रश्रब्धि को अनास्रव भी मान सकते हैं। यदि वैभाषिक उत्तर में कहता है कि "कायिक प्रश्रब्धि अनास्रव नहीं हो सकती, क्योंकि सूत्र का वचन है कि सर्वस्पष्टव्य सास्रव है"[3] तो हम कहेंगे कि यह सूत्र "आभिप्रायिक" है और प्रश्रब्धि व्यतिरिक्त अन्य स्पष्टव्य और प्रश्रब्धि कायविज्ञान व्यतिरिक्त अन्य कायविज्ञान को अभिसंधान कर कहा गया है।

संघभद्र, २३.६, ७२ बी १२—वैभाषिक : इसके अतिरिक्त, यह मानने के अयोग्य है, कि कामधातु के कायेन्द्रिय को आश्रय बना रूपधातु का कायविज्ञान उत्पन्न होता है। इसलिए, यह नहीं कहा जा सकता कि कामधातु की काय होते हुए, कायविज्ञान ध्यानोत्पन्न का प्रश्रब्ध लक्षण स्पष्टव्य का ग्रहण करता है।—यदि इसका यह उत्तर दिया जाता है कि यह स्पष्टव्य अंतःकाय संभूत है (अंतःकाय का आश्रय ले), इसलिए यह (रूपधातु के स्प्रष्टव्य का) विज्ञानकामावचर काय पर आश्रित विज्ञान के सदृश उत्पन्न कर सकता है, तो हम कहेंगे कि यह रिक्त वचन है। और इसके समर्थन में न कोई युक्ति है और न कोई वचन जो यह व्यवस्थापित करता है कि कामावचर काय का आश्रय ले प्रश्रब्धि रूप का, न कि अन्य स्पष्टव्य का ग्रहण करता है? यह वाद शास्त्र के विरुद्ध है; केवल अभिधर्म का सिद्धान्त निर्दोष है।—यहाँ स्थविर कहते हैं : तुम कैसे जानते हो कि प्रश्रब्धि को सुख कहते हैं।

१. वैभाषिक मत के अनुसार, प्रश्रब्धि (=ध्यानांग जो सुख के नाम से जाना जाता है) एक संस्कार है, जो अनास्रव हो सकता है। वैभाषिक के प्रतिपक्ष के लिए, ध्यान का पूर्वोक्त अंग उस काय विज्ञान से संप्रयुक्त वेदना है जो प्रश्रब्धि नामक स्पष्टव्य का ज्ञान रखता है।

२. कायिकप्रश्रब्धिसम्बोध्यंगवचनात्—इस प्रश्न का विचार किया गया है २.२५, अनुवाद पृ० १५८।

३. शुआन चाङ् जोड़ते हैं : "सूत्र वचन है कि केवल १५ धातु सास्रव हैं"; कोश १.३१ सी-डी: अनुवाद पृ० ५८, टिप्पणी, विभाषा, १८३, ६।

वैभाषिक—यह कैसे माना जा सकता है कि अनास्रव ध्यान का किञ्चित् अंग अनास्रव है, किञ्चित् सास्रव ?

दार्ष्टान्तिक—अनास्रव अंग और सास्रव अंग का युगपद् समुदाचार नहीं होता (अयौगपद्य), इसलिए कोई दोष नहीं है; हम भली प्रकार जानते हैं कि कायिक सुख सुख और मानसी प्रीति युगपद् नहीं होते (असमवधान)।

वैभाषिक—यदि ऐसा मानें तो प्रथम ध्यान पाँच अंगों से समन्वागत न होगा, और दूसरे पाँच अंग न होंगे।

दार्ष्टान्तिक—यदि शास्त्र के अनुसार प्रथम दो ध्यानों में सुख प्रीत्यंग होते हैं, तो इसका कारण यह है कि इन ध्यानों में पर्याय से सुख और प्रीति की भावना है; जिस प्रकार शास्त्र का उपदेश है कि प्रथम ध्यान में वितर्क और विचार दोनों हैं, यद्यपि ये पर्याय से होते हैं।

वैभाषिक—हमारी प्रतिज्ञा है कि वितर्क और विचार का युगपत् भाव है : जो उदाहरण आप अंगों के असमवधान के लिए देते हैं, वह साध्य है।

दार्ष्टान्तिक—यह उदाहरण सिद्ध है; क्योंकि वितर्क, चित्त की औदारिकता है, और विचार, चित्त की सूक्ष्मता है, इसीलिए वितर्क और विचार का विरोध है, इसीलिए दोनों का यौगपद्य[1] नहीं है। और आप ?

[१५७] यह नहीं कहते कि इनके अयौगपद्य में क्या दोष है। अब हम व्यवस्था के नियम पर विचार करेंगे : द्वितीयादि ध्यानों की व्यवस्था दो, तीन, चार अंगों के अपकर्ष से होती है : इसीलिए प्रथम ध्यान पंचांग कहलाता है, क्योंकि अन्य ध्यानों की व्यवस्था, प्रथम चार अंगों के, क्रमशः अपकर्ष से होती है। यही कारण है कि प्रथम ध्यान के संज्ञादि धर्म अंग नहीं कहलाते, क्योंकि ध्यानान्तर में संज्ञादि का अपकर्ष नहीं होता। यदि यह अर्थ आपको अभिप्रेत नहीं है, तो प्रथम ध्यान केवल पंचांग क्यों है ? किन्तु वैभाषिक कहता है कि केवल यही अंग कहलाते हैं क्योंकि वह ध्यान के अपकारक (अपकारत्वात्) हैं।[2] दार्ष्टान्तिक उत्तर देता है कि, नहीं, स्मृति और प्रज्ञा वितर्क और विचार की अपेक्षा अधिक उपकारक हैं।

---

१. २.३३, पृ० १७३-७६, देखिये १.३३, अनुवाद पृ० ६०; ४.११डी; ८, पृ० १५७, टि० १, २७सी-२८।

२. व्याख्या में दो पाठ हैं : वितर्कविचारयोर् अयौगपद्यं दोषवचनाच्च और दोषावचनात् (=असमवधानेन च न कश्चिद् दोष उच्यत इत्यर्थः)।—परमार्थ दूसरे पाठ का अनुसरण करते हैं।

एक निकाय[1] उस मत को मानता है जिसका व्याख्यान किया है, किन्तु पूर्वाचार्यों का मतैक्य नहीं है।[2] इसलिए उसकी वस्तु-समीक्षा करना आवश्यक है।[3]

[१५८] अध्यात्मसंप्रसाद नामक धर्म क्या है?[4] जब वितर्क और विचार का विक्षेप समाप्त हो जाता है, तब जो धर्म प्रशान्तभाव से प्रवाहित होता है। (प्रशान्तवाहिता) : चित्त की यह अवस्था अध्यात्मसंप्रसाद कहलाती है।—तरंगों से विक्षुब्ध नदी के समान वितर्क और विचार से विक्षिप्तचित्त सन्तति प्रशान्त-प्रसन्न नहीं होती। [सौत्रान्तिकों की व्याख्या है]।

किन्तु इस अर्थ को स्वीकार करने का यह अर्थ होता है कि अध्यात्मसंप्रसाद कोई स्वतंत्र द्रव्यान्तर नहीं है। उस अवस्था में ध्यानों के ग्यारह द्रव्य नहीं होंगे। इसलिये यह कहना आवश्यक है कि

८ सी. श्रद्धा प्रसाद है।[5]

---

१. किओकुगा सेकी के अनुसार, सौत्रान्तिक; ऊपर, दार्ष्टान्तिक।

२. शुआन चाङ् : न सह प्रज्ञापयन्ति—परमार्थ (२८ ए १४) : पूर्वाचार्यों का यह मत नहीं है। उनके अनुसार यह जानना शक्य नहीं है कि कौन से धर्म मार्ग के अंग हैं (न अनु शक्यते ज्ञातुम्)।

३. तस्माद् विचार्यम् एतत्—व्याख्या : योगाचारभूमिदर्शनेन विचार्यम् एतत्। आगे संघभद्र के मत का निरूपण दिया है : तत्र कौतूहलं पातयेत्याचार्य-संघभद्रः। अयं चात्रार्थसंक्षेपो द्रष्टव्यः।

ध्यान में अनेक धर्म हैं : कुछ धर्म ही क्यों-अंग रूप से व्यवस्थापित होते हैं? प्रतिपक्षांग, अनुशंसांग, तदुभयांग उन्हीं का अंगत्व है [आरूप्यों में अंग-व्यवस्थान नहीं है, क्योंकि उनका एक मात्र रस शमथ है, शमथैकरसता]। प्रथम ध्यान १. वितर्क और विचार कामधातु के अकुशल वितर्कों (काम, व्यापाद, विहिंसा) के प्रतिपक्ष हैं, २. प्रीति और सुख वितर्क के अनुशंसांग हैं; जब वितर्क और विचार अपने विपक्षों को प्रतिक्षित विनिर्गत करते हैं, तब विपक्ष विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुख का लाभ होता है, ३. समाधि या चित्तैकाग्रता, "यह तदुभयांग है", सन्निश्रय बल से वितर्क आदि चार अन्य अंगों की प्रवृत्ति होती है। द्वितीय ध्यान : यहाँ अध्यात्मसंप्रसाद वितर्क विचार का प्रतिपक्ष है, यह प्रतिपक्षांग है, शेष अंग पूर्ववत् हैं; प्रीति, सुख अनुशंसांग हैं। तृतीय ध्यान : उपेक्षा, स्मृति और संप्रजन्य प्रतिपक्षांग हैं, यह प्रीति के प्रतिपक्ष हैं; सुख और चित्तैकाग्रता यथाक्रम पूर्ववत् हैं। चतुर्थ ध्यान : उपेक्षापरिशुद्धि और स्मृतिपरिशुद्धि प्रतिपक्षांग हैं, यह सुख के प्रतिपक्ष हैं; अदुःखासुखवेदना, अनुशंसांग हैं, चित्तैकाग्रता तदुभयांग है।—विभंग, २६३।

४. योगसूत्र, १.४७।

५. =श्रद्धा प्रसादः।—२.२५, पृ० १५६।

वसुमित्र (विभाषा, ८०,१७) वितर्क विचार की तुलना तरंगों से करते हैं जो जल

प्रसाद द्रव्य सत् है, यह श्रद्धा है।—योगी द्वितीय ध्यान की भूमि का लाभ कर गम्भीर श्रद्धा उत्पन्न करता है : उसकी इसमें प्रतिपत्ति होती है कि समापत्ति की भूमियों का भी प्रहाण हो सकता है। इस श्रद्धा को अध्यात्मसंप्रसाद कहते हैं।—प्रसाद लक्षण (६.७५) श्रद्धा प्रसाद कहलाती है, बाह्य का प्रहाण कर, यह समरूप से प्रवाहित होती है : इसलिए, ये अध्यात्म सम हैं।—प्रसाद जो अध्यात्म और सम है : इसलिए अध्यात्म-संप्रसाद है।[1]

अन्य आचार्यों—सौत्रान्तिकों के अनुसार—वितर्क, विचार, समाधि और अध्यात्म-संप्रसाद एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं (द्रव्यान्तर)।—यदि यह द्रव्यान्तर नहीं है तो आप कैसे कहते हैं कि यह चैतसिक धर्म है?—क्योंकि

[१५६] वह चित्त में होते हैं।[2] अभिधर्म नय इस वाद को स्वीकार नहीं करता।[3]

सौत्रान्तिक का आक्षेप—आपने कहा कि प्रीति सौमनस्य है, अर्थात् चैतसिक सुखा-वेदना है। आप इस अर्थ को कैसे व्यवस्थापित करते हैं?

यदि प्रीति सौमनस्य नहीं है तो, आपके विचार में यह कौन-सा धर्म है जिसको प्रीति कहते हैं?

हम दूसरे निकाय का अनुसरण करते हैं।[4] इस निकाय के अनुसार सौमनस्य से पृथक् एक धर्म है, एक चैतसिक है जिसे प्रीति कहते हैं। तीन ध्यानों का सुख सौमनस्य

को विक्षुब्ध करती हैं; जब इनका व्युपशम होता है तब चित्त संप्रसन्न होता है, जिस प्रकार तरंगों के शान्त होने पर जल संप्रसन्न होता है; इसलिए श्रद्धा को अध्यात्मसंप्रसाद कहते हैं।

१. परमार्थ इन अर्थों को नहीं देते।

२. अवस्थाविशेषोऽपि हि नाम चेतसश्चैतसिको भवति चेतसि भवत्वात्। व्याख्या कुछ उदाहरण देती है : पर्येषकमनोजल्पावस्था वितर्कः। प्रत्यवेक्षकमनोजल्पावस्था विचारः (कोश, २. पृ० १७५)। वाक्समुत्थापिकावस्था वितर्कः। तदन्यावस्था विचार इति भगव-द्विशेषः। अविक्षिप्तावस्था समाधिः। प्रशान्तवाहितावस्था चित्तस्याध्यात्मसंप्रसाद इति।

चैतसिक चित्त से भिन्न है (और भौतिक महाभूतों से भिन्न है)। इस पर २. पृ० १५०-१५२ देखिये।

३. शुआन चाङ् : "यद्यपि यह युक्तियुक्त हो, तथापि मेरा मत नहीं है।"

४. फुकुआङ् और फा-पाओ (Fa-Pao) के अनुसार स्थविर।

शुआन चाङ्—दूसरा निकाय यह कैसे मानता है कि प्रीति सौमनस्य नहीं है?—उसका कहना कि एक भिन्न प्रीति है, चैतसिक धर्म है; क्योंकि तीन ध्यानों में सुख, सौमनस्य है, इसलिए प्रीति और सौमनस्य भिन्न हैं।

है; इसलिए प्रीति, जो मुख से विशिष्ट, सौमनस्य से भी भिन्न है। यह युक्त नहीं है कि ध्यानों का सौमनस्य है।[१]

९ सी-डी. प्रीति सौमनस्य है; यह दो वचनों से सिद्ध है।[२]

[१६०] बुद्ध विपरीत सूत्र में कहते हैं।[3] "तृतीय ध्यान में, पूर्वजात सौमनस्येन्द्रिय निरवशेष रूप से प्रहीण होती है; चतुर्थ ध्यान में, सुखेन्द्रिय निरवशेष रूप से प्रहीण होती है।" एक दूसरे सूत्र में[४] बुद्ध कहते हैं "सुखेन्द्रिय, दुःखेन्द्रिय के प्रहीण से पूर्व ही दौर्मनस्येन्द्रिय सौमनस्येन्द्रिय के अस्तंगम से।" यह दो वचन सिद्ध करते हैं कि तृतीय ध्यान में, सौमनस्येन्द्रिय नहीं होती। इसलिए प्रीति सौमनस्य है।

क्या क्लिष्ट ध्यान में वह अंग होते हैं जिनका हमने व्याख्यान किया है?—नहीं वह कौन अंग हैं जिनका प्रत्येक क्लिष्ट ध्यान में अभाव है?

१० ए-सी क्लिष्ट में प्रीति और सुख, प्रसाद, संप्रजन्य और स्मृति, उपेक्षा और स्मृतिपरिशुद्धि का अभाव है।

प्रथम जब क्लिष्ट होता है, तब उसमें विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुख नहीं होता, क्योंकि यह काम भूमिक सुखों से विविक्त नहीं होता (क्लेशविविक्त्वात्); (विभाषा; १६०, १५)।

द्वितीय में अध्यात्मसंप्रसाद नहीं होता, क्योंकि यह क्लेशों से होता है (क्लेशविलत्वात्); क्लेश उसको अप्रसन्न बनाते हैं (क्लेशैर् अप्रसन्नत्वात्)।

तृतीय में स्मृति और संप्रजन्य नहीं होते, क्योंकि क्लिष्ट सुख उसको संभ्रम में डाल देता है (क्लिष्टसुख संभ्रमितत्वात्)।

---

१. न वै सुखं ध्यानेषु सौमनस्यं युज्यत इति तुल्यसुखवेदनास्वाभाव्येऽपि सति कस्मात् सौमनस्यं सुखम् इति नोच्यते। अस्ति कारणम्। इयं हि प्रीतिरनुपशान्ता। तया हि तद् समाहितम् अपि चित्तम् क्षिप्यत इव उन्नम्यत इव सामोदं सहासं विप्लुतम् इव व्यवस्थाप्यते। तद् यदोपशान्तं भवति तदा भूम्यन्तरप्राप्तौ तज्जातीयैव वेदना सुखम् इति उच्यते।

२. प्रीति पर देखिये, २ ७ सी-८ ए, पृ० ११४-११५।

३. परमार्थ : कोश, ५.६ ए।—मध्यम, ४२, १८, संयुत्त ५.२१३, मज्झिम, ३.२६, अत्थसालिनी, १७५।

शुआन चाङ का अनुवाद : "क्योंकि विपर्यासों का निर्देश करने वाले सूत्र में बुद्ध दौर्मनस्यादि पाँच वेदना इन्द्रियों के क्रमिक अस्तंगम होने की बात कहते हैं [पहले ध्यान में दौर्मनस्य का अस्तंगम, द्वितीय में दुःख का], तृतीय में सौमनस्य का, चतुर्थ में सुख का··· इसलिए प्रीति सौमनस्य है।"

४. चतुर्थ ध्यान का लक्षण : स सुखस्य च प्रहाणाद् दुःखस्य च प्रहाणात् पूर्वम् एव सौमनस्यदौर्मनस्ययोर् अस्तंगमाद् अदुःखम् उपेक्षास्मृतिपरिशुद्धं चतुर्थं ध्यानम् ··।

[१६१] चतुर्थ में उपेक्षापरिशुद्धि, स्मृतिपरिशुद्धि नहीं होती, क्योंकि वह क्लेशों से मलिन होता है (क्लेशमलिनत्वात्)।

१० डी. कुछ के अनुसार, प्रश्रब्धि और उपेक्षा।[1]

दूसरों के अनुसार १. प्रथम दो ध्यानों में प्रश्रब्धि का, २. और अन्तिम दो ध्यानों में उपेक्षा का अभाव है, क्योंकि प्रश्रब्धि और उपेक्षा ऐसे धर्म हैं जो केवल कुशल चित्त में ही पाये जाते हैं (कुशलमहाभूमिक, २.२५)।

सूत्र का उपदेश है कि तीन ध्यान अपक्षालों के कारण स-इंजित हैं।

११ ए-बी. चतुर्थ आठ अपक्षालों से मुक्त होने के कारण अनिंजित[2] है। आठ अपक्षाल क्या हैं?

११ सी-डी. अर्थात् वितर्क और विचार दो श्वास,[3] सुखादि चार।[4]

वितर्क, विचार, सुख, दुःख, सौमनस्य, दौर्मनस्य, आश्वास, प्रश्वास यह आठ अपक्षाल हैं। इन आठ में एक भी चतुर्थ ध्यान में नहीं पाया जाता, इसलिए केवल इसी को अनिंजित कहते हैं। क्योंकि यह वितर्क और विचार, प्रीति और सुख से कम्पित नहीं होता है।[5] [किन्तु यह अभिप्राय नहीं है कि चतुर्थ ध्यान में श्वासादि होते हैं; सूत्र केवल अन्य ध्यानों से इसका अन्तर बताता है।]

[१६२] दूसरों के अनुसार चतुर्थ ध्यान अनिञ्जित है, क्योंकि वह प्रदीप के समान है जो निवात में वायु से कम्पित नहीं होता।[6]

क्या ध्यानोपपत्ति में या रूपभव में वही वेदनायें होती हैं जो ध्यान समापत्ति में होती हैं?

---

१. सेञ्जित और आनिञ्ज्य के प्रश्न पर विचार ४.४६, अनुवाद, पृ० १०६-१०८, (६.२४ ए-बी) में हो चुका है; अपक्षालों का विचार, ३.१०१ —मध्यम, ५.१ मज्झिम, १ ४५४, २ २६१ (आणञ्जसप्पायसुत्त), अंगुत्तर, ५.१३५ (कण्टक = अपक्षाल)।

२. अष्टापक्षालमुक्तत्वात् [चतुर्थं स्याद् अनिञ्जतम् (?)]

३. श्वसाव् इति। आश्वासप्रश्वासौ द्वित्वप्रदर्शनार्थं चात्र द्विवचननिर्देशः।

४ [वितर्को विचारः श्वासौ चत्वारश्च सुखादयः॥]

५ वितर्कविचारप्रीतिसुखैर् अकम्पनीयत्वाद् इति। यथा पूर्वकाणि त्रीणि ध्यानानि वितर्कादिभिः कम्प्यन्ते। प्रथमं ध्यानं वितर्कविचाराभ्यां कम्प्यते। द्वितीयं प्रीत्या। तृतीयं सुखेन। नैवं एभिश्चतुर्थं कम्प्यते।—तुलना कीजिए ३.१०१।

६. यथा निवाते प्रदीपो न कम्प्यते वायुना तद्वद इति उक्तं सूत्रे इत्यपराहुर् नाष्टा-पक्षालमुक्तत्वात्।

१२. ध्यानोपपत्ति में सौमनस्य, सुख और उपेक्षा होते हैं—उपेक्षा और सुमनस्कता,—सुख और उपेक्षा,—उपेक्षा।[1]

ए. प्रथम ध्यानोपपत्ति में, तीन वेदनायें होती हैं : १. तीन विज्ञानों से (चक्षु, श्रोत्र, काय) संप्रयुक्त सुखावेदना; २. मनोविज्ञानभूमिक सौमनस्य-वेदना; ३. उपेक्षा—वेदन चार विज्ञानों से (चक्षु:, श्रोत्र, काय, मनस) संप्रयुक्त।[2]

बी. द्वितीय ध्यानोपपत्ति में दो वेदनायें होती हैं, सौमनस्य और उपेक्षा, दोनों मनोभूमिक हैं। इनसे सुख नहीं होता क्योंकि पाँच विज्ञान कायों का वहाँ अभाव है।[3]

सी. तृतीय ध्यानोपपत्ति में दो वेदनायें होती हैं, सुख और उपेक्षा, दोनों मनोभूमिक हैं।

डी. चतुर्थ ध्यानोपपत्ति में केवल एक वेदना होती है, उपेक्षावेदना। वेदनावश ध्यानोपपत्ति और ध्यानसमापत्ति में यह भेद है।

[१६३] यदि, द्वितीय ध्यान से आरम्भ वितर्क विचार के समान, तीन विज्ञान (चक्षु, श्रोत्र, काय) का अभाव हो तो तीन ऊर्ध्व ध्यानों में उत्पन्न सत्य कैसे देखेंगे, सुनेंगे और स्पर्श करेंगे? वह कैसे कायिक और वाचिक (विज्ञप्तिकर्मन्, ४.७ डी) विज्ञप्तिकर्म का उत्पाद करेंगे? (१.४६ और आगे)।

हम नहीं कहते कि इन ध्यानलोकों में उत्पन्न चक्षुरादि विज्ञान से विहीन होते हैं। उनमें यह विज्ञान होते हैं, किन्तु वे द्वितीय या तृतीय या चतुर्थ ध्यानभूमि के नहीं होते।

१३ ए-सी. द्वितीय ध्यान में और ऊर्ध्व, काय, चक्षु, श्रोत्र और सूक्ष्म विज्ञप्त्युत्थापक विज्ञान प्रथम ध्यान में संगृहीत होते हैं।[4]

चक्षुरादि विज्ञान, और वह विज्ञान जो विज्ञप्ति का उत्पादक है, द्वितीय ध्यान और ऊर्ध्व ध्यान में नहीं होते।[5] किन्तु इन ध्यानों के सत्य इसी प्रकार इन विज्ञानों का

---

१. सौमनस्यसुखोपेक्षा उपेक्षा सुमनस्कता। सुखोपेक्षे उपेक्षा च विदो ध्यानोपपत्तिषु॥

कोश, १.३० बी (ऊपर पृ० १५१) और २.३१ धातु और रूपधातु के चैत्तों के लिए।

२. शुआन चाङ : "और क्योंकि वहाँ का सौमनस्य औदारिक।"।

[इसलिए मनोभूमिक सुख नहीं पाया जाता]।

३. सेकी किओकुगा : "जोड़ते हैं : क्योंकि वहाँ का सौमनस्य"

४. कायाक्षिश्रोत्रविज्ञानं विज्ञप्त्युत्थापकं च यत्। द्वितीयादौ तद् आद्याप्तम्।—४.८ ए देखिये।

आद्याप्तम इत्याद्यध्यानसंग्रहीतम्।

५. शुआन चाङ : "तीन ऊर्ध्व भूमियों में (=ध्यान) उत्पन्न सत्त्व प्रथम ध्यानभूमिक तीन विज्ञानकाय (चक्षुरादि विज्ञान) और विज्ञप्तिचित्त का उत्पाद करते हैं।"

सम्मुखीभाव करते हैं (सम्मुखी कुर्वन्ति) जिस प्रकार वे अधोभूमि के निर्माण चित्त को सम्मुख करते[1] हैं और इन विज्ञानों के द्वारा वे देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श करते हैं, विज्ञप्तिकर्म को समुत्थित करते हैं।

१३ डी यह विज्ञान अक्लिष्ट अव्याकृत है।[2]

[१६४] वह चार विज्ञान जिनका, जिन्हें द्वितीयादि ध्यान के सत्व, इस प्रकार सम्मुखीभाव करते हैं, प्रथम ध्यानभूमिक हैं। इसलिए वे क्लिष्ट नहीं हैं, क्योंकि ये सत्व अधरभूमियों से विरक्त हैं; वे कुशल नहीं हैं, क्योंकि अधोभूमिक कुशल निकृष्ट निहीन है।[3]

रूप और आरूप्य की समापत्तियों का शुद्धक अनास्रव या क्लिष्ट का लाभ कैसे होता है? (८.५)

१४. ए-बी. जो उनसे समन्वागत नहीं है, वह शुद्धक का लाभ वैराग्य या उपपत्ति से करता है।[4]

जो इन समापत्तियों से समन्वागत नहीं है: (अतद्वान्, तदसमन्वागतः), ऊर्ध्व-लोक के सत्व अधरलोक के अधोभूमि से अपने को विरक्त कर (अधोभूमिवैराग्यात्)[5] या

१. निर्माणचित्तवद् इति। यथाधरभूमिकं निर्माणचित्तं तद्भूमिकं निर्माणं निर्मातु-कामा निर्मातारः सम्मुखीकुर्वन्ति तद्वत्।—७.५० देखिये।

शुआन चाङ: "धर्मों का उत्पाद करते हैं, उदाहरण के लिए निर्माणचित्त।"

२. अक्लिष्टाव्याकृतं च तत्।

३. न कुशलं हीनत्वाद् इति। तद् हि प्रथमध्यानभूमिकं कुशलं द्वितीयध्यान भूमि-कान् निहीनं निकृष्टम् अतो न सम्मुखीकुर्वन्ति। प्रयोजनेन हि ते प्रथमध्यानभूमिकं सम्मुखी-कुर्वन्ति न बहुमानेन। सविपाकं च तत् कुशलम्। न च तद्विपाकेन ''इति कुशलचित्तं सम्मुखीकरणे यत्नं न कुर्वन्ति।

यह सत्व प्रयोजनवश (प्रयोजनेन) बहुमान के लिए नहीं, प्रथम ध्यान के विज्ञान का उत्पाद करते हैं; इसके अतिरिक्त, यदि यह विज्ञान कुशल है तो सविपाक होगा, उनको उस विपाक की आवश्यकता नहीं है; इसलिए कुशल विज्ञान के सम्मुखीभाव करने का वह यत्न नहीं करते।

४. =अतद्वान् लभते [शुद्धम्] वैराग्येणोपपत्तितः।

इसका अर्थ है: वैराग्येणोपपत्तितो वा—वाशब्दो लुप्तनिर्देशः

५. अधोभूमिवैराग्याद् वा असमन्वागतस्तेन शुद्धकं प्रतिलभते ध्यानम् आरूप्यं वा। कामवैराग्यात् प्रथमं शुद्धकं प्रतिलभते त्रिप्रकारम् अन्यत्र निर्वेधभागीयात् (८.१७)। एवं यावद् आकिंचन्यायतनवैराग्याद् भवाग्रं प्रतिलभते।

अधोभूमि में उत्पन्न हो (अधोभूम्युपपत्तितः)[1] उनका प्रतिलाभ करता है; किन्तु चतुर्थ आरूप्य समापत्ति का लाभ तृतीय को अपने से विरक्त करके ही होता है।

"तद् समन्वागत" का क्या अर्थ है ?

[१६५] इसका अर्थ है : "जिसने उनका प्रतिलाभ नहीं किया है या जिन्होंने उनकी परिहाणि की है।" वास्तव में जो सत्य इन हानभागीयादि (८.१७) प्रकार की शुद्ध समापत्तियों से समन्वागत है, वह प्रयोग द्वारा ऊर्ध्व प्रकार (निर्वेधभागीय)[2] की शुद्ध समापत्ति का लाभ कर सकता है; जो स्थितिभागीय प्रकार की शुद्धि समापत्ति से समन्वागत है, वह परिहाणि से हानभागीय प्रकार की शुद्ध-समापत्ति का लाभ कर सकता है।

अतएव विभाषा में कहा है कि[3] : "क्या वैराग्य से कोई शुद्ध ध्यान का लाभ कर सकता है ? क्या वैराग्य से शुद्ध ध्यान का त्याग हो सकता है ? क्या शुद्ध ध्यान का लाभ परिहाणि से हो सकता है ? क्या शुद्ध ध्यान का लाभ उपपत्ति से हो सकता है ? विभाषा का कहना है : हाँ—कैसे ? विभाषा कहती है : हानभागीय प्रथम ध्यान।" वास्तव में : १. कामधातु से विरक्त होकर इस ध्यान का लाभ होता है; २. ब्रह्मलोक वैराग्य से इसका त्याग होता है[4] (द्वितीय ध्यान में प्रवेश करने से); ३. इसका लाभ ब्रह्मलोक[5] वैराग्य परिहाणि से होता है; ४. कामधातु वैराग्य परिहाणि से इसका त्याग होता है[6]; ५. ऊपर ब्रह्मलोक में उत्पन्न हो उसका लाभ

---

१. अधोभूम्युपपत्तितो वा। उपरिष्टाद् अधरायां भूमावुपपद्यमानस् तल्लभते। अन्यत्र भावाग्राद् इति। तस्याधोभूमिवैराग्यत एव लाभः।

२. प्रयोगतो निर्वेधभागीयम् इति तस्य वैराग्योपपत्तिकृतः स लाभो न भवति। परिहाणितोऽपि हानभागीयम् इति स्थितिभागीयात् परिहीयमाणो हानभागीयं लभते।

३. भाष्य में अत एवोच्यते है; शुआन चाङ का Menre; परमार्थ : "विभाषा" व्याख्या विभाषा को उद्धत करती है : स्याच्छुद्धकं वैराग्येण लभेत, वैराग्येण विजह्यात्। स्याच्छुद्धकं परिहाण्या लभेत, परिहाण्या विजह्यात्। स्याच्छुद्धकं उपपत्त्या लभेत, उपपत्त्या विजह्यात्। आह। स्यात्। कथम् इत्याह। हानभागीयं प्रथमं ध्यानम्।

४. ब्रह्मलोकः प्रथमं ध्यान त्रिभूमिकं विशेषेण ब्रह्मलोक उपपद्यमान इति वचनात्। ब्रह्मलोकवैराग्येण त्यज्यत इति यस्मात् प्रथमध्यानवैराग्येण हानभागीयं ध्यानं क्लेशानुगुण्यात् तद्भूमिकक्लेशवत् त्यजति। अतो ब्रह्मलोकवैराग्येण त्यज्य इति। एव तावत् प्रथमप्रश्नस्य विनर्जनम्।

५.ब्रह्मलोकवैराग्यपरिहाण्या लभते। यदि ब्रह्मलोकवैराग्यात् परिहीयते परिहाण्या परिहीयते पुनस् तद् धानभागीयं प्रतिलभते तद्भूमिकक्लेशवत्।

६. कामधातुवैराग्यपरिहाण्या त्यज्यते। यदा कामधातुवैराग्यात् परिहीयते तदा शुद्धकं त्यज्यते।

[१६६] होता है[1]; ६. कामधातु में उत्पन्न होने से उसका त्याग होता है।[2] [अन्य भूमियों की समापत्तियों के लिए भी यही क्रम है। शुआन चाङ]।

१४. सी. वह अनास्रव का लाभ वैराग्य से करते हैं।[3]

इसका यह अर्थ है : वह जो उनसे समन्वागत नहीं है। जो अधोभूमि से विरक्त है, अधोभूमि की अनास्रव समापत्ति का लाभ करता है। इस नियम की अभिसन्धि केवल उस योगी से है जो इस समापत्ति से सर्वथा रहित है।

जो पहले से समापत्ति से समन्वागत है, वह अन्य अवस्थाओं में इसी समापत्ति का अनास्रव रूप में प्रतिलाभ करता है। क्षयज्ञान से (६.४४ डी), वह अशैक्षकी अनास्रव समापत्ति का लाभ करता है; इन्द्रिय-संचार से (६.६०)[4] वह अवस्थानुसार शैक्ष या अशैक्ष की अनास्रव समापत्ति का लाभ करता है। [जैसा ऊपर निर्देश कर चुके हैं, पूर्वप्राप्त अनास्रव समापत्ति का प्रयोग या परिहाणि से पुनः प्रतिलाभ होता है। शुआन चाङ]।

किन्तु क्या हम यह नहीं कह सकते कि योगी सम्यक्त्वनियाम (६.२६ ए) में प्रवेश कर प्रथम बार अनास्रव समापत्ति का लाभ करता है ?[5]—नहीं।[6] क्योंकि आनुपूर्विक (२.१६ सी) अनागम्य (८.२२ सी) का सनिश्रय लेकर सम्यक्त्वनियाम में प्रवेश कर सकता है, वह अवश्यमेव मौलसमापत्ति का लाभ नहीं करता। [किन्तु शास्त्र केवल उन अवस्थाओं की परीक्षा करता है जिनमें समापत्ति का लाभ आवश्यक है। शुआन चाङ]।

---

१. उपरिष्टाद् ब्रह्मलोक उपपद्यमानो लभत इति। द्वितीयादिभ्यो ब्रह्मलोक उपपद्यमानो हानभागीयं तद्भूमिकक्लेशवद् एव लभते।

२. तस्मात् कामधातावुपपद्यमानो विजहातीति। तस्माद् ब्रह्मलोकाद् कामधातावुपपद्यमानो विजहाति।

३. =[अनास्रवं विरागेण]

४. इन्द्रियसंचारतोऽपि शैक्षाशैक्षम् इति। श्रद्धाविमुक्तो दृष्टिप्राप्तायाम् (?) शैक्षं लभते। समयविमुक्तोऽप्यकोप्यप्रतिवेधे अशैक्षं लभते।

५. विभाषा १६२, १४—जब अर्हत्व (या क्षयज्ञान) की प्राप्ति होती है तो अनास्रव प्रथम ध्यान की प्राप्ति पहले ही हो जाती है : अर्थात् सम्यक्त्वनियाम के प्रवेश क्षण को क्यों कहते हैं कि [अर्हत्व की प्राप्ति से] उसकी प्राप्ति होती है ? सूत्र का वचन इस प्रकार होना चाहिए कि सम्यक्त्वनियाम के प्रवेश क्षण में और न कि अर्हत्व की प्राप्ति से [पूर्वोक्त ध्यान की प्राप्ति होती है]।

६. नावश्यम् आनुपूर्विकेणालाभाद् इति। यद्यानुपूर्विकोऽनागम्यसंनिश्रयेण नियामम् अवक्रामति न लभते।

[१६७] १४ डी. वह क्लिष्ट का लाभ, हानि और उपपत्ति से परिहाणि करता है।[1]

भूमि वैराग्य से जिसकी परिहाणि होती है, वह इस भूमि से क्लिष्ट-ध्यान का लाभ करता है। जो ऊर्ध्वभूमि में मृत्यु को प्राप्त कर अधोभूमि में उत्पन्न होता है, वह इस द्वितीय भूमि से क्लिष्ट का लाभ करता है।

कितनी प्रकार की समापत्तियों के अनन्तर कितनी प्रकार की समापत्तियों का उत्पाद होता है ?

१. प्रथम अनास्रव ध्यान के अनन्तर छह समापत्तियों का उत्पाद हो सकता है : १--२ स्वभूमिक शुद्ध और अनास्रव ध्यान[2]; ३--६ द्वितीय और तृतीय ध्यानभूमिक शुद्ध और अनास्रव ध्यान का विज्ञानानन्त्यायतन और आकाशानन्त्यायतन[3]; ७. नैवसंज्ञानासंज्ञायतन का शुद्ध ध्यान क्योंकि इस आयतन में अनास्रव समापत्ति का अभाव है।[4]

[१६८] ३. द्वितीय अनास्रव ध्यान के अनन्तर आठ समापत्तियों का उत्पाद होता है : १-२. सभूमिक शुद्ध और अनास्रव ध्यान; ३--८. तृतीय, चतुर्थ और प्रथम ध्यानभूमिक शुद्ध और अनास्रव ध्यान[5]।

४. अनास्रव विज्ञानों के अनन्तर ६ समापत्तियाँ हैं : १-२ सभूमिक दो; ३-६

१. =[क्लिष्टं हान्युपपत्तितः ॥]

२. स्वभूमिके शुद्धकानास्रवे इति व्युत्थानकाले प्रवाहे च।

प्रथम ध्यान में प्रवेश कर योगी आर्य सत्यों का ध्यान करता है। वह प्रथम अनास्रव ध्यान से समन्वागत होता है। यदि ध्यान प्रवाह प्रवृत्त रहता है तो अनास्रव ध्यान द्वारा अनास्रवध्यानक्षण से अनुगत होता है; यदि वह इस ध्यान से व्युत्थान करता है (व्युत्थाकाले) तो अनास्रव ध्यान के अनन्तर शुद्धक ध्यान हो जाता है।

३. द्वितीयतृतीयध्यानभूमिके चेति मिश्रकामिश्रकानुलोमसमापत्तौ व्युत्क्रान्तकसमापत्तौ च।

जब योगी मिश्रक ध्यान की भावना करता है (६.४२, ७.२३ ए) जहाँ अनास्रव और शुद्धक एक-दूसरे के अनन्तर होते हैं या अनुलोम समापत्ति के रूप में या व्युत्क्रान्तसमापत्ति के रूप में (८.१८ सी) तब प्रथम ध्यान के अनन्तर द्वितीय या तृतीय ध्यान होता है।

४. सप्त स्वभूमिके शुद्धकानास्रवे इति पूर्ववत्। विज्ञानाकाशानन्त्यायतनभूमिके च तथैव प्रतिलोमसमापत्तौ। भवाग्रभूमिकं शुद्धकम् ।वात्। मान्द्याएवानास्रवाभद्द अनास्रवं नास्तीत्युक्तम् (ऊपर पृ० १४५)। अनुलोमसमापत्तौ तु व्युत्थानकाले तद् भवति।

५. तृतीयचतुर्थप्रथमध्यानभूमिके चेति। अमिश्रकमिश्राकानुलोमप्रतिलोमव्युत्क्रान्तकसमापत्तिकालेषु।

चार, जिनमें दो आकाशानन्त्यायतन और दो चतुर्थ ध्यान की[1]; ७-९ तीन, जिनमें दो आकिंचन्यायतन और एक नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की।

५. इसी प्रकार अन्य ध्यान और आरूप्यों के अनन्तर दस ध्यानोत्पत्ति की योजना करनी चाहिए।[2]

संक्षेप में यह नियम है :

१५ ए-सी. अनास्रव के अनन्तर यावत् तृतीय भूमि तक ऊर्ध्व या अधोभूमिक शुभ उत्पन्न होता है।

शुभ शब्द शुद्धक और अनास्रव ध्यान का सूचक है, क्योंकि दोनों कुशल हैं (४.८)।

अनास्रव के अनन्तर, या तो : १. इस अनास्रव की स्वभूमि के दो प्रकार के ध्यान होते हैं, अर्थात् शुद्धक और भूमि के दो प्रकार के ध्यान होते हैं, अर्थात् शुद्धक और अनास्रव ध्यान, २. या ऊर्ध्वभूमि के अथवा अधोभूमि के दो प्रकार के ध्यान यावत् तृतीय ध्यान अनुलोम, प्रतिलोम शुद्ध या अनास्रव (ऊर्ध्वाधोभूमिके यावत् तृतीयात्)।

[१६९] वास्तव में, बहुत अनन्तर होने के कारण योगी दो भूमियों को व्युत्क्रान्त नहीं कर सकता।

अन्वयज्ञान के (७.३ सी.) के अनन्तर, आरूप्य समापत्ति में योगी प्रवेश कर सकता है, किन्तु धर्मज्ञान के अनन्तर नहीं, क्योंकि इसका आश्रय और आलम्बन अधर है (अधरालम्बनत्वात्)[3]।

हमने देखा है कि कुछ समापत्तियों का उत्पाद अनास्रव समापत्ति के अनन्तर होता है।

१५सी-डी. इसी प्रकार शुद्ध के अनन्तर स्वभूमिक क्लिष्ट को शामिल कर।[4]

---

१. आकाशानन्त्यायतनचतुर्थध्यानभूमिकानि चत्वारीति क्लिष्टेष कालेषु। क्लिष्टना-स्रवाभावत्······

२. एवम् अन्यध्यानारूप्यानन्तरं दस द्रव्याणि योज्यानीति।

तृतीय ध्यान के अनुसार : १-२, इस भूमि के दो (शुद्धक और अनास्रव); ३-६ चार, चतुर्थ ध्यान के दो, आकाश के दो; ७-१० चार, प्रथम के दो, द्वितीय ध्यान के दो।

इसी प्रकार चतुर्थ ध्यान और आकाशानन्त्य के लिए।

३. अन्वयज्ञानानन्तरं चेति विस्तरः। इदं व्युत्पाद्यते। ऊर्ध्वाधरभूम्यालम्बनत्वात् ध्यानानाम् अस्ति प्रसंग इति कृत्वा।

तस्याधराश्रयालम्बनत्वाद् इति। यस्मात् तद् धर्मज्ञानम् अधराश्रयं कामधात्वा-श्रयम् अधरालम्बनं कामदुःखाद्यालम्बनम् ······न धर्मज्ञानानन्तरं आरूप्यं समापद्यन्ते।

४. =तथा शुद्धाद् क्लिष्टं चापि स्वभूमिकम्॥

प्रत्येक शुद्ध ध्यान के अनन्तर स्वभूमिक क्लिष्ट ध्यान उत्पन्न हो सकता है। शेष उसी प्रकार यथा अनास्रव ध्यान के लिए है।[१] अनास्रव ध्यान के अनन्तर क्लिष्ट ध्यान नहीं उत्पन्न हो सकता।

१६ ए. क्लिष्ट के अनन्तर स्वभूमि शुद्धक और क्लिष्ट।[२]

क्लिष्ट ध्यान के अनन्तर, स्वभूमिक शुद्ध या क्लिष्ट ध्यान।

[१७०] १६ बी. और अधरभूमि का शुद्धक।[३]

स्वभूमिक क्लेशों से—वह क्लेश जो ऊर्ध्वभूमिक क्लिष्ट ध्यान के विशेष हैं—विक्षिप्त होकर योगी अधरभूमिक शुद्ध ध्यान के लिए बहुमान उत्पन्न करता है। इसलिए ऊर्ध्वभूमिक [द्वितीय ध्यान] क्लिष्ट ध्यान के अनन्तर अधरभूमिक (प्रथम ध्यान का) शुद्ध ध्यान उत्पन्न हो सकता है।

एक कठिनाई है। यदि योगी स्पष्ट रूप से क्लिष्ट ध्यान और शुद्ध ध्यान में विवेक कर सकता तो वह ऊर्ध्वभूमिक क्लिष्ट ध्यान से अधरभूमिक शुद्ध ध्यान में जा सकता है। किन्तु, क्लिष्ट होने के कारण, उसमें इस विवेक की सामर्थ्य नहीं होती; इसलिए वह क्लिष्ट ध्यान के अनन्तर कैसे शुद्ध ध्यान का उत्पाद कर सकता है?"—एक पूर्व प्रणिधान के बल से उसने यह प्रणिधान लिया है: "मैं अधरभूमिक शुद्ध ध्यान का लाभ करूँ। क्या मुझे ऊर्ध्वभूमिक क्लिष्ट ध्यान सम्पन्न करना है?" प्रणिधानवश सन्तति का अनुवर्तन होता है और फलतः बाद को ऊर्ध्वभूमिक क्लिष्ट ध्यान के अनन्तर अधोभूमिक शुद्ध ध्यान उत्पन्न होता है जिस प्रकार यह प्रणिधान कर सोचता है कि मुझे-अमुक समय पर सोना है और वह उसी अभिप्रेत काल में फिर जाग जाता है, तद्वत् इस योगी का भी है।[४]

---

१. शेषं यथैवानास्रवाद् इति। स्वभूमिके च शुद्धानास्रवे उत्पद्येते। ऊर्ध्वाधोभूमिके च यावत् तृतीयाद् इति।

शुआन-चाङ जोड़ते हैं: "इसलिए शुद्ध नैवसंज्ञानासंज्ञायतन के अनन्तर ६ प्रकार की समापत्ति उत्पन्न हो सकती है: इसी आयतन की शुद्धि और क्लिष्ट द्वितीय और तृतीय आरूप्यों की अनास्रव और शुद्ध। प्रथम (शुद्ध) ध्यान के अनन्तर, सात प्रकार: प्रथम ध्यान के तीन; द्वितीय और तृतीय के अनास्रव और शुद्ध। आकिंचन्य के अनन्तर, आठ; द्वितीय ध्यान के अनन्तर, नौ; विज्ञानानन्त्य के अनन्तर, दस; अन्य शुद्ध समापत्तियों के अनन्तर, ग्यारह।"

२. =क्लिष्टात् स्वं शुद्धकं क्लिष्टम्।

३. =[एक चाधरशुद्धकम्।]

४. प्रणिधायेति विस्तरः। यदि कश्चिद् एवं बुद्धिम् उत्पाद्यार्धरात्रे चन्द्रोदये चन्द्रास्तमये वा मया प्रबोधव्यम् इति स्वपेत्। स पूर्वाभिप्रायानुवर्तनात् सन्ततेः तस्मिन्नेव काले प्रबुध्यते।

क्लिष्ट ध्यान के अनन्तर किसी भी भूमि का अनास्रव ध्यान नहीं उत्पन्न होता।[३] [इन दो प्रकार के ध्यानों के बीच अन्योन्योत्पाद नहीं है। किन्तु शुद्ध ध्यान अनास्रव तथा क्लिष्ट के बीच अन्योन्योत्पाद है]।

हमने कहा है कि क्लिष्ट ध्यान जो शुद्ध या क्लिष्ट ध्यान के समन्तर होता है, उस ध्यानभूमि का होता है जिसके अनन्तर वह होता है।

[१७१] यह नियम समापत्तिकाल के प्रति समझना चाहिए[१], किन्तु

१६ सी-डी. च्युतिकाल में शुद्ध के अनन्तर, प्रत्येक प्रकार का क्लिष्टाग्र।[२]

च्युतिकाल में, उपपत्तिलाभिक शुद्ध ध्यान के अनन्तर सर्वभूमिक क्लिष्ट चित्त उत्पन्न हो सकता है।

१६ डी. क्लिष्ट के अनन्तर, ऊर्ध्वभूमिक नहीं।

च्युतिकाल में स्वभूमिक या अधरभूमिक क्लिष्ट चित्त ही रूप और आरूप्य के अनन्तर हो सकता है।

हमने देखा है कि अनास्रव ध्यान शुद्धक ध्यान के अनन्तर नहीं हो सकता है।

---

३. सर्वथा नोत्पद्यत इति। नापि स्वभूमिकं नाप्यधरभूमिकम् उत्पद्यत इत्यर्थः।

१. समापत्तिकालं प्रत्येतद् उक्तम् इति। शुद्धकात् क्लिष्टाच्च समनन्तरं स्वभूमिकमेव क्लिष्टम् उत्पद्यते नान्यभूमिकम् इति। कथं। तथा शुद्धात् क्लिष्टं चापि स्वभूमिकम् (८.१५ सी-डी) क्लिष्टात् स्वं शुद्धकं क्लिष्टम् (१६ ए) इत्येवम्।

२. आचार्य ने अब तक समापत्ति ध्यानों का, ध्यानों की अवस्था और उनके आनन्तर्य का उल्लेख किया है; किन्तु कुशलसमाहित भी, समाहितकुशल चित्त भी, जो उपपत्ति ध्यानों में, अर्थात् रूप भावों (=ध्यानात्मक; ब्रह्मलोक, आदि) होता है, और जो उपपत्ति लाभिक है, वह शुद्धक ध्यान भी कहलाता है। जब रूपधातु के सत्त्व की मृत्यु होती है, तब इस शुद्धक ध्यान का अन्त होता है; क्या यह स्वभूमिक क्लिष्ट ध्यान से ही अनुगत हो सकता है?—नहीं: "च्युतिकाल में शुद्ध के अनन्तर जिस किसी भूमि का क्लिष्ट।"—वास्तव में, मरण भव कभी समाहित (३.४३) नहीं होता: रूप का सत्त्व मरण क्षण में शुद्ध समापत्ति ध्यान से कभी समन्वागत नहीं होता। प्रतिसन्धिचित्त जो मरण भव के अनन्तर होता है, इसलिए क्लिष्ट असमाहित होता है।

३. च्युतिकाले तु मरणभव उपपत्तिलाभिकाच्छुद्धकाद् इति विस्तरः। उपपत्तिध्यानेषु यद् उपपत्तिलाभिकं कुशलसमाहितं तद् अपि शुद्धकं ध्यानम् इत्युच्यते। अत इदम् उच्यते च्युतिकाले त्व् इति विस्तरेण। किं कारणम्। असमाहितत्वान् मरणभवस्य। न हि तदानीं शुद्धकं समापत्तिध्यानम् अस्तीत्यतः सर्वभूमिकं क्लिष्टम् उत्पद्यत इति स्वभूमिकाद् अधरोर्ध्वभूमिकं प्रतिसन्धिचित्तं क्लिष्टम् असमाहितम् उत्पद्यत इत्यर्थः।

[१७२] १७ ए-बी. शुद्ध ध्यान चतुर्विध है, हानभागीय आदि ।[१]

शुद्धक चार प्रकार का है, हानभागीय, स्थितिभागीय, विशेषभागीय, और निर्वेध-भागीय । नैवसंज्ञानासंज्ञायतन का शुद्धक सदा केवल तीन प्रकार का होता है, क्योंकि इससे कोई ऊर्ध्वभूमि नहीं है ।[२]

यह चार प्रकार क्या है ?

१७ बी-डी. क्रम से, क्लेशोत्पत्ति के अनुकूल, स्वभूमि में, ऊर्ध्वभूमि में, अनास्रव में ।

जब शुद्धक स्वभाव इस प्रकार का होता है कि वह क्लेशोपत्ति में परिसमाप्त होता है, तो उसे हानभागीय कहते हैं ।

जब शुद्धक स्वभूमि में परिसमाप्त होता है, तो वह स्थितिभागीय कहलाता है; जब शुद्धक ऊर्ध्वभूमि में परिसमाप्त होता है, तो वह विशेषभागीय कहलाता है ।

जब शुद्धक अनास्रव में परिसमाप्त होने की प्रवृत्ति रखता है, तो वह निर्वेधभागीय कहलाता है (६.२० ए) । इसलिए शुद्धक इस अन्तिम प्रकार से अनास्रव उत्पन्न होता है ।

इन चार प्रकारों का अन्योऽन्योत्पाद क्या है ?

१८ ए-बी. हानभागीयादि के अनन्तर, दो, तीन, तीन, एक । ज्ञानभागीय के अनन्तर, हानभागीय और स्थितिभागीय ।[३]

[१७३] स्थितिभागीय के अनन्तर निर्वेधभागीय को छोड़कर, शेष तीन ।

विशेषभागीय के अनन्तर हानभागीय को छोड़कर, शेष तीन ।[४]

निर्वेधभागीय के अनन्तर, केवल निर्वेधभागीय ।

हमने देखा है (८.१३ ए-सी) कि, "किसी भूमि के शुद्धक या अनास्रव ध्यान के समनन्तर, ऊर्ध्व या अधर की ओर तृतीय भूमिक शुद्धक या अनास्रव ध्यान उत्पन्न हो

---

१. =[हानभागीयादि शुद्धं चतुर्धा]

२. अन्यत्र विशेषभागीयाद् इति । इत ऊर्ध्वभूम्यभावात् ।—परमार्थ का अनुवाद : "निर्वेधभागीय को छोड़कर" ।

यह चार प्रकार धर्म वुप्पटिविज्झ बोध, के ३.२७७ के धर्म हैं ।—अन्य उद्धरण देखिये ४.१२५, अनुवाद, पृ० २५३, ६.२० ए, पृ० १६६ ।

३. हानस्थितिभागीये इति । हानभागीयं प्रवाहकाले स्थितिभागीयं विशेषगमन-काले ।—हानभागीय के अनन्तर हानभागीय होता है, जब कोई विशेषगमन नहीं है; हान-भागीय के अनन्तर स्थितिभागीय होता है, जब शुद्धक ध्यान अवस्थित होता है और उसका वहाँ गमनकाल होता है ।

४. अन्यत्र हानभागीयाद् इति । विशेषभागीयाद् धीयमानस्य स्थितिभागीयापरित्यागे तस्यैवोत्पत्तियोगात् ।

सकता है।" जब वह उत्पन्न होता है, तब योगी एक भूमि को व्युत्क्रान्त करता है और समापत्ति के स्वभाव को बदल देता है : वह व्युत्क्रान्तक नामक समापत्ति की भावना करता है। इस समापत्ति की भावना कैसे होती है ?

१८ सी-१६ बी. दो प्रकार से और दो अर्थ से समनन्तर भाव से आठ भूमियों में जाकर; एक भूमि को व्युत्क्रान्त कर, विसभाग तृतीय भूमि में जाना, व्युत्क्रान्तक समापत्ति है।[1]

दो अर्थ : 'गमन', अनुलोमानुक्रम से समापत्ति में अरोहण करना; 'आगमन', प्रतिलोमानुक्रम से समापत्ति में अवरोहण।

दो प्रकार से, अनास्रव समापत्ति और सास्रव समापत्ति। [यहाँ शुद्धक ध्यान इष्ट है, क्लिष्ट नहीं]

आठ भूमि : चार ध्यान, चार आरूप्य।

समनन्तर भाव से शनैः-शनैः निकटतर और निकटतर।

भूमि को व्युत्क्रान्त कर : भूमि को लाँघकर।

प्रयोग में चार संवर हैं : १. अनुलोम और प्रतिलोम क्रम से आठ सास्रव ध्यानों का अभ्यास, २. इस अभ्यास के स्थिर होने पर

[१७४] सात अनास्रव ध्यानों का अनुलोम प्रतिलोम क्रम से अभ्यास; ३. इस अभ्यास के स्थिर होने पर, ध्यानवशिता के जय के लिए, प्रथम सास्रव ध्यान से सभाग तृतीय ध्यान में प्रवेश; यहाँ से आकाशानन्त्यायतन में, यहाँ से आकिंचन्य में; और यहाँ से पुनः अवरोहण कर, यह सब ध्यान सास्रव हैं; ४. इस अभ्यास की समाप्ति पर, उसी प्रकार अनास्रव ध्यानों का, दो अर्थों में अभ्यास। जब योगी प्रथम सास्रव ध्यान से तृतीय अनास्रव ध्यान में, तृतीय से सास्रव आकाशानन्त्यायतन में, आकाशानन्त्यायतन से अनास्रव आकिन्चन्यायतन में प्रवेश करने और इसी प्रकार अवरोहण करने की सामर्थ्य रखता है, तब विसभाग तृतीय ध्यान में प्रवेश और इस ध्यान से प्रत्यागमन सिद्ध होते हैं; तब व्युत्क्रान्तकसमापत्ति का लाभ होता है।[2]

---

१. =······व्युत्क्रान्तकसमापत्तिर्विसभागतृतीयगा ॥

महाव्युत्पत्ति, ६८, ५; देखिये कोश, २.४४ डी, अनुवाद पृ० २१०।—विसुद्धिमग्ग, ३७४ (अत्थसालिनी, १८७) : झानानुलोमतो झानपटिलोमतो झानुक्कन्तितो।

२. यह, परमार्थ के अनुसार, युआन चाङ से मतभेद है :······(३) सास्रव और अनास्रव का अभ्यास मिश्र में निरन्तर क्रम से (अर्थात् : प्रथम सास्रव ध्यान से द्वितीय अनास्रव ध्यान में) प्रवेश करना; (४) सास्रवों का अभ्यास निरन्तर क्रम से नहीं, दो भूमियों को लाँघकर (अर्थात् प्रथम ध्यान से तृतीय ध्यान में प्रवेश करना; (५) अनास्रवों के लिए भी तथैव; (६) सास्रव और अनास्रवों का अभ्यास सङ्कीर्ण और निरन्तर क्रम से।

दो भूमियों को लाँघकर चतुर्थ में प्रवेश करना असम्भव है क्योंकि चतुर्थ भूमि बहुत दूर है।

केवल तीन द्वीपों के पुरुष व्युत्क्रान्तक समापत्ति का लाभ करते हैं; असमयविमुक्त (६.५७) अर्हत् इसका अभ्यास करते हैं; क्योंकि इन्होंने क्लेशों का क्षय किया है, क्योंकि उसको ध्यानवशिता प्राप्त है। दृष्टिप्राप्त (६.३१ सी) की इन्द्रियाँ तीक्ष्ण होती हैं और उसको ध्यानवशिता प्राप्त होती है; किन्तु उनमें पहली अवस्था का अभाव होता है। समयविमुक्त अर्हत् ने क्लेशों का क्षय किया है, किन्तु दूसरी अवस्था का उसमें अभाव है, इसीलिए दोनों व्युत्क्रान्तकसमापत्ति का लाभ नहीं कर सकते।

विभिन्न भूमियों के सत्य कितना ध्यान और आरूप्यों का अभ्यास, सम्मुखीभाव, कर सकते हैं?

[१७५] ध्यान और आरूप्यों के आश्रय स्वभूमि या अधोभूमि के सत्त्व होते हैं।[1]

भवाग्र (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन) का सत्त्व भवाग्र समापत्ति का सम्मुखीभाव कर सकता है, अधोभूमि के सत्त्व भी यावत् कामधातु उसका सम्मुखीभाव कर सकते हैं। इस प्रकार अन्य भूमियों का सम्मुखीभाव इन ध्यानभूमि सत्त्वों से या अधोभूमि के सत्त्वों से हो सकता है, किन्तु ऊर्ध्वभूमि में उत्पन्न सत्त्व अधोभूमि के ध्यान का सम्मुखीभाव नहीं कर सकता।

१६ डी. अधोभूमिक ध्यान का कोई लाभ नहीं है।

अधोभूमिक ध्यान ऊर्ध्वभूमिक सत्त्व के लिए किञ्चिन्मात्र भी उपयोगी नहीं है क्योंकि यह ध्यान तुलना करने पर निहीन है।[2] यह सामान्य नियम है, इसमें एक अपवाद है।

२० ए-बी. किन्तु भवाग्र में आकिंचन्य की आर्य समापत्ति का सम्मुखीभाव कर अनास्रव क्षय होता है।[3]

विभाषा, ५६५,११, का यहाँ मतभेद : १. कामधातु का कुशलचित्त, २. सास्रव ध्यान, ऊर्ध्वगमन और अधोगमन, भवाग्र, ३. अनास्रव ध्यान, ऊर्ध्वगमन और अधोगमन, ४. प्लुति से सास्रव, ५. प्लुति से अनास्रव, ६. प्लुति से सास्रव और अनास्रव।

१. =[स्वाधोभूम्याश्रया ध्यानारूप्याः]

२. युआन चाङ : १. क्योंकि ऊर्ध्वभूमि के सत्त्व को अधोभूमिक ध्यान उत्पन्न करने का कोई प्रयोजन नहीं है; २. क्योंकि इसकी स्वभूमि इस समापत्ति से विशिष्ट है; ३. क्योंकि इस ध्यान का बल क्षीण है; ४. क्योंकि उसने इस ध्यान का प्रत्याख्यान किया है; क्योंकि यह ध्यान वैराग्य का विषय है।

३. =आर्याकिन्यसांमुख्याद् भवाग्रे त्वास्रवक्षयः।

दोनों चीनी अनुवादकों का पाठ—आर्या आकिंचन्यसाम्मुख्यात्……

आस्रवों के प्रहाण के लिए भवाग्र में उत्पन्न सत्व भवाग्र के आकिंचन्यायतन के आर्य अर्थात् अनास्रव ध्यान का सम्मुखीभाव करता है। वास्तव में, अनास्रव मार्ग का भवाग्र में अभ्यास नहीं हो सकता (स्वस्वाभावात्)[1]; दूसरी ओर आकिंचन्य सन्निकट है (अभ्यास=संनिकृष्टत्व)।

[१७६] ध्यान और आरूप्यों के समापत्ति का क्या विषय है?

२० सी. तृष्णा, संयुक्त समापत्ति का आलम्बन स्वभव है।[2]

तृष्णा संप्रयुक्त समापत्ति=आस्वादन समापत्ति (८. ६)—इसका स्वभव अर्थात् स्वभूमि का भव है। भव का अर्थ है जो सास्रव है [यह ८.६ के सिद्धान्त को समझाने का दूसरा प्रकार है। आस्वादन समापत्ति का विषय शुद्धक ध्यान है[3] (कुशल किन्तु सास्रव) अनास्रव नहीं]। इसका आलम्बन अधोभूमि नहीं है क्योंकि जो योगी किसी विशेष भूमि की आस्वादन समापत्ति का अभ्यास करता है, वह अधोभूमि से विरक्त होता है। इसका आलम्बन ऊर्ध्वभूमि अनास्रव नहीं है क्योंकि भूमियाँ तृष्णा से परिच्छिन्न हैं।[4] इसका आलम्बन अनास्रव नहीं है क्योंकि इसके कुशलत्व का प्रसंग उपस्थित होगा।[5]

२० डी. यत्किंचित् सत् है, वह सब शुद्ध ध्यान का विषय है।[6]

---

१. देखिये २.४५ ए-बी (अनुवाद पृ० २२१); ६.७३ ए-बी; ऊपर पृ० १४५, १६८—व्याख्या: यावद् एव संज्ञासमापत्तिस् तावद् आज्ञाप्रतिवेध इति वचनात् (अंगुत्तर, ४.४२६)।

२. =[सतृष्णं स्वभवालम्बम्] (ऊपर पृष्ठ १४६ देखिये)

३. हमने देखा है कि आस्वादन ध्यान का आलम्बन शुद्धक ध्यान भी अनास्रव ध्यान है।—हमारा अर्थ—"यह अधोभूमि के शुद्ध ध्यान को आलम्बन नहीं बनाता।"

४. व्याख्या : जिसका पाठ दुर्भाग्य से निश्चित नहीं है, इस प्रकार है : तृष्णापरिच्छिन्नत्वाद् भूमिनाम् इति। या यस्यां भूमौ तस्यामेव भूमावनुशयनां (?) तया सा भूमिः परिच्छिन्ना भवति। अन्यथा हि तस्योत्तरत्वं (?) न सिद्ध्येद् एकभूमिस्थानान्तरवत्। अत एवोत्तराधर्येऽपि स्थानान्तराणां त्रयाणाम् त्रयाणाम् अष्टानां चैकभूमिता सिध्यति तृष्णाव्यतिहारयोगात्।

तृष्णा भूमि को नियति करती है। इस प्रकार प्रथम तीन ध्यान लोक के तीन स्थान और चतुर्थ ध्यान लोक के आठ स्थान की एक भूमि सिद्ध होती है, यद्यपि यह स्थान उत्तराधर क्यों न हो क्योंकि एक ही तृष्णा अपनी भूमि में सर्वत्र अनुशय करती है और वृद्धि को प्राप्त होती है (५.१७)—धातु की व्याख्या के लिए ३.३ सी देखिये।

५. नानास्रवं कुशलत्वप्रसंगात् इति तत्प्रार्थना हि कुशलधर्मच्छन्दः : अनास्रव की अभिलाषा तृष्णा नहीं है, किन्तु कुशलच्छन्द है। कोश, ५.१६, पृ० ३६।

६. =ध्यानं सद्विषयं शुभम्॥

[१७७] शुभ ध्यान अर्थात् शुद्धक या अनास्रव सब धर्मों का अर्थात् संस्कृत, असंस्कृत सबको आलम्बन के रूप में ग्रहण करता है।[1] सदा,

२१ ए-बी. मौल भूमियों के कुशल आरूप्य का गोचर अधर सास्रव नहीं है।[2]

ध्यान समापत्ति और आरूप्य सामन्तकों में भावित समापत्ति के विपक्ष में आरूप्य की मौलभूमियों में भावित शुभ ध्यानों के आलम्बन अधरभूमि के सास्रव धर्म (सास्रवाधरवस्तु) नहीं होते, किन्तु सभूमि के धर्म या ऊर्ध्वभूमि के धर्म होते हैं।

अनास्रव धर्मों के सम्बन्ध में वे सर्व अन्वयज्ञान पक्ष को (७.३ सी) आलम्बन बनाते हैं; वे धर्मज्ञान को आलम्बन नहीं बनाते (जिसका आलम्बन अर्थात् कामधातु प्रकृष्ट है); वह अधोभूमि को आलम्बन नहीं बनाते। यह तभी सम्भव होता जब वे इस भूमि को आलम्बन बनाते।

आरूप्य समान्तक में भावित समापत्तियों की अधोभूमि है क्योंकि वह आनन्तर्य मार्ग संगृहीत करते हैं जिसका एक मात्र आलम्बन अधोभूमि है।[3]

ध्यान और आरूप्य की तीन प्रकार की समापत्तियों में से अनास्रव, शुद्धक, क्लिष्ट क्लेशों का प्रहाण कौन करता है?

२१ सी-डी. क्लेशों का प्रहाण अनास्रव से होता है।

[१७८] अनास्रव समापत्ति से क्लेशों का प्रहाण होता है; शुद्धक से नहीं, क्लिष्ट से और भी नहीं।

शुद्धक से अधरभूमिक क्लेशों का प्रहाण नहीं होता क्योंकि योगी अधरभूमि से वीतराग होने के कारण अधरभूमिक क्लेशों से विमुक्त होने के कारण किसी भूमि के शुद्धक का लाभ कर सकता है। शुद्धक स्वभूमि में क्लेशों का प्रहाण नहीं करता[4] क्योंकि

---

१. परमार्थ के अनुसार—शुआन-चाङ: "उसका आलम्बन असंस्कृत और स्वभूमि, अधोभूमि और ऊर्ध्वभूमियों का प्रत्येक संस्कृत होता है। अनास्रव ध्यान के आलम्बन अव्याकृत असंस्कृत कभी नहीं होते।

२. न मौलाः कुशलारूप्याः सास्रवाधर गोचराः।

३. चतुर्थ ध्यान से अपने को विरक्त करने के लिए योगी प्रथम आरूप्य के सामन्तकों में प्रवेश करता है और चतुर्थ ध्यान को औदारिकादि समझता है (६.४९)। चतुर्थ ध्यान वैराग्य के लिए यह आनन्तर्यमार्ग है। आकाशानन्त्य के सामन्तक और आरूप्यों पर ३.३५ ए देखिये।

४. वीतरागत्वान् नाधः।

वह इन क्लेशों का प्रतिपक्ष[1] नहीं है; वह ऊर्ध्वभूमि के क्लेशों का प्रहाण नहीं करता क्योंकि उर्ध्वभूमिक क्लेश उससे विशिष्टतर है।[2]

२१ डी. सामन्तक से, शुद्धक से भी।

ध्यान और आरूप्य के सामन्तकों से, शुद्धक[3] से भी क्लेशों का प्रहाण होता है क्योंकि वह अधोभूमि के प्रतिपक्ष हैं।[4]

सामन्तक कितने हैं?

२२ ए. मौल समापत्तियों में आठ सामन्तक।[5]

प्रत्येक मौल समापत्ति में एक सामन्तक होता है जिससे मौल में प्रवेश होता है (येन तत्प्रवेशः)।

क्या सामन्तक मौल समापत्तियों की तरह तीन प्रकार के होते हैं—क्लिष्ट, शुद्ध, अनास्रव? क्या उनमें वही वेदनायें (अर्थात् प्रथम दो ध्यानों के लिए प्रीति, तृतीय के लिए सुख, चतुर्थ के लिए उपेक्षा) होती है जो मौल में होती है?

[१७६] २२ बी. शुद्ध, उपेक्षा वेदना।[6]

सामन्तक केवल शुद्ध होते हैं, उपेक्षा वेदना से संप्रयुक्त होते हैं; क्योंकि वे यत्नवाह्य हैं (यत्नवाह्य=अभिसंस्कारवाह्य),[7] क्योंकि अधोभूमिक उद्वेग का अपगम नहीं हुआ है[8] क्योंकि यह अधोभूमि से विरक्त होने का पथ है[9], इसलिए उनमें केवल उपेक्षा वेदना होती है; वे आस्वादनसंप्रयुक्त नहीं होते।

---

१. तदप्रतिपक्षत्वात्—व्याख्या : न हि भवेन भवनिःसरणम् अस्तीति (ऊपर ८, पृ० १४१ देखिये)।

२. विशिष्टतरत्वान् नोर्ध्वम् इति नोर्ध्वभूमिकाः क्लेशा अधरभूमिकेन शुद्धकेन प्रहीयन्ते।

३. शुद्धकेनापीत्यपिशब्दाद् अनास्रवेणापीति सम्भवतस्त्वेतद् उक्तम्।

४. अधोभूमिक प्रतिपक्षत्वात्।—कामावचरा हि क्लेशाः प्रथमध्यानसामन्तकेन प्रहीयन्ते। प्रथमध्यानभूमिका द्वितीयध्यानसामन्तकेन। एवं यावद् आकिञ्चन्यायतनभूमिका नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसामन्तकेन।

५. =[तेषु सामन्तका अष्टौ]।

६. देखिये ३.३५ डी, ७.२६ ए, ८.२२ सी।

७. अनभिसंस्कारवाही मार्गः प्रीतिसुखाभ्यां संप्रयुज्यते। तानि च सामन्तकानि यत्नवाह्यानि साभिसंस्कारवाह्यानि।

८. अधोभूम्युद्वेगानपगमात्—अतः वहाँ प्रीति और सुख का अभाव है—प्रीतिसुखयोरयोग इति।

९. वैराग्यपथाच्च नास्वादनसंप्रयुक्तानि।—वैराग्य पथ होने के कारण आस्वादन से संप्रयुक्त नहीं हो सकते, इसलिए वे शुद्ध हैं।

२२ सी. प्रथम आर्य भी है।[१]

प्रथम सामन्तक अनागम्य कहलाता है।[२] यह दो प्रकार का है, शुद्धक और आर्य अर्थात् अनास्रव। जिस सामन्तक चित्त से भव में प्रवेश होता है, वह क्लिष्ट है; किन्तु जिस सामन्तक चित्त से समापत्ति में प्रवेश होता है, वह क्लिष्ट नहीं हो सकता, क्योंकि हमने इस वाद का प्रतिषेध किया है (ऊपर पृ० १७८, १.१५)।[३]

[१८०] २२ सी. दूसरों का कहना है कि यह त्रिविध है।[४]

अन्य आचार्यों का मत है कि सामन्तक अनागम्य आस्वादना संप्रयुक्त भी है।[५]

---

१. अनागम्य शब्द का अर्थ, ६.४४ डी, पृ० २२८, टि०; नीचे पृ० १८१ टि० २।

२. सच पूछिये तो सब ध्यान और आरूप्यों के सामन्तक अनागम्य कहला सकते हैं क्योंकि वे मौलसमापत्ति में प्रवेश नहीं कर सकते और क्योंकि उनसे क्लेशों का प्रहाण होता है। किन्तु संघभद्र कहते हैं कि अनागम्य नाम का प्रयोग केवल प्रथम ध्यान के सामन्तक के लिए होता है यह दिखाने के लिए कि यह सामन्तक दूसरों से भिन्न है। योगी किसी समापत्ति की अवस्था में प्रवेश करने से पहले इसका उत्पाद करता है और वहाँ वह आस्वादन नहीं करता। अन्य सामन्तकों का उत्पाद पूर्व समापत्ति के बल पर होता है; वहाँ आस्वादन समुत्पत्ति का सद्भव है [वसुबन्धु की व्याख्या से इसका सामञ्जस्य नहीं मालूम होता]। विभाषा कहती है—"इसे अनागम्य कहते हैं क्योंकि यह मौलभूमि में आगमन किये बिना (अन-आगम्य) उत्पन्न होता है। क्योंकि मौलभूमि के गुण उसमें नहीं पाये जाते हैं।

३. यह कहकर कि सामन्तक पथ से अधोभूमि वैराग्य होता है।—परमार्थ के अनुसार—व्याख्या भाष्य के पहले पद को समझाती है : अष्टास्वपि ध्यानारूप्येषु यस्य यत् सामन्तकं तस्य तेन सामन्तकचित्तेन क्लिष्टेनासमाहितेन सन्धिबन्ध इत्येष सिद्धान्त इत्यत इदम् उच्यते यद्यपि सामन्तकचित्तेनेति विस्तरः।—ध्यानोत्पत्ति का प्रथम चित्त उपपत्तिभव (३.३८) इस ध्यान के सामन्तक में संगृहीत होता है। यह इस ध्यान की भूमि के सब क्लेशों से क्लिष्ट होता है।

४. विभाषा, १४०,१—कुछ का कहना है कि सामन्तक भूमियों में इसका यह फल होता है कि ऊर्ध्वभूमियों में प्रीति होती है क्योंकि सूत्र का वचन है कि प्रीति का आश्रय ले दौर्मनस्य का प्रहाण होता है। दूसरे ग्रन्थों के अनुसार—"प्रथम ध्यान के सामन्तक की प्रीति में गति होती है और वह मौल ध्यान की प्रीति के समान नहीं होती···आगे के दो सामन्तकों में सुख होता है।" विभाषा, १६४,५—दार्ष्टान्तिकों का कहना है कि सामन्तक केवल शुभ होते हैं। हम कहते हैं कि वे शुभ, क्लिष्ट, अव्याकृत होते हैं।

५. युआन-चाङ् इतना अधिक जोड़ते हैं—"क्योंकि जो मौल ध्यान का उत्पाद नहीं करता, वह सामन्तक में भी आसक्त होता है।"—व्याख्या—अनागम्य की पटुता के पटुत्व के कारण यह अनास्रव हो सकता है। यह आस्वादना संप्रयुक्त भी हो सकता है। यह अभिप्राय है। संघभद्र कहते हैं कि—मौलप्रतिस्पर्धित्वाद् आस्वादन समापत्ति सद्भावात्।

क्या ध्यानान्तर सामन्तक से भिन्न है या भिन्न नहीं है ? यह उससे भिन्न है। वास्तव में सामन्तक अधोभूमि वैराग्य का द्वार है; ध्यानान्तर में ऐसा नहीं है।

इसके अतिरिक्त

२२ डी. ध्यानान्तर अवितर्क है।[1]

प्रथम मौल ध्यान और प्रथम सामन्तक वितर्क विचार से संप्रयुक्त होते हैं। सात ऊर्ध्व समापत्तियों में (अपने सामन्तकों के सहित मौल) न वितर्क होता है, न विचार। केवल ध्यानान्तर विचार से समन्वागत होता है।

[१८१] किन्तु अवितर्क होता है, फलतः प्रथम ध्यान से विशिष्ट और द्वितीय से अधर होता है। इसलिए इसे ध्यानान्तर कहते हैं।[2]

क्योंकि मौलभूमि के गुण इसमें नहीं पाये जाते, कोई ध्यानान्तर नहीं होता क्योंकि अन्य भूमियों के प्रथम के समान विशेष का अभाव है (विशेषाभावात्)।[3]

---

१. =अतर्क ध्यानम् अन्तरम्।

पालि ग्रन्थों में, प्वाइन्ट्स आव कान्ट्रोवर्सी, पृ० ३२६ (साइकालोजिकल ईथिक्स, पृ० ४३, ५२, थेरगाथा, ९१६, एक दूसरी पञ्चविक समाधि के साथ); कोश, ८.२ ए-बी, पृ० १३३, २३ सी।

ध्यानान्तर और सम्मितीय तथा अन्धकों के वाद पर कथावत्थु १८.७ देखिये।

२. शुआन-चाङ् के अनुसार—परमार्थ : यह ध्यान वितर्क से असंप्रयुक्त है। इसे ध्यानान्तर कहते हैं क्योंकि यह दो ध्यानों से भिन्न है। क्योंकि यह प्रथम ध्यान से विशिष्ट है, इसलिए यह प्रथम ध्यान में नहीं रक्खा जाता। यह द्वितीयादि में भी नहीं व्यवस्थापित होता क्योंकि विशेष का अभाव है।"

हम सन्देह कर सकते हैं कि चीनी अनुवादक अर्थ समझे हैं या नहीं।

व्याख्या : भाष्य में है—ध्यानविशेषत्वात्, अर्थात् "प्रथम मौलध्यान को वितर्क के अवगम से अधिक विशिष्ट होना चाहिए और इसलिए उसे ध्यानान्तर कहते हैं।"=तद् एव मौलं प्रथमं ध्यानं वितर्कापगमाद् विशिष्टं ध्यानान्तरम् उच्यत इत्यर्थः।

३. विशेषाभावात्=यथा प्रथमे ध्याने विशेषो भवति क्वचिद् वितर्कविचारौ क्वचिद् विचार एवेति न तथा द्वितीयादिषु इति। अतो [द्वितीयादिषु] ध्यानेषु न व्यवस्थाप्यते ध्यानान्तरम्।

संघभद्र वसुबन्धु के वचन को उद्धृत करते हैं (शुआन-चाङ् का भाषान्तर) और अनागम्य तथा ध्यानान्तर पर उपयोगी व्याख्या देते हैं। हम इनको परिच्छेदों में विभक्त करते हैं—(ए) अर्थात् ध्यानान्तर जो प्रथम ध्यान में संगृहीत है, उससे इस बात में भिन्न है कि इसमें वितर्क की कमी होती है। ऊर्ध्वभूमि में (द्वितीय ध्यानादि में) वह कौन से धर्म हैं जिनका ग्रहण ध्यानान्तर को उत्पन्न करेगा। इसलिए प्रथम ध्यान में, न कि ऊर्ध्वभूमि में ध्यानान्तर होता है। (बी) सूत्र का क्या यह वचन नहीं है कि सात समापत्ति—अर्थात्

[१८२] यह कितने प्रकार का है ? इसमें कौन वेदना होती है ?

२३ ए. तीन प्रकार की उपेक्षावेदना[1] ।

यह आस्वादना संप्रयुक्त शुद्धक अनास्रव हो सकता है ।—सामन्तक समापत्तियों के समान इसकी वेदना न-दुखा-न-सुखा होती है क्योंकि यह उपेक्षेन्द्रिय से संप्रयुक्त होता है (४.४८) । यह अभिसंस्कारवाही[2] है और इसलिए सौमनस्य से संप्रयुक्त नहीं हो सकता है । इसलिए उसे दुःखाप्रतिपद (६.६६) मानते हैं ।

ध्यानान्तर का क्या फल है ?

चार ध्यान और प्रथम तीन आरूप्य [अनास्रव प्रज्ञा के गुणों के, ८.२० ए, २७ सी] आश्रय हैं ? आप यह कैसे सिद्ध करते हैं कि इनके अतिरिक्त एक अनागम्य एक ध्यानातर है ? (सी) आगम और युक्ति हमको मालूम है कि अनागम्य हैं । सूत्र वचन है : "जो प्रथम ध्यानादि में प्रवेश नहीं कर सकता और सम्पन्न हो वहाँ विहार नहीं कर सकता, वह आर्य या अनास्रव प्रज्ञा से इस दृष्टधर्म में अनास्रव क्षय का लाभ करता है ।" अनागम्य नहीं है तो इस प्रज्ञा का आश्रय क्या हो सकता है ?

इसके अतिरिक्त सुशीलसूत्र (?) का वचन है—"एक प्रज्ञाविमुक्त (६.६४) होता है जिसने मौलध्यान (असली ध्यान) का लाभ नहीं किया है ।" क्या यह सच नहीं है कि योगी ध्यान का आश्रय ले प्रज्ञा द्वारा विमुक्ति का लाभ करता है ? [इसलिए एक ध्यान है जो मौल नहीं है, अर्थात् सामन्तक ध्यान, अनागम्य ।—अनागम्य के मिश्र स्वभाव पर देखिये ३.३५ डी] ।

(डी) ध्यानान्तर सम्बन्ध में सूत्र वचन है कि सवितर्क सविचार आदि (८.२३ सी) तीन समाधि हैं । सूत्र का कहना है कि प्रथम ध्यान में वितर्क और विचार होता है और द्वितीयादि ध्यानों में वितर्क और विचार का व्युपशम होता है । यदि ध्यानान्तर न होता तो कौन समाधि से विचार और प्रवितर्क होती ? क्योंकि चित्त-चैत्तों का व्युपशमशनैः-शनैः होता है इसलिए सविचार अवितर्क ध्यान की सम्भावना है ।

इसके अतिरिक्त ध्यानान्तर से अन्यत्र क्या है जो लोक के अधिपति महाब्रह्मा (कोश, ८.२३ बी) को उत्पन्न करता है ? (ई) बुद्ध अनागम्य और ध्यानान्तर की बात नहीं करते—इसका कारण यह है कि दोनों प्रथम ध्यान में संगृहीत हैं । प्रथम ध्यान का निर्देश कर वह इनका भी निर्देश करते हैं । (एफ) प्रथम सामन्तक को अनागम्य कहते हैं क्योंकि दूसरों से विविक्त करता है । इस प्रथम सामन्तक में प्रवेश करने से पूर्व ध्यान की उत्पत्ति नहीं होती । (ऊपर देखिये ६.४४ डी, पृ० २२८) ।

१. अभिसंस्कारवाह्य; देखिये ४.७८ सी, पृ० १६८ (वहति=गच्छति), ६.६६ ए, ७१ डी ।

२. देखिये २.४१ डी ।

२३ बी. महाब्रह्मा इसका फल है।[1]

जो कोई इस समापत्ति का अनन्त अभ्यास करता है, वह महाब्रह्मा होता है। हमने समापत्तियों का निर्देश किया है।[2] समाधि क्या है?

[१८३] सूत्र[3] का वचन है कि समाधि तीन प्रकार की है—१. सवितर्क और सविचार समाधि; २. अवितर्क सविचार समाधि; ३. अवितर्क अविचार समाधि।

ध्यानान्तर अवितर्क सविचार समाधि है। ध्यानान्तर के लिए जब तक वहाँ नहीं पहुचने,

२३ सी-डी. सवितर्क-सविचार समाधि होती है; उसके आगे दोनों से रहित समाधि।[4]

---

१. यह परमार्थ में नहीं है। शुआन-चाङ्—समापत्ति (१३३), समाधि=(धर)।

२. विभाषा (१७२, ६) समाधि और समापत्ति में क्या अन्तर है? इस प्रकार मतभेद है। समाधि का अर्थ क्षणिक ध्यान से है। समापत्ति प्राबन्धिक ध्यान है। समाधि में सदा चित्त होता है; वह सचित्तक है; वह चित्त समाहित या व्यग्र (या विक्षिप्त, १.३३ सी-डी) होता है। समापत्ति (२.४४ डी, पृ० २१३) चित्त-सहगत या अचित्तक होती है (उदाहरण के लिए असंज्ञिसमापत्ति और संज्ञावेदितनिरोध समापत्ति)। इसलिए तीन: (१) केवल समाधि व्यग्रचित्त से संप्रयुक्त सदृश ध्यान [असमाहित चित्त कैसे समाधि में होता है, इसे ठीक तरह नहीं समझते; ऊपर देखिये पृ० १२८, टि० ३; किन्तु यह निश्चित है कि कामधातु का चित्त समाधि में हो सकता है, ८.२५ ए, आदि]; २. केवल समापत्ति, अचित्तक अवस्थायें; ३. समाधि और समापत्ति—प्रत्येक समाहित चित्त की अवस्था।—शमथ, चित्त-सहगत अवस्था, समाहित चित्त-सहगत अवस्था। आठवें कोशस्थान के एक मागत संग्रह का कहना है कि इसमें १. ध्यान; २. आरूप्य; ३ समापत्ति (समाहित सचित्त या अचित्त, देखिये २.४४ डी, पृ० २१३); ४. समाधि अर्थात् मुख्य समाधि, शून्यतासमाधि (८.२४) का वर्णन है।

३. मध्यम, १७, २२, दीर्घ, ६,२, संयुक्त, १८, २५; दीघ, ३.२१६, २७४, मज्झिम, ३.१६२, संयुत्त, ४.३६३, अंगुत्तर, ४.३००, कथावत्थु, ६.८ और अनुवाद, पृ० २३६, टिप्पणी; अन्यत्र केवल सवितर्क-विचार और अवितर्क-विचार का उल्लेख है, संयुत्त, ५.१११ आदि। [परिचित्तज्ञान में अवितर्क-अविचार का कारित्र, दीघ, ३.१०४]।—कम्बैंडियम, इन्ट्रोडक्शन, ५८, विसुद्धिमग्ग, १६६।

विभाषा, १५५,६—दार्ष्टान्तिकों का मत है कि यावद्भवाग्र वितर्क-विचार रहता है।

४. वितर्क-विचार पर, पृ० १३३, टि० १ देखिए।

प्रत्येक समाधि जो ध्यानान्तर के नीचे होती है, "सवितर्क-सविचार" कहलाती है। प्रथम ध्यान और प्रथम ध्यान संनिश्रित अन्य समाधि का प्रश्न है।[1]

ध्यानान्तर से ऊर्ध्व प्रत्येक समाधि "अवितर्क-अविचार" है, द्वितीय ध्यान के सामन्तक से चतुर्थ आरूप्य तक।

[१८४] सूत्र[2] का उपदेश है कि तीन समाधि हैं। इनका नाम शून्यतासमाधि, आनिमित्तिसमाधि, अप्रणिहितसमाधि है।

---

१. शुआन-चाङ्—"प्रथम ध्यान और उसके सामन्तक का प्रश्न है।"

२. दीघ, ८,१२; एकोत्तर, १६,१५, ४१,१६; दीघ ३.२१६ : सुञ्ञतो समाधि, अनिमित्तो समाधि, अप्पणिहितो समाधि; धम्मसंगणि, ३४४, ५०५; विभंग, प्रोफेस, पृ० १८; अत्थसालिनी, २२१ और आगे; सूत्रालंकार, १८.७७-७६। अंगुत्तर, ३.३६७, अनिमित्त चेतोसमाधि। नीचे पृ० १८७, टि० २। ए. विभाषा, १०४,६—समाधि अनेक हैं; यह आप क्यों कहते हैं कि समाधि तीन हैं? प्रतिपक्ष दृष्टि से, आशय दृष्टि से, आवलम्बन दृष्टि से— शून्यता समाधि "सत्कायदृष्टि" का प्रतिपक्ष है; क्योंकि वह शून्यानात्मकार से द्रव्यों का विचार करता है, यह आत्म आत्मीय आकारों का प्रतिपक्ष है; २. अप्रणिहित समाधि वह समाधि है जिसमें तीन धातुओं के (या भव, विभव, १.८ सी) किसी भी धर्म के विषय में आशय प्रणिधान नहीं होता। मार्ग के विषय में प्रणिधान का सर्वथा अभाव नहीं होता। किन्तु, यद्यपि मार्ग भव संनिश्रित है, तथापि मार्ग-विषयक आशय का भव से कोई सम्बन्ध नहीं होता; ३. आनिमित्त समाधि का आलम्बन रूप शब्द आदि निमित्तों से विमुक्त होता है।—दूसरों के अनुसार तीन समाधि क्रम से सत्यकायदृष्टि, शीलव्रत और विचिकित्सा के प्रतिपक्ष हैं।

बी. बोधिसत्त्वभूमि, आगे १०६ ए, समाधियों का निम्न क्रम देती है—शून्यता, अप्रणिहित, आनिमित्त और इन पदों की व्याख्या वसुबन्धु से बहुत भिन्न है।

तत्र कतमो बोधिसत्त्वस्य शून्यतासमाधिः। इह बोधिसत्त्वस्य सर्वाभिलापात्मकेन स्वभावेन विरहितं निरभिलाप्यस्वभावं वस्तु पश्यतः या चित्तस्य स्थितिः अयम् अस्योच्यते शून्यतासमाधिः। अप्रणिहितसमाधिः कतमः। इह बोधिसत्त्वस्य तद् एव निरभिलाप्यस्वभावं वस्तु मिथ्याविकल्पसमुत्थापितेन क्लेशेन परिगृहीतत्वाद् अनेकदोषदुष्टं समनुपश्यतो या आयत्यां तत्राप्रणिधानपूर्विका चित्तस्थितिरयं अस्याप्रणिहितसमाधिरित्युच्यते। आनिमित्तसमाधिः कतमः। इह बोधिसत्त्वस्य तद् एव निरभिलाप्यस्वभावं वस्तु सर्वविकल्पप्रपञ्चनिमित्तान्यपनीय यथाभूतं शान्ततो मनसि कुर्वतो या चित्तस्थितिरयम् अस्योच्यते आनिमित्तसमाधिः।

द्वितीय समाधि संस्कृत को अधिकृत करके होती है; उसके लिए चित्तस्थिति अप्रणिधानपूर्वक होती है; तृतीय समाधि निर्वाण को अधिकृत करके, जो प्रणिधान का आलम्बन है, होती है; प्रथम असत् आत्म-आत्मीय को अधिकृत करके होती है। इस असत् के लिए योगी प्रणिधान-अप्रणिधान नहीं करता, किन्तु उसे केवल शून्यवत् मानता है।

२४ ए. आनिमित्त में शम के आकार हैं।[1]

[१८५] निरोध सत्व के आकारों से संप्रयुक्त समाधि—अर्थात् वह समाधि जिसमें योगी निरोध का चिन्तन करता है, आनिमित्त समाधि कहलाती है। इस समाधि के इसलिए चार आकार हैं।[2]

इसका यह नाम क्यों पड़ा?—क्योंकि दस निमित्तों से विमुक्त होने के कारण निर्वाण या निरोध आनिमित्तक कहलाता है। जिस समाधि का आलम्बन निर्वाण है, वह इसलिए आनिमित्त कहलाती है।[3] दस निमित्त लक्षण या स्वभाव इस प्रकार हैं—(ए) पाँच बाह्य आयतन इन्द्रिय विज्ञानों के विषय रूप शब्दादि; (बी.) पुरुषेन्द्रिय स्त्रीन्द्रिय; (सी) तीन संस्कृतलक्षण (२.४५) जाति, स्थिति जरा-मरण।

२४ बी-सी. शून्यता के शून्य और अनात्म आकार हैं।[4]

शून्य-अनात्म इन दो आकारों से संप्रयुक्त समाधि को शून्यतासमाधि कहते हैं। इसलिए इसके दो आकार हैं, दुःख सत्य के अन्तिम दो आकार।

२४ सी-डी. अप्रणिहित सत्य के अन्य आकारों से युक्त है।[5]

अप्रणिहित उस समाधि को कहते हैं "जो अन्य आकारों का हो सकता है", दस आकारों का ग्रहण करती है।

एक ओर अनित्य-दुःखाकार (दुःख सत्य के प्रथम दो आकार) और समुदय सत्य के चार आकार...

[१८६] जो उद्वेग उत्पन्न करते हैं[6]; दूसरी ओर, मार्ग के चार आकार, क्योंकि मार्ग कोलोपम है और अवश्यमेव त्याज्य है।[7]

---

१. ठीक अर्थ यह होगा—"आनिमित्त में शम के आकार होते हैं" [हम यह अनुवाद करने का साहस करते हैं—आनिमित्तः शमाकारः], और न कि—"आनिमित्त का आकार शान्त है"—आनिमित्तः शान्ताकारः।

शम=निरोध=निर्वाण के चार आकार हैं—निरोध, प्रणीत, शान्त, निःसरण, ७.१३ ए।

२. शुआन-चाङ्—"इस समाधि में निरोध के चार आकार हैं; निरोध शम [या शान्त] कहलाता है।"

३. आनिमित्त, नाम और विशेषण पर, वोगिहारा, बोधिसत्त्वभूमि, पृ० १६-२०, निमित्त पर कोश, २-१४ सी देखिये।

४. =[शून्यतानात्मशून्यतः। प्रवर्तते]

हीनयान के शून्य का अध्ययन करना चाहिए।

५. अप्रणिहितस्तदन्यसत्याकारवान्।

६. अनित्यदुःखतद्धेतुभ्य उद्वेगात्।

७. मार्गस्य कोलोपमतयावश्यत्याज्यत्वात्।

जो समाधि इन दस आकारों का ग्रहण करती है, वह अनित्य, दुःख, समुदय और मार्ग[1] के अतिक्रम के अभिमुख है, इसलिए उसे अप्रणिहित कहते हैं क्योंकि वह प्रणिधान से रहित है, यह अकृत संस्कार है।

इसके विषय में आनिमित्त समाधि के आलम्बन चतुराकार निर्वाण का प्रहाण न होना चाहिए; और शून्यता समाधि के आलम्बन, शून्य और अनात्म्य जो दुःख सत्य के अन्तिम दो आकार हैं, निर्वाण से उद्वेग उत्पन्न नहीं करते क्योंकि यह दो आकार निर्वाण और संस्कृत दोनों के समान हैं।

यह तीन समाधि दो प्रकार की हैं।

२५ ए. शुद्धक या अमल।[2]

[१८७] लौकिक शुद्धक होती है, लोकोत्तर अमल अर्थात् अनास्रव होती है। लौकिक समाधि ग्यारह भूमियों में होती है; लोकोत्तर उन भूमियों में होती है जहाँ मार्ग है।[3]

देखिए १.७ सी-डी (पृ० १२, टि० ५)

मज्झिम, १·१३५—······एवम् एव खो भिक्खवे कुल्लूपमो मया धम्मो देसितो नित्थरणत्थाय नो गहणत्थाय। कुल्लूपमं वो भिक्खवे आजानन्तेहि धम्मा पि वो पहातब्बा पाग् एव अधम्मा।

वज्रच्छेदिका, पृ० २३—······न खलु पुनः सुभूते बोधिसत्त्वेन महासत्त्वेन धर्म उद्ग्रहीतव्यो नाधर्मः। तस्माद् इयं तथागतेन संधाय वाग् भाषिता। कोलोपमं धर्मपर्यायम् आजानद्भिर्धर्मा एव प्रहातव्याः प्राग् एवाधर्मा इति।

बोधिचर्यावतार, ९.३३: अधिगत उपेये पश्चात् कोलोपमत्वाद् उपायस्यापि प्रहाणम्।

तुलना कीजिए सुत्तनिपात, २२ "भिसी (वृषी) से मैंने नदी को उत्तीर्ण किया है, मैं पार जाता हूँ, वृषी का और कोई प्रयोजन नहीं है।"

संयुत्त, ४.१७४-१७५, मग्ग कोल है, किन्तु यह नहीं कहा गया है कि उसका परित्याग करना चाहिए।

वज्रच्छेदिकाटीका (तञ्जुर Mdo, १६ २३७ बी) रत्नकरण्ड से उद्धृत करती है—कोलोपमं धर्मपर्यायम्······प्राग् एवाधर्माः, यह वाक्य इन शब्दों से समाप्त होता है—ये धर्माः प्रहातव्या न ते धर्मा नाप्यधर्माः।

भिन्न स्थलों में धर्म और अधर्म का प्रयोग किस अर्थ में हुआ है, इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

१. तदतिक्रमाभिमुखत्वात्।

२. =[शुद्धका अमलाश्चैते]—देखिये ८.५।

३. कामधातु, भवाग्र, वर्जितकर द्वितीयादि सामन्तक।

२५ बी. अमलसमाधि, तीन विमोक्षमुख हैं।[1]

जब वे अनास्रव होती हैं, तब वे विमोक्षमुख (विमोक्ष का द्वार) कहलाती हैं क्योंकि वे मोक्ष या निर्वाण का द्वार हैं। यह तीन विमोक्षमुख इस प्रकार हैं—शून्यताविमोक्षमुख, आनिमित्तिविमोक्षमुख, अप्रणिहितविमोक्षमुख।

२५-डी. तीन और समाधि भी हैं, इन्हें शून्यताशून्यादि कहते हैं।[2]

[१८८] यह शून्यताशून्यतासमाधि, अप्रणिहिताप्रणिहितसमाधि आनिमित्ता-

---

१. पटिसंभिदामग्ग, २.३५—तयो मे भिक्खवे विमोक्खा सुञ्ञतो विमोक्खो अनिमित्तो विमोक्खो अप्पणिहितो विमोक्खो; वही, २.६७। —धम्मसंगणि, ३४४, अत्थसालिनी, २२३, विसुद्धिमग्ग, ६५८ (कम्पेंडियम, २११, २१६); नेत्तिप्पकरण, ९०, ११९, १२६; मिलिन्द, ४१३।

महाव्युत्पत्ति, ७३, तीन विमोक्षमुख, शून्यता, अनिमित्तम्, अप्रणिहितम्; मध्यमकवृत्ति, २४६—त्रीणि विमोक्षमुखानि शून्यतानिमित्ता—प्रणिहिताख्यानि विमुक्तये विनेयेभ्यो भगवता निर्दिष्टानि······; मध्यमकावतार, ३१९; देव, चतुःशतिका, पृ० ४९७; बोधिसत्वभूमि, १, १७, १४ (निरोधसमापत्ति के साथ, तीन विमोक्ष बुद्ध के अर्थविहार कहलाते हैं।)

२. = [शून्यताशून्यतेत्याद्यन्यत् समाधित्रयम् पुनः ॥]

एकोत्तर, २६, ५ के अनुसार,

क्योंकि यह शून्यशून्य हैं, इसलिए और शुआन-चाङ् इन समाधियों को कोश समाधि पौनः पौन्येन अभ्यस्त उपचित समाधि कहते हैं।

इन समाधियों के सिद्धान्त के पीछे जो भाव कार्य करता है, उसे संघभद्र ने स्पष्ट रूप से समझाया है—"जिस प्रकार चिता का काष्ठ शरीर को जलाकर स्वयं नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार जब शून्यतासमाधि क्लेशों का नाश कर लेती है, तब योगी (पूर्व शून्यतासमाधि से) वैराग्य प्रहाण लाभ के लिए पुनः शून्यतासमाधि का लाभ करता है।"

विभाषा (१०५, ५) समाधियों का उल्लेख करती है—१. किस क्षण में इनकी प्राप्ति होती है? एक मत के अनुसार दर्शनमार्ग में जब अभिसमयान्तिक (७.२१ ए) का लाभ होता है; दूसरे मत के अनुसार, भावनामार्ग में जब विरक्त आर्य निर्माण चित्त (७.४९ सी) का लाभ करता है; तीसरे मत के अनुसार (आम्नाय का मत) क्षयज्ञान के क्षण (६.४४ डी) क्योंकि इस क्षण में योगी तीन धातुओं के सब शुभ सास्रव धर्मों की भावना करता है। (७.२६ सी). २. क्या बिना यत्न के इनकी प्राप्ति होती है? ३. किन ज्ञानों के अनन्तर? ४. किन भूमियों के द्वारा (८.२७ बी)? ५. किस आश्रय से (८.२७ ए)? ६. वे किन आकारों से आकरण करते हैं?

निमित्तसमाधि कहलाती है, क्योंकि इसका आलम्बन—जैसा कि हम बतायेंगे—क्रम से शून्यतासमाधि, अप्रणिहित, आनिमित्त है ।

२६ ए-बी. प्रथम दो आलम्बन शून्याकारतः और अनित्याकारतः अशैक्ष हैं ।[1]

उनका आलम्बन अशैक्षकी समाधि है, अर्थात् अर्हत् द्वारा सम्मुखीकृत (देखिये ८.२७ ए) शून्यतासमाधि और अप्रणिहितसमाधि उनका यथासंख्य आलम्बन है । शून्यताशून्यतासमाधि शून्यतासमाधि को, जो धर्मों को शून्य और अनात्म मानती है, अनात्माकारेण नहीं[2] शून्यताकारेण आलम्बन बनाती है, क्योंकि अनात्म दर्शन वैसा उद्वेग नहीं उत्पन्न करता जैसा शून्य दर्शन उत्पन्न करता है ।[3]

[१८६] अप्रणिहिताप्रणिहितसमाधि का आलम्बन अशैक्षकी अप्रणिहित समाधि है जो अनित्य, दुःखादि (८-२४सी) दस आकार से द्रव्यों का आकरण करती है । यह उसको अनित्याकार से ग्रहण करती है । यह उसका आकरण दुःखतः नहीं करती और न हेतुतः-समुदयतः-प्रत्ययतः-प्रभवतः करती है क्योंकि अप्रणिहित समाधि अनास्रव होने से न दुःख है, न हेतु है; यद्यपि अप्रणिहित समाधि है, तथापि अप्रणिहिताप्रणिहित उसका अब और मार्ग-न्याय-प्रतिपद-नैर्यायिक आकार से आकरण नहीं करता, क्योंकि योगी का उद्देश्य अप्रणिहित समाधि से अपने को अद्विग्न करता है ।[4]

---

१. =[द्वयम् आलम्बतेऽशैक्षम्] शून्यतश्चाप्यनित्यतः ।

२. शून्याकारेण अशैक्षं शून्यतासमाधिम् आलम्बते ।

३. व्याख्या : निःसन्देह किसी शास्त्र या विभाषा से उद्धृत करती है—आह । किम् अत्र कारणं यच्छून्यताशून्यतासमाधि शून्यताकार एव न पुनरनात्माकारोऽपि शून्ययतावद् इति । अत्रोच्यते । शून्यताकारप्रवृत्तशून्यतापृष्ठोत्पाद्यत्वात् । आह । किम् अर्थं पुनः शून्यताकारप्रवृत्तशून्यतापृष्ठेनोत्पत्तिर् न पुनर् अनात्माकारप्रवृत्तशून्यतापृष्ठेनेति । अत्रोच्यते । तदुत्पत्त्यनुकूल्यात् । स एव हि शून्यताकारः शून्यतासमाधिस्तस्य शून्यताशून्यतासमाधेर् उत्पत्ताव् अनुकूल्येनावतिष्ठते नामात्मकारः । न हि एवम् अनात्मदर्शनम् उद्वेजयति यथा शून्यतादर्शनम् । दृष्टेषु हि अनात्मतो भवेष्वभिरतिरस्ति संसारे शून्यतादर्शनाभावात् । तद्यथाध्वगस्यासंबाधाध्वदर्शनाद् अपि प्रीतिः । एकाकिनस्तु तच्छून्यत्वाद् अप्रीतिर् इति । तद्वत् ।

शून्यताशून्यतासमाधि उस शून्यतासमाधि के पृष्ठों में उत्पन्न होती है जो शून्यता के आकार में प्रवृत्त होती है, न कि उसके पृष्ठ में जो अनात्म के आकार में प्रवृत्त होती है । शून्यता अनात्मता की अपेक्षा अधिक उद्विग्न करती है जिन्हें अनात्मतः देखा है, उन भावों में अभिरति बनी रहती है । जिस प्रकार एक पथिक असंबाध मार्ग को देखकर प्रसन्न होता है (असम्बाध; पोथी में असम्बन्ध), किन्तु एकाकी होने से उसमें अप्रीति उत्पन्न होती है क्योंकि मार्गशून्य है ।

४. दूषणीयत्वात्—व्याख्या : सोऽशैक्षसमाधिर् दूषयितव्य इति ।

२६ सी-डी. आनिमित्तानिमित्त का आलम्बन असंख्याक्षय है और वह उनको शान्ताकार से ग्रहण करता है।[1]

अर्थात् आनिमित्तानिमित्तसमाधि का आलम्बन आनिमित्तसमाधि[2] का प्रतिसंख्या-निरोध—वह निरोध जो प्रज्ञावश प्राप्त नहीं होता; और यह इस निरोध का आकरण शान्ताकार से करता है······

[१६०]—शान्तोऽयमिति = "यह निरोध शान्त है।"

इसका आलम्बन आनिमित्तसमाधि का प्रतिसंख्यानिरोध—"प्रज्ञावश लब्ध निरोध नहीं है"—क्योंकि यह समाधि अनास्रव है और अनास्रव का प्रतिसंख्यानिरोध नहीं होता।[3]

---

१. = [आनिमित्तानिमित्तस्तु शान्ततो]ऽसंख्याया क्षयम्—देखिये ८३५ बी-डी।

२. अनिमित्तसमाधि के दो निरोध हैं।

ए. अनित्यतानिरोध [या स्वलक्षणनिरोध या स्वरसनिरोध] (१.२० ए, अनुवाद पृ० ३५, २.४५ सी) —विनाश सब संस्कृतों का धर्म है।

बी. अप्रतिसंख्यानिरोध पर देखिये (१.५ सी, ६ सी-डी २.५५ डी, पृ० २७६)। यहाँ निरोध शब्द का अनुवाद विनाश करना यथार्थ नहीं है, किन्तु इसका अर्थ क्या है, यह कहना असम्भव नहीं है। जब अर्हत् आनिमित्तसमाधि से व्युत्थान करता है, तदन्तर उसमें सास्रव या अनास्रव चित्तक्षणों का उत्पाद होता है जो उस समाधि के नहीं हैं; यदि इन चित्तक्षणों का उत्पाद नहीं हुआ होता तो आनिमित्त समाधि के नवीन क्षण हुए हों तो जिस क्षण में इन अन्य चित्तों का उत्पाद होता है, उस समय अर्हत् आनिमित्तसमाधि के लक्षणों के अप्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति करता है। प्रत्ययों की विकलता के कारण नये आनिमित्त क्षणों की उत्पत्ति नहीं होती।

व्याख्या—कथं तस्य [आनिमित्तसमाधेः] अप्रतिसंख्यानिरोधः। अशैक्षाद् आनिमित्तात् समाधेः व्युत्थितस्य तदनतरं ये सास्रवाः क्षणा अतिक्रामन्त्यन्ये वानास्रवा (स) यदि ते नोत्पन्नाः स्युः अशैक्षा आनिमित्तक्षणा उत्पन्नाः स्युः। तेषां सास्रवाणाम् अन्येषाम् अनास्रवाणां वोत्पत्तिकाले तेषाम् अशैक्षाणाम् आनिमित्तक्षणानाम् अप्रतिसंख्यानिरोधो लभ्यते प्रत्ययवैकल्यात्। तम् अप्रतिसंख्यानिरोधम् आलम्बते शान्ताकारेण। इसलिए आनिमित्ता-निमित्तसमाधि आनिमित्तसमाधि के अप्रतिसंख्यानिरोध को आलम्बन बनाती है क्योंकि यह निरोध इस समाधि का प्रत्यर्थी है (तत्प्रत्यर्थिकभूतत्वात्) और योगी इस समाधि के लिए विदूषण की अभिलाषा करता है (विदूषणम् अभिलषन्)।

३. जैसा हमने १.६ सी में देखा है—प्रतिसंख्यानिरोध वह निरोध है जिसकी प्राप्ति प्रतिसंख्या नामक प्रज्ञा द्वारा होती है।

व्याख्या—अप्रतिकूलत्वात्। यद् धि प्रतिकूलम् आर्याणां तत्संयोगविसंयोगाय यतन्ते। विसंयोगश्च प्रतिसंख्यानिरोधः।

अनास्रव धर्म अहेय है, १.४० ए (पृ० ७६)।

निरोध, शान्त, प्रणीत और निःसरण (७.१३ ए) इन चार आकारों से प्रतिसंख्या-निरोध का आकार हो सकता है। इसमें से केवल शान्त आकार यहाँ उपयुक्त है।[१]— वास्तव में निरोध लक्षण अप्रतिसंख्यानिरोध और अनित्यतानिरोध[२] दोनों को साधारण हैं · अप्रतिसंख्या निरोध प्रणीत नहीं, क्योंकि यह अव्याकृत[३] है, यह निःसरण नहीं है क्योंकि यह क्लेश विसंयोग नहीं है।[४]

[१९१] यह तीन समाधि केवल

२७ ए. "सास्रव है"[५]

क्योंकि वे आर्यमार्ग से हेय करते हैं [—वे शून्यतादि आकारों से आकरण कर तद्विमुख होते हैं]। किन्तु अमल अनास्रव धर्म ऐसे नहीं होते। कौन इनका अभ्यास करते हैं?

---

१. संघभद्र—"शान्त (लक्षण या आकार) केवल निरोध (श्वासनिग्रह) को सूचित करता है, इसलिए अप्रतिसंख्यानिरोध का शान्त लक्षण है। आर्यमार्ग का दीर्घ अभ्यास (जो शून्यता, अप्रणिहित, आनिमित्तसमाधि में परिसमाप्त होता है) आयासजनक है, इस-लिए उसके निरोध के लिए योगी सुखोत्पाद (सुखलक्षण) करता है।

२. यदि योगी आनिमित्तसमाधि के अप्रतिसंख्यानिरोध का आकरण निरोधाकार से करता होता तो वह उसे शान्ताकार से अवधारित करता। वह एक ऐसे प्रकार से उसका आकरण करता जो उसे दूषित बना देता और फलतः वह आनिमित्तसमाधि के लिए जुगुप्सा अनुभव न करता।

३. जैसा हमने ४.९ डी में देखा है।

४. अविसंयोगाच्चाप्रतिसंख्यानिरोधस्य न निःसरणाकारेण तम् आलम्बते। संक्लेशवि-[सं] योगो हि संक्लेशनिःसरणम् ईष्यते तस्मान् नाप्रतिसंख्यानिरोधेन संसारनिःसरणं भवति। तथा हि सति अपि अप्रतिसंख्यानिरोधे केषां चित् कुश॰ाकुशलानां धर्माणां तै. सं[प्र]युक्त एव तत्प्राप्त्यविच्छेदात्।

किसी क्लेश का अप्रतिसंख्यानिरोध इस क्लेश से विसंयोग (२.५५ डी) नहीं है। हमारा विचार है कि योगी कुशल या अकुशल धर्म के अप्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति करता है। वह इन धर्म से संप्रयुक्त रहता है क्योंकि उस प्राप्ति का, जो अकेले प्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति का उपच्छेद कर सकती है, विच्छेद नहीं हुआ है। — [एक अच्छा उदाहरण, कोश, ६,२३—क्षान्तिलाभी उन क्लेशों के अप्रतिसंख्यानिरोध की प्राप्ति करता है जिसका प्रतिसंख्यानिरोध केवल दर्शनमार्ग से।]

५. = [सास्रवाः]

आर्यमार्गद्वेषित्वाद् इति। कथं द्विषति। शून्यादिभिः आकारैस्तद्वैमुख्यात्।

२७ ए. मनुष्यों में अकोप्य ।[1]

केवल तीन द्वीपों के पुरुष इनका अभ्यास करते हैं, दो नहीं; केवल अकोप्यधर्मा अर्हत् (६. ५६ ए)

२७ बी. सात सामन्तकों को वर्जित कर ।[2]

इन समाधियों का आश्रय ग्यारह भूमि हैं, अर्थात् कामधातु, अनागम्य, आठ मौल-समापत्ति (सामन्तक समापत्तियों को छोड़कर ध्यान और आरूप्य) और ध्यानान्तर ।

सूत्र वचन है कि समाधिभावना चार हैं—एक समाधि भावना है ।

[१६२] जिसका आसेवन भावना बहुलीकरण करने से दृष्टिधर्म में सुखविहार की प्राप्ति होती है, इत्यादि ।[3]

---

१. = [नृषु अकोप्यस्य]

केवल अकोप्यधर्मन् अर्हत् अपनी तीक्ष्णेन्द्रियों के कारण उनके उत्पादन की सामर्थ्य रखता है, अन्य अर्हत् नहीं । व्याख्या—तेभ्यो दृष्टधर्मसुखविहारत्वाद् आसंगास्पदभूतेभ्यो-ऽशैक्षेभ्यः शून्यतादिसमाधिभ्यो वैमुख्यार्थम् अपरसमाधीन् समापद्यन्ते ।

२. =[सप्तसामन्तवर्जिताः] ।

३. समाधिभावना पर ऊपर पृ० १२८ टि० ३ देखिये; विसुद्धि०, ३७१ ।

व्याख्या सूत्र उद्धृत करती है—अस्ति समाधिभावना आसेविता भाविता बहुलीकृता दृष्टधर्मसुखविहाराय सम्वर्तते । अस्ति······दिव्यचक्षुरभिज्ञाज्ञानदर्शनाय संवर्तते । अस्ति··· ···प्रज्ञाप्रभेदाय संवर्तते । अस्ति······आस्रवक्षयाय सम्वर्तते ।

आसेवित, भावित, बहुलीकृत के अर्थ पर व्याख्या कहती है—आसेविता निषेविता भावनया । भाविता विपक्षप्रहाणतया । बहुलीकृता विपक्षदूरीकरणतया ।—कर्मपथ के सम्बन्ध में ४.८५ ए ।

दीघ, ३.२२२, अंगुत्तर, २.४४—अत्थ आवुसो समाधिभावना भाविता बहुलीकता दिट्ठधम्मसुखविहाराय संवत्तति····· ञाणदस्सनपतिलाभाय···सतिसंपजञ्ञाय······आसवानं खयाय संवत्तति ।

बोधिसत्त्वभूमि में (१,१३ आगे ८२ बी) तीन समाधिभावना के सिद्धान्त में परिवर्तन हुआ है ।

तत्र कतमो बोधिसत्त्वानां ध्यानस्वभावः । बोधिसत्त्वपिटकश्रवण चिंतापूर्वकं यल्लौ-किकं लोकोत्तरं बोधिसत्त्वानां कुशलं चित्तैकाग्र्यं चित्तस्थितिः शमथपक्ष्या वा विपश्यनापक्ष्या वा······तदुभयपक्ष्या वा अयं बोधिसत्त्वानां ध्यानस्वभावो वेदितव्यः । तत्र कतमद् बोधि-सत्त्वानां सर्वध्यानम् । तद् द्विविधं लौकिकं लोकोत्तरं वा । तत् पुनर् यथायोगं त्रिविधं वेदितव्यं दृष्टधर्मसुखविहाराय ध्यानं बोधिसत्त्वसमाधिगुणनिर्हाराय ध्यानं सत्त्वार्थक्रियायै ध्यानम् । तत्र यद् बोधिसत्त्वानां सर्वविकल्पापगतं कायिकचैतसिकप्रश्रब्धिजनकं परमप्रशान्तं

२७ सी-२८. प्रथम शुभध्यान वह समाधि भावना है जिसका फल सुखाविहार होता है, दिव्यचक्षु अभिज्ञा का फलज्ञान दर्शन है; बोधिसत्त्व पिटक प्रायोगिक शुभवासना का फल प्रज्ञा है, चतुर्थ ध्यान की वज्रोपम समाधि का फल आस्रव क्षय है।[1]

[१६३] १. प्रथम शुभध्यान से प्रथम शुद्धक या अनास्रव ध्यान समझना चाहिए। इस ध्यान से योगी दृष्टधर्मसुखविहार[2] की प्राप्ति करता है। इसी प्रकार अन्य तीन ध्यानों को जानना चाहिए।

संपराय सुखविहार इस ध्यान का आवश्यक फल नहीं है क्योंकि जो योगी उससे समन्वागत होता है, उसकी प्रथम ध्यान से परिहाण हो सकती है। वह ऊर्ध्वभूमियों में

मन्यनापगतम् अनासवादितं सर्वनिमित्तापगतं ध्यानम् इदम् एषां दृष्टधर्मसुखविहाराय वेदितव्यम्। प्रतिसंविदाम् अरणाप्रणिधिज्ञानादिनां गुणानां श्रावकासाधारणानाम् अभिनिर्हाराय सम्वर्तते इदं बोधिसत्त्वस्य ध्यानं समाधिगुणाभिनिर्हाराय वेदितव्यं··· ···।

१. परमार्थ के अनुसार चतुर्थपाद—प्रज्ञाप्रभेदाय संस्कारजाः—शुआन-चाङ् के अनुसार—प्रज्ञाप्रभेदाय प्रायोगिकशुभभावना।

हरिवर्मन् का वाद, नन्जियो, १२७४, प्रकरण १५८ अभिधर्म के वाद से बहुत भिन्न है।

२. दृष्टधर्मसुखविहार पर कोश, २.४, ६.४: सी, ५८ बी, ६५ बी (पृ० २७८, टि० ३)। विहार=समाधिविशेष (२. पृ० २०३, टि० ५)

२.४, पृ० ११० के अनुसार दृष्टधर्मसुखविहार पर आज्ञातावीन्द्रिय का अधिकार है और इसलिए अर्हत्व का होना आवश्यक है; यह क्लेशविमुक्ति के प्रीतिसुख का प्रतिसंवेदन है; दूसरे शब्दों में यह सुखविहार निर्वाण का उपभोग (२.६, पृ० ११२) है।

सुखविहार से शान्तविहार पृथक् है। शान्तिविहार निरोधसमापत्ति है (२.४३बी) और निरोध समापत्ति निर्वाण-तुल्य है (शान्त, विमोक्ष, ८. पृ० १४०, मज्झि० १.४७२)।—हम संघभद्र (ऊपर पृ० १५०, टि० १) से सहमत हैं कि 'सुख' शब्द का अर्थ आवश्यक रूप से सुखावेदना नहीं है; किन्तु सुखविहार प्रतिसंवेदन होने के कारण वेदना है।

विभाषा के अनुसार सुखविहार का अर्थ केवल चार मौल शुद्धक या अनास्रव ध्यान से है, सामन्तकभूमि या आरूप्य से नहीं है।

बुद्धघोस के अनुसार अर्हत् (मज्झिम, ३.४ से तुलना कीजिए) चित्तैकाग्रता के साथ सुखपूर्वक दिन व्यतीत करने के लिए (एकग्गचित्ता सुखं दिवसं विहरिस्साम) आठ समापत्तियों (चार ध्यान, चार आरूप्य) की भावना करते हैं और दृष्टधर्म में निरोध निर्वाण प्राप्त कर अस्वत्तक हो एक सप्ताह तक सुखपूर्वक विहार करने के लिए—सत्ताहम् अचित्तका हुत्वा दिट्ठेव धम्मे निरोधं निब्बानं पत्वा सुखं विहरिस्साम (समन्तपासादिका, १.१५६) नवम समापत्ति (संज्ञावेदितनिरोध) की भावना करते हैं।

उत्पन्न हो सकता है। वह निर्वाण को अधिगत कर सकता है। इन तीन अवस्थाओं में संपराय सुखविहार का अभाव होता है।

२. द्वितीय समाधिभावना का फल ज्ञानदर्शन का लाभ है।[1]

---

१. इन शब्दों का अर्थ व्याख्या में समझाया है। मनोविज्ञानप्रयुक्त सविकल्प प्रज्ञा ज्ञान है—यथाकाय दुश्चरित से समन्वागत सत्त्व। इसके विरुद्ध दर्शन चक्षुर्विज्ञान संप्रयुक्त अविकल्पक (अविकल्पिका) प्रज्ञा है (देखिये १.३३ ए-बी, अनुवाद पृ० ६१)।

ज्ञानदर्शन पर कुछ सन्दर्भ :

(१) लौकिक ज्ञानदर्शन

[ए) अतीत प्रत्युत्पन्न अनागत के सम्बन्ध में बुद्ध का असंग अप्रतिहत ज्ञानदर्शन (महाव्युत्पत्ति, ६, कोश ७, पृ० ६६, टि० ४); यह ञाणदस्सन अतिरिक्त है, दीघ, ३.१३४। पूर्वभव ञाणदस्सन की भूमि है, नेत्तिप्पकरण, २८।

बी. योगी आलोकसञ्ञामनसिकार द्वारा (दिन-रात यह संज्ञा रखने से कि दिन है, दिवासञ्ञा) ञाणदस्सन का लाभ करता है; इस प्रकार सप्पभासं चित्तं भावेति, दीघ; ३.२२३।

सी. बोधिसत्त्व समाधिसम्पद् के अनन्तर ञाणदस्सन का लाभ करता है, मज्झिम, १.२०३।

डी. बोधिसत्त्व बोधि प्राप्ति के पूर्व अपने ञाणदस्सन को विशुद्ध करता है। वह अवभास की संज्ञा रखता है (संज्ञानाति ओभास), किन्तु वह रूप का दर्शन नहीं करता; पश्चात् वह रूपदर्शन करता है, किन्तु दोनों से उसका सदा संसर्ग नहीं होता, अंगुत्तर, ४.३०२।

ई. निगन्थ की प्रतिज्ञा है कि 'चलते, बैठते, सोते, जागते सदा अविच्छिन्न रूप से मैं ञाणदस्सन का सम्मुखीभाव करता हूँ", अंगुत्तर, १.२२०, ४.४२८।

एफ. शक्र का ज्ञानदर्शन, अवदानशतक, १.१८६।

जी. बोधिसत्त्वस्य सर्वविद्यास्थानेस्वव्याहतं परिशुद्धं पर्यवदातं ज्ञानदर्शनम् (बोधिसत्त्वभूमि, १.१५, म्यूजियॉन् १९०६, २२ए); पीछे विपश्यनापरिशुद्धि द्वारा यह ज्ञानदर्शन पृथुवृद्धिवैपुल्यता का लाभ करता है।

(२) संबोध

ए. कोश, ६.७५बी, ञाण=दस्सन; मज्झिम, १.१७३ : ञाणं नेसं दस्सनम् उदपादि-अंकुप्पा नो विमुत्ति; महाव्युत्पत्ति, ८१,६—विमुक्तस्य विमुक्तोऽस्मीति ज्ञानदर्शनं भवति; यह विमुक्तिज्ञानदर्शनस्कन्ध है (वही, ४, ५, कोश, ६, पृ० २९५, ७. पृ० १००)।

बी. कोश, ६.५४, दर्शन=चक्षुस्, ज्ञान, विद्या, बुद्धि।

सी. महाव्युत्पत्ति, २४५, ५१—सम्यक् प्रत्यात्मं ज्ञानदर्शनं प्रवर्तते।

डी. अंगुत्तर, २.२००—अभब्बा ते ञाणदस्सनाय अनुत्तराय अभिसम्बोधाय।

[१६४] महादिव्यचक्षुरभिज्ञा है।[1]

३. तृतीय समाधि भावना का फल प्रज्ञा

[१६५] अभेद है,[2] [अर्थात् प्रज्ञा के विशेष रूप को आकृष्ट करना]। यह प्रायोगिक विशिष्ट गुणों की अर्थात् त्रैधातुक और अनास्रव गुणों की समाधि भावना है।[3] जो समाधि इन गुणों का उत्पाद करती है, वह इन गुणों की समाधिभावना कहलाती है।[4]

४. चतुर्थ ध्यान में एक भावना उत्पन्न होती है जिसे वज्रोपम भावना कहते हैं। यह समाधि सर्व आश्रयों का क्षय करती है।

निकाय के अनुसार भगवत् इस चतुर्विध समाधि भावना की देशना द्वारा अपनी निज की भावना निर्देश करते हैं।—यह कैसे? क्योंकि वज्रोपम का (६. ४४ बी), जिसको हम देख चुके हैं कि समाधि की अन्य अवस्थाओं में सम्मुखीभाव हो सकता है, चतुर्थ ध्यान का सन्निश्रय लेते हैं।[5]

---

१. कोश में यह क्यों कहा है कि "दिव्यचक्षुरभिज्ञा का फल ज्ञानदर्शन है", यह क्यों नहीं कहा है कि "दिव्यचक्षुरभिज्ञा की समाधिभावना का फल ज्ञानदर्शन है"?

व्याख्या इसे स्पष्ट करती है : आह। दिव्यचक्षुरभिज्ञा ज्ञानदर्शनाय सम्वर्तत इत्युक्तं न च दिव्यचक्षुरभिज्ञासमाधिभावना। अयोच्यते ! अयं फले हेतूपचारः। यस्य हेतोः समाधिभावनाया दिव्यचक्षुरभिज्ञा फलं तत्र फले हेतूपचारः। ज्ञानदर्शनाय समाधिभावनेति। येषां पुनरयं पक्षः षड्विधा मुक्तिमार्गधीर् (७.४२) इति ध्यानसंगृहीता एव मानसा विमुक्तिमार्गाः षड् अभिज्ञा इति तेषाम् अचोद्यम् एवैतत् तेषां मुक्तिमार्गाणां समाहितत्वात्। पूर्वक एव तु पक्षोऽभिधर्मकोशचिन्तकानाम् इत्यवगतव्यम्। दिव्यचक्षुःश्रोत्रविज्ञानयोर् अभिज्ञात्वेनाभिष्टत्वात्।

२. प्रज्ञाप्रभेदायेति प्रज्ञाविशेषाकर्णाय (व्याख्या) [=वैशेषिक गुणाभिनिर्हाराय, कोश, ६, पृ० २७८, टि० ३]।—[तुलना कीजिए इद्धिप्पभेद, ७ अनुवाद ६८]।

३. तीन धातुओं के धर्म या गुण यह हैं—अशुभ, आनापानस्मृति, अरणा (७.३६), प्रणिधिज्ञान (७.३७), प्रतिसंविद्, अभिज्ञाविमोक्ष (८.३२), अभिभ्वायतन आदि। अनास्रव के गुण विमोक्षमुख (८.२५), व्युत्क्रान्तकसमापत्ति (८.१८ सी), आस्रवक्षयाभिज्ञा, आदि।

४. व्याख्या—त्रैधातुका अनास्रवा इति त्रैधातुका अशुभा······। अत्र तु समाधिसंप्रयोगात् प्रायोगिकानां गुणानां समाधिभावनेत्युपचारः।

५. भाष्य—आत्मोपनायिका (=आत्मनो देशिका) किलैषा भगवतो धर्मदेशना।—व्याख्या—बोधिसत्त्वो हि कर्मान्तप्रत्यवेक्षणाय निष्क्रान्तो जम्बुमूले प्रथमं ध्यानम् उत्पादितवान् (देखिये कोश, ३.४१)। बोधिमूले च देवपुत्रमारं भक्त्वा प्रथमे यामे दिव्यं चक्षुर् उत्पादितवान्। तेन दिव्येन चक्षुषा सत्त्वान् च्युत्युपपत्तिसंकटस्थान् अभिवीक्ष्य तत्परित्राणाय मध्यमे यामे ध्यानविमोक्षसमापत्तिः सम्मुखीकृतवान्। तेऽस्य प्रायोगिकगुणाः- प्रज्ञाप्रभेदाय

हम समापत्तियों का निर्देश कर चुके हैं; अब हम उन गुणों का निर्देश करेंगे जिनका योगी समाश्रय और सन्निश्रय ले सम्मुखीभाव करता है।[1]

[१९६] २९ ए. चार अप्रमाण।[2]

मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा। इन्हें अप्रमाण कहते हैं क्योंकि अप्रमाण सत्त्व इनके आलम्बन हैं, क्योंकि ये अप्रमाण पुण्य ("निष्यन्द फल") प्रदान करते हैं और अप्रमाण [विपाक] फल का उत्पाद करते हैं।[3]

२९ बी. क्योंकि ये व्यापाद आदि के विरुद्ध हैं।[4]

जायन्ते। ततस्तृतीये यामे चतुर्थं ध्यानं निश्रित्य नियामम् (६.२६ए) अवक्रम्य यावद् वज्रोपमेन समाधिना सर्वयोजनप्रहाणं कृतवान् (तुलना कीजिए मज्झिम, १.२२)।—बोधि और बोधिसत्त्व पर, पृ० ८० देखिये।

१. विभाषा, ८१,१४—"ध्यानों के अनन्तर ही प्रमाण का निर्देश क्यों है? —क्योंकि ध्यान प्रमाणों का अभिनिर्हार या उत्पाद करते हैं; क्योंकि ध्यान और प्रमाण अन्योन्य को आकृष्ट करते हैं; क्योंकि (जो ध्यानों का उत्पाद करते हैं) इनमें अप्रमाण विशिष्टतर गुण है।"

२. =[अप्रमाणानि चत्वारि]।—महाव्युत्पत्ति, ६९; दीघ, ३.२२३, चतस्सो अप्पमञ्ञायो।—दीघ, ८,१४, एकोत्तर, २१, १४, मध्यम, २१, १०।

चार ब्रह्मविहार हैं।—विसुद्धिमग्ग, २९५, अत्थसालिनी, १९२, इतिवुत्तक, १५, बोधिसत्त्वभूमि, म्यूजिओं, १९११, पृ० १७७, योगसूत्र. १.३३; राजर्षिप्रव्रजित द्वारा प्रापित, दिव्य, १२२।

कई निकाय इन्हें बोधि का अंग समझते हैं (मध्य), कोश, ६ पृ० २८१; मार्गनिर्देश में ध्यान और स्मृत्युपस्थान के बीच इनका स्थान है, अंगुत्तर, १.३८। मैत्री और अरणा पर देखिये कोश, ७.३६; मैत्री वाक्, ४.१२४; करुणा और महाकरुणा का अन्तर, ७.३७।

संघभद्र इस प्रकरण में कहते हैं कि अप्रमाण दूसरों को अर्थचर्या नहीं करते। वे शुभ क्यों हैं? अव्याकृत क्यों नहीं हैं? क्योंकि वे व्यापाद आदि के पक्ष हैं, क्योंकि वे चित्त को स्ववशित्व प्रदान करते हैं जो प्रतिहार्य और मैत्रीसमापन्न का सम्मुखीभाव कराते हैं। इनके लिए देखिये, दिव्य, १८६,२, चुल्लवग्ग, ५.६,१; दीघ, २.२३८, आदि।

३. परमार्थ द्वितीय नहीं देते।—फुकुआङ्—क्योंकि अप्रमाण विपाकफल और निष्यन्दफल प्रदान करते हैं (२.५६)।—फा-पाओ में तीन हेतु हैं।

४. =[व्यापादादिविपक्षतः]

व्याख्या—अद्वेषस्वभावत्वान् मैत्री व्यापादप्रतिपक्षः। दुःखापनयनाकारत्वाच्च करुणा दुःखोपसंहाराकाराया विहिंसायाः प्रतिपक्षो भवति। मुदिता चारतेः प्रतिपक्षः सौमनस्यरूपत्वात्। उपेक्षा च माध्यस्थ्यात् कामरागव्यापादयोः प्रतिपक्ष इति (अपक्षपातित्वे नाप्यनुनीतो नापि प्रतिहत इति)।—५.४७, पृ० ६०, टि० २।

चार अप्रमाण या यथासंख्य व्यापाद, विहिंसा, अरति, कामराग और व्यापाद के प्रतिपक्ष हैं। मैत्री द्वारा व्यापादबहुल पुरुष व्यापाद का प्रहाण करते हैं।[1]

[१९७] हम देख चुके हैं कि अशुभभावना (६. ९ सी) कामराग का प्रतिपक्ष है, यहाँ कहा है कि उपेक्षा भी उसका प्रतिपक्ष है। अशुभभावना के प्रतिपक्षत्व और उपेक्षा प्रतिपक्षत्व में क्या विशेष है ?—विभाषा (८३, ३) के अनुसार कामराग कामधातु का वर्णराग और मैथुन राग (यह एक विशेष स्प्रष्टव्य में राग है) में विशेष करने का स्थान है। किन्तु अशुभभावना इन दो रागों में से प्रथम का प्रतिपक्ष है और उपेक्षा दूसरे का प्रतिपक्ष है।[2]—यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अशुभभावना मैथुनराग का प्रतिपक्ष है क्योंकि यह भावना वर्ण, संस्थान, आकार, स्पर्श और गति के प्रति जो राग होता है, उसका अपगम करती है; और उपेक्षा उस कामराग का प्रतिपक्ष है जिसके आलम्बन माता, पिता, पुत्र और जाति हैं।

अप्रमाणों का स्वभाव क्या है ?

२९ सी-३० ए. अद्वेष, मैत्री, और करुणा, सुमनस्कता, मुदिता, अलोभ उपेक्षा।[3]

मैत्री और करुणा अद्वेष कुशलमूल स्वभाव है। मुदिता वह सौमनस्य (२.८ ए) है जो दूसरों की सुमनस्कता पर अनुभूत होता है। उपेक्षा अलोभ कुशलमूल है। किन्तु यदि उपेक्षा अलोभ है तो यह व्यापाद का प्रतिपक्ष कैसे हो सकता है। वैभाषिक उत्तर देता है क्योंकि व्यापाद लोभ से आकृष्ट होता है। यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि उपेक्षा अलोभ, अद्वेष दोनों है।[4]

अप्रमाणों का आकार क्या है ?

[१९८] ३० ए-३० सी. उनके आकार ये हैं—'सुखता, दुःखता, मुदिता, सत्त्व !''[5]

---

१. व्यापादबहुलानां तत्प्रहाणाय मैत्री।

२. संघभद्र इसके विपरीत में कहते हैं—अशुभ और उपेक्षा क्रम से मैथुन और काम, और अन्य काम के प्रतिपक्ष हैं।

रूपराग के लिए, नीचे ८.३२ ए।

३. =[मैत्र्यद्वेषः करुणा च]
=[मुदिता सुमनस्कता ॥]
=[उपेक्षालोभः]

४. हम यह कहना नहीं चाहते कि एक धर्म उपेक्षा उभय स्वभाव का है। हम कहेंगे कि 'उपेक्षा' शब्द अलोभ और अद्वेष दोनों अर्थ में है।

५.''' =[आकारः सुखिता बत दुःखिताः। मुदिताः सत्त्वा........

सुखित सत्त्व मैत्री का आलम्बन है। उनके प्रति निम्न प्रकार का योगी उत्पन्न करता है—"सुखितसत्त्व"[1] और इसके द्वारा मैत्री भावना में प्रवेश करता है।

दुःखित सत्त्व करुणा के आलम्बन हैं। उनके प्रति योगी विचार करता है—"दुःखिता सत्त्व"[2] और इसके द्वारा करुणाभावना में प्रवेश करता है।

मुदित सत्त्व आनन्द का आलम्बन है। उनके प्रति योगी विचार करता है—"मुदिता सत्त्व" और उसके द्वारा मुदिता भावना में प्रवेश करता है।[3]

उपेक्षा के आलम्बन सत्त्व मात्र केवल हैं। उपेक्षा सत्त्वों में कोई विवेक नहीं करती। उनके लिए योगी भिन्न आकार का चित्त पैदा करता है—"सत्त्व ! सत्त्व !" और इसके द्वारा, इस माध्यस्थ्य[4] के द्वारा वह उपेक्षाभावना में प्रवेश करता है।

किन्तु सत्त्व सुख नहीं है। उसको सुखी समझना (अतद्वतां सुखम् अस्तीति), ऐसा अधिमोक्ष करना[5] जो वस्तुस्थिति के अनुसार नहीं है—विपरीत है।—नहीं; यह विपरीत नहीं है—१. जब योगी विचार करता है—"सुखित सत्त्व !", तब अभिप्राय यह है कि "वे सुखी हैं !" (सन्त्विति अभिप्रायात्]; २. उसका आशय विपरीत नहीं है (आशायविपरीतत्वात्]; क्योंकि ३. योगी उस अधिमुक्ति को

[१९९] अधिमोक्षिक (अधिमुक्तिसंज्ञानात्) और यह मानें भी कि योगी का विपरीत ग्रहण है तो इसमें क्या दोष है ? क्या आप कहेंगे कि अप्रमाण कुशल हैं[6] क्योंकि योगी सत्त्वों का विपरीत ग्रहण करता है ? किन्तु कुशलमूल भी हैं क्योंकि वे व्यापादादि के प्रतिपक्ष हैं।

अप्रमाणों के आलम्बन सत्त्व होते हैं; यथार्थ में

३० डी. कामधातु के सत्त्व उनके गोचर हैं।[7]

---

१. सुखिता वत सत्वाः। —इसका अर्थ यह है कि "वे सुखी हैं। मैत्रीभावना को ४.११२ सी में पुण्यक्रियावस्तु कहा है; उसका आनुभाव ४.१२१ बी; ऊपर पृ० १९९, टि० १ में दिया है।

२. दुःखिता वत सत्वाः —आशय यह है कि वे दुःख से विमुक्त हैं।

३. महायान की अनुमोदना से तुलना कीजिए (बोधिचर्यावतार, अध्याय ३)।

४. अनुनय और प्रतिघात का अभाव
संस्कारोपेक्षा पर ३.३५ डी देखिये।

५. देखिये २.७२, अनुवाद पृ० ३२५, अधिमुक्तिमनसिकार; ६.९, ८.३२, ३४, ३५।

६. अकुशलत्वम् इति विपरीतग्रहणतः। न कुशलमूलत्वात्। नैतद् एवम्। कस्मात्। कुशलमूलत्वात्। कथं पुनर् कुशलमूलत्वम् इत्याह व्यापादादिप्रतिपक्षत्वात्।

७. =कामसत्त्वास्तु गोचरः॥

वास्तव में ये व्यापाद के प्रतिपक्ष हैं। व्यापाद इन सत्त्वों के आलम्बन बनाते हैं।

किन्तु सूत्र के अनुसार[1], योगी एकदिशा दोदिशा के प्रति मैत्रीचित्रका का उत्पाद करता है……। —हमारा कहना है कि सूत्र भाजन का उल्लेख करता है, किन्तु भाजन से वह भाजनगत सत्त्वलोक का दर्शन करता है।

योगी जब अप्रमाणों का उत्पाद करता है, तब किन भूमियों का आलम्बन करता है?

३१ ए-बी. मुदिता के लिए दो ध्यान; अन्य के लिए छह भूमि या कुछ के अनुसार, पाँच।[2]

केवल प्रथम दो ध्यानों में मुदिता की मात्रा होती है क्योंकि मुदिता सौमनस्य है और अन्य ध्यानों में सौमनस्य का अभाव है।

अन्य प्रमाणों की भावना छह भूमियों में होती है—अनागम्य, ध्यानान्तर और चार ध्यान। अन्य आचार्यों के अनुसार अनागम्य को छोड़कर शेष पाँच भूमियों में होती है। ऐसी भी आचार्य हैं।

[२००] जिनके अनुसार दस भूमियों में यह भावना होती है, पूर्वोक्त छह के अतिरिक्त कामधातु और ध्यानों के तीन सामन्तकों को भी यह परिज्ञापित करते हैं। अप्रमाणों की भूमियों की संख्या इस पर निर्भर करती है कि अप्रमाण असमाहित (कामधातु) है या समाहित प्रयोगावस्था के हैं (सामन्तक) या मौल ध्यान के।

हम पूर्व में कह चुके हैं कि अप्रमाण व्यापाद आदि के प्रतिपक्ष हैं। क्या इसका यह अर्थ है कि अप्रमाणों के द्वारा क्लेशों का प्रहाण हो सकता है?

३१ सी. अप्रमाणों से प्रहाण नहीं होता।[3]

क्योंकि अप्रमाण ध्यानभूमिक हैं (मौलध्यानभूमिकत्वात्)[4]; क्योंकि इनका आधिमुक्ति मनस्कार (२.७२) है, तत्त्व मनस्कार नहीं; क्योंकि अप्रमाणों की प्रयोगावस्था में व्यापादादि का विष्कम्भन होता है। अप्रमाण प्रहीण व्यापाद को दूर करते हैं (दूरीकरण)। इसलिए ऊपर यह कहा गया है कि अप्रमाण व्यापादादि के प्रतिपक्ष हैं।

---

१. दीघ, १.२५०, ३.२२३, आदि।

२. =[ध्यानयोर् मुदिता]
=[अन्यानि षट्के]
=[केचित् तु पञ्चसु।]

३. =[न तैः प्रहाणम्]

४. इसका अर्थ—मौलशुद्धकध्यान भूमिकत्वात् है। मौलशुद्धक ध्यान (८.५) इनकी भूमि है। शुद्ध सामन्तक से न कि मौलध्यान से क्लेश का लौकिक प्रहाण होता है (८.२१ सी)।

इसको और स्पष्ट कहते हैं ।[1]

[२०१] कामधातु भूमिक और अनागम्य भूमिक (८. २२ सी) मैत्री, करुणादि प्रयोग की अवस्था (४ पृ० २५१) मौलध्यानभूमिक भावनामय मैत्री करुणा आदि के अप्रमाण की अवस्था के सदृश हैं। मैत्री, करुणा आदि प्रयोग द्वारा व्यापाद आदि का विष्कम्भन कर योगी अनागम्य समाधि में प्रहाण मार्ग का उत्पाद करता है जो मैत्री, करुणा आदि से स्वतन्त्र है और इसके द्वारा क्लेशों का प्रहाण करता है। एक बार जब क्लेशों का प्रहाण हो जाता है, तब योगी कामधातु से वैराग्य लाभ करता है मौलध्यान में प्रवेश करता है और इस प्रकार मौलध्यानभूमिक चतुर्विध अप्रमाण का लाभ करता है। क्लेश प्रहीण हो दूरीकृत हो जाते हैं और योगी व्यापादादि बलवत् प्रत्ययों के होते हुए भी बलवत्प्रत्यय-लाभेऽपि अनाधृष्य हो जाता है, क्लेश अब उसका धर्मण नहीं कर सकते ।[2]

आदिकार्मिक मैत्री की भावना कैसे करता है ?

वह स्वानुभूत सुख का स्मरण करता है, वह दूसरों द्वारा अनुभूत बोधिसत्त्वश्रावक प्रत्येक बुद्ध द्वारा अनुभूत सुख का वर्णन सुनता है, वह अधिमोक्ष करता है कि सब सत्त्व इस सुख का उपभोग करें।

जब क्लेश आनन्त्य प्रबल होता है, तब योगी समभाव से अपने चित्त को यथावत् उपनीत नहीं कर सकता । इसलिए उसे सत्त्वों से तीन वर्गों में विभक्त करना पड़ता है,

---

१. व्यापादादयः क्लेशोपक्लेशा दूरीक्रियन्ते। अतस् तत्प्रतिपक्षत्वम् उक्तम् । कामधातुभूमिकान्यनागम्यभूमिकानि च मैत्र्यादीनि त्रीणि मौलाप्रमाणसदृशानि विद्यन्ते। प्रयोगालम्बनाकारस्वभावसादृश्यात् ।······तैर् अप्रमाणैः त्रिभिः क्लेशान् विष्कभ्य प्रहाण-मार्गैर् आनन्तर्यमार्गैः प्रजहाति ।

विभाषा, ८२,२—क्या अप्रमाणों से क्लेश का प्रहाण होता है ? नहीं। क्लेश-प्रहाण दो प्रकार का है: अल्पकालीन प्रहाण, अत्यन्त प्रहाण । सूत्र का वचन है कि प्रथम प्रहाण की दृष्टि से अप्रमाण क्लेशों का प्रहाण करते हैं। इसी प्रकार के प्रहाण की दृष्टि से समाधि संघ का कहना है कि अप्रमाण प्रहाण नहीं करते।

विभाषा, १७२.२–अप्रमाणों से क्लेश प्रहाण नहीं होता ? निम्नलिखित कारणों से : १. उनके आकारों को विविध नाम से सोलह आकार क्लेश विच्छेद करते हैं; अप्रमाणों के चार आकार भिन्न हैं; २. अप्रमाण अधिमुक्तिमनस्कार है केवल तत्त्वमनस्कार क्लेश-विच्छेद करता है; ३. अप्रमाण अनुग्रह मनस्कार हैं, यह वृद्धि उपचय करते हैं। यह आकार मन-सिकार हैं, किन्तु केवल वह मनसिकार जिसका पहला क्षण नहीं है क्लेशों का विच्छेद करता है; ४. अप्रमाणों का आलम्बन व्युत्पन्न होता है। केवल मार्ग जिनके आलम्बन तीन अध्व हैं, असंस्कृत क्लेशों का विच्छेद करता है; केवल आनन्तर्यमार्ग क्लेश विच्छेद करता है—विमुक्तिमार्ग के क्षण में अप्रमाणों का लाभ होता है।

मित्र, उदासीन, शत्रु। प्रथम वर्ग को पुनः तीन भागों में विभक्त करते हैं—परममित्र, मध्यममित्र, हीनमित्र। इसी प्रकार तीसरे वर्ग के विभाग करते हैं।

[२०२] किन्तु उदासीन वर्ग में कोई विभाग नहीं है—कुछ मिलाकर सात विभाग होते हैं। इस प्रकार विभाग करके योगी प्रथम परममित्रों को उद्दिष्ट करके सुखाधिमोक्ष ध्यान करता है[१], तदनन्तर मध्यममित्र और हीनमित्रों को उद्दिष्ट करके। योगी अब मित्रों के तीन प्रकार में कोई विवेक नहीं करता। तब वह उदासीन और शत्रुओं को उद्दिष्ट कर उसी प्रणिधान को करता है। वह उत्साह पल से परमशत्रुओं के लिए उसी सुखादिमोक्ष का उत्पाद करता है जिसका उत्पाद वह अपने परममित्र के लिए करता है।

जब सुखाधिमोक्ष ध्यान की वह सप्तविध और समभावना सिद्ध हो जाती है, तब योगी क्रमशः इस अधिमोक्ष के गोचर को बढ़ाता है। धीरे-धीरे निगम, जनपद, दिशा, समस्त चक्रवाल इसमें संगृहीत हो जाते हैं। जब बिना किसी अपवाद के समस्त सत्त्व अप्रमाण मैत्री चित्त में संगृहीत हो जाते हैं, तब मैत्री भावना की सिद्धि होती है।

जो दूसरों के गुणों के ग्राहक हैं, वे सुगमता और शीघ्रता के साथ मैत्री की भावना करते हैं। इसके अतिरिक्त जो परदोषग्राही, छिद्रान्वेषी हैं, वह मैत्री भावना नहीं कर सकते। क्योंकि जिन पुद्गलों का कुशलमूल (४ ७९) समुच्छिन्न हो गया है, वह भी गुणविहीन नहीं हैं और प्रत्येक बुद्ध में भी दोष पाया जा सकता है[२]—प्रथम का पुण्यफल और दूसरे का अपुण्यफल उनके शरीर आदि में दिखाई पड़ता है।[३]

करुणा और मुदिता के भावना के पक्ष में भी यही समझना चाहिए। सत्त्वों को दुःख-समुद्र में पतित देखकर योगी अधिमोक्ष करता है (अधिमुच्यते) कि वे दुःख से विमुक्त हों।[४]

इस प्रकार करुणा और मुदिता का प्रयोग होता है।

---

१. परममित्रे हि सुकरा मैत्री स्फरतीति।

२. गुणग्राहिन, दोषग्राहिन।

३. पूर्वपुण्यापुण्यफलसंदर्शनात्।

४. अप्येव दुःखाद् विमुच्येरन्निति अधिमुच्यमानः करुणायां प्रयुज्यते। अप्येवाभिप्रमोदेरन्निति अधिमुच्यमानो मुदितायां प्रयुज्यते।

शुआन-चाङ् जोड़ते हैं—'उसे संज्ञा है कि वे दुःख से विनिर्मुक्त होते हैं और सुख की प्राप्ति करते हैं।''

[२०३] जो उपेक्षा की भावना करता है, वह उदासीन वर्ग को आलम्बन बनाता है क्योंकि उपेक्षा का आकार जैसा हम देख चुके हैं "सत्त्व सत्त्व है।"[१]

किस गति में अप्रमाणों की भावना है ?

३१ सी-डी. मनुष्यों में उसका उत्पादन होता है।

केवल मनुष्य अप्रमाणों की भावना कर सकते हैं, अन्य गतियों के सत्त्व नहीं।

जो पुरुष एक अप्रमाण से समन्वागत होता है, क्या यह आवश्यक है कि वह अन्य अप्रमाणों से भी समन्वागत हो ?—सब अप्रमाणों से उसका समन्वागत होना आवश्यक नहीं है।

३१ डी. तीन से अवश्य समन्वागत।

जो सत्त्व तृतीय या चतुर्थ ध्यान का उत्पाद करता है, वह मुदिता से समन्वागत नहीं हो सकता क्योंकि इस ध्यान में सौमनस्य का अभाव होता है। जब कोई एक अप्रमाण से समन्वागत होता है, तब वह सर्वदा तीन से समन्वागत होता है।

विमोक्ष क्या है ?

३२ ए. विमोक्षों की संख्या आठ है।[२]

---

१. शुआन-चाङ् जोड़ते हैं—"उदासीन से अन्य वर्गों को जाते हैं। यावत् परममित्रों के लिए वही चित्त होता है जो उदासीन के लिए है।"

२. =[विमोक्षा अष्टौ]

सेकी किओकुगा के उद्धरण—मध्यम, २४, १४, ४२, १४, दीर्घ, १०, १८, ६, १२, प्रकरणपद, ८, १२, विभाषा, ६५, १७, नन्जियो १२८७, 'संयुक्तहृदय', ७, १०; नन्जियो १२७४, 'सत्यसिद्धि', १५, १०, अमृतशास्त्र, नन्जियो १२७८, १.६।

दीघ, २·७० (लोटस्, ८२४; डायलाग्स; ओ फ्रान्के, २१२), अत्थसालिनी, १९०, पटिसम्भिदामग्ग, २·३८, धम्मसंगणि, २४८ (सात) महाव्युत्पत्ति, ७० (संगीति पर्याय के अनुसार, नन्जियो, १२७६); शवान्नेस, रेलिजिओक्स एमीनेन्ट (Chavannes, Religieux eminent) पृ० १६४, महाव्युत्पत्ति और······

वसुबन्धु विभाषा, ८४, ८ का अनुसरण करते हैं। विभाषा में विमोक्षों के स्वभाव-भूमि (जहाँ उनका उत्पादन होता है), आश्रय (जो सत्त्व उनका उत्पादन करते हैं), आकार, आलम्बन, स्मृत्युपस्थान (कौन विमोक्ष कौन स्मृत्युपस्थान है), लाभ (प्राप्ति का प्रकार) आदि का वर्णन है।

[२०४] सूत्र के अनुसार[1] : १. "रूपी रूपाणि पश्यति[2]; यह प्रथम विमोक्ष है।

---

१. व्याख्या—(ए) रूपी रूपाणि पश्यति।

बी. अध्यात्मम् आरूपसंज्ञी बहिर्धा रूपाणि पश्यति।

सी. शुभं विमोक्षं कायेन साक्षात्कृत्वोपसंपद्य विहरति।

डी. सर्वशो रूपसंज्ञानां समतिक्रमात् प्रतिघसंज्ञानाम् अस्टंगमान् नानात्वसंज्ञानाम् अमनसिकाराद् अनन्तम् आकाशम् अनन्तम् आकाशम् इति आकाशानन्त्यायतनम् उपसंपद्य विहरति तद् यथा देवा आकाशानन्त्यायतनोपगाः।

ई. पुनर् अपरं सर्वश आकाशानन्त्यायतनं समतिक्रम्यानन्तं विज्ञानम् अनन्तं विज्ञानम् इति विज्ञानानन्त्यायतनम् उपसंपद्य विहरति, तद्यथा देवा विज्ञानानन्त्यायतनोपगाः।

एफ. पुनर् अपरं सर्वशो विज्ञानानन्त्यायतनं समतिक्रम्य नास्ति किं चिद् इति आकिंचन्यायतनम् उपसंपद्य विहरति तद्यथा देवा आकिंचन्यायतनोपगाः।

जी. पुनर् अपरं सर्वश आकिंचन्यायतनं समतिक्रम्य नैवसंज्ञानासंज्ञायतनम् उपसंपद्य विहरति तद्यथा देवा नैवसंज्ञानासंज्ञायतनोपगाः।

एच. पुनर् अपरं सर्वशो नैवसंतानासंज्ञायतनं समतिक्रम्य संज्ञावेदितनिरोधं कायेन साक्षात्कृत्वोपसंपद्य विहरति अयम् अष्टमो विमोक्ष इति।

२. इस वाक्य का अर्थ करना कठिन है।

ए. पालि पाठ—रूपी रूपाणि पस्सति; व्याख्या—रूपी रूपाणीति स्वात्मनि रूपाणि विभाव्य बहिर्धा रूपाणि पश्यति। परमार्थ, शुआन-चाङ्, महाव्युत्पत्ति का एक संस्करण, ७० और हरिवर्मन (नञ्जिओ, १२७४) का पाठ इस प्रकार है—अध्यात्म रूपसंज्ञी बहिर्धा रूपाणि पश्यति (यह अभिभ्वायतन, ८·३५ का वाक्य है।)

बी. अभिधम्म का पटिसंभिदा, २·३८ में और अन्यत्र विकसित हुआ है—योगी अध्यात्म और बाह्य (प्रथम विमोक्ष) रूपलीलादि केवल बाह्यरूप (द्वितीय विमोक्ष) का चिन्तन करता है।—प्रायः कोश का भी यही अभिप्राय है।

सी. रूपाणि विभाव्य (पूर्व उद्धत व्याख्या से) का क्या अर्थ है? अत्थसालिनी, १९३ के अनुसार—रूपं सञ्ञं विभावेहि, वाक्य में विभावना का अर्थ अन्तरधापन है। नीचे, कोश, ८·३ ए, में विभूतरूपसंज्ञा आया है। इसका अर्थ इस प्रकार है जिसने रूपसंज्ञा को अंतर्हित किया है।

हरिवर्मा विभावना का अर्थ 'निरसन, भंजन' देते हैं। 'प्रथम विमोक्ष—अध्यात्मं रूपसंज्ञी बहिर्धा रूपाणि पश्यति [=वह अध्यात्म रूप की काय को अशुभवत् ग्रहण करता है] वह बाह्य रूप को देखता रहता है। इस विमोक्ष से योगी रूप को विभक्त करता है। यह हम कैसे जानते हैं? क्योंकि द्वितीय विमोक्ष में कहा गया है—अध्यात्मम् अरूपसंज्ञी बहिर्धा रूपाणि पश्यति। योगी का विशेषण अध्यात्मरूपसंज्ञी है क्योंकि उसने अध्यात्म रूप को विभक्त किया है। इससे हम जानते हैं कि प्रथम विमोक्ष में योगी कायरूप का अपगम

[२०५] २. अध्यात्मरूपों की संज्ञा न रखकर वह बाह्यरूपों को देखता है, यह दूसरा विमोक्ष है; ३. शुभविमोक्ष का काय से साक्षात्कार कर (नीचे पृ० २१०, टि० ३) वह इस विमोक्ष के अनुसार समापत्ति में विहार करता है, यह तीसरा विमोक्ष है।" विमोक्ष ४-७ चार आरूप्य समापत्ति (आकाशानन्त्यायतन, आदि); आठवाँ विमोक्ष संज्ञावेदितनिरोध-समापत्ति।

३२ ए-बी. प्रथम दो विमोक्ष अशुभ भावना हैं; दो ध्यानों में।[1]

प्रथम दो विमोक्ष का स्वभाव अशुभ भावना है क्योंकि उनका आकार विनीलक आदि की संज्ञा है [योगी अध्यात्म या बाह्यरूप को अपनी काय को या बाह्यकायों को विनीलक आदि]।—फलतः प्रथम दो विमोक्षों के नय नहीं हैं जो अशुभ के।

[२०६] उनकी भावना केवल प्रथम दो ध्यानों में होती है; जब उनकी भावना[2] प्रथम ध्यान में होती है, तब वे कामधातु के वर्णराग के प्रतिपक्ष होते हैं; जब द्वितीय ध्यान में भावना होती है, तब वे प्रथम ध्यानभूमिक वर्णराग का प्रतिपक्षत्व करते हैं [द्वितीय ध्यान कोई वर्णराग नहीं होता जिसका प्रतिपक्षत्व तृतीय ध्यान में किया जाय, ८. पृ० १५१, १६३]

क्रमशः इस प्रकार करता है। अध्यात्म रूप अपगत होकर द्वितीय विमोक्ष में केवल बाह्य रूप रह जाता है [जिसे वह देख सकता है।] तृतीय विमोक्ष में बाह्य रूप भी अपगत होकर योगी अब अध्यात्म और बाह्य रूप नहीं देखता। इसे रूप शून्य कहते हैं, जैसा कि पारायण में कहा है—"रूप संज्ञा का अपगम भंजन कर वह काम का प्रहाण विनाश करता है; वह अध्यात्म या बाह्य कहीं भी आत्मा को नहीं देखता है।" सुत्त निपात, ११३। तुलना कीजिए: विभूतरूपसञ्ञिस्स सब्बकायप्पहायिनो (चीनी पाठ काम है) अज्झत्तं च बहिद्धा च नऽत्थि किं चीति पस्सतो।

१. शुआन्-चाङ् का यहाँ मतभेद है।—कारिका—विमोक्ष आठ प्रकार के हैं। प्रथम तीन अलोभ हैं; दो दो ध्यानों में; एक एक ध्यान में···। भाष्य···प्रथम दो का स्वभाव अलोभ है क्योंकि वे लोभ के प्रतिपक्ष हैं। सूत्र (मध्यम, २४, ५) विमोक्ष का लक्षण बताते हुए कहता है कि योगी देखता है (पश्यति)। [वह यह कहता है कि विमोक्ष दर्शन है। वह इस भाषा का प्रयोग इसलिए करता है] क्योंकि दर्शन विमोक्ष को विपुल करता है।—शुआन-चाङ् वसुबन्धु के भाष्य में विभाषा, ८४, ८ की व्याख्या को प्रक्षिप्त करता है [जहाँ यह कहा है कि आठवाँ विमोक्ष चित्त विप्रयुक्त संस्कारस्कन्ध है]।

२. यहाँ दूरीभाव प्रतिपक्ष अभिप्रेत है (५·६१, पृ० १०४) क्योंकि योगी के प्रथम ध्यान में प्रवेश करने से ही कामधातु का वर्णराग प्रहीण हो जाता है। (प्रहीण-अनागम्य में सम्मुखीकृत प्रहाण प्रतिपक्ष द्वारा, ८. पृ० २०१, पंक्ति ६)।

३२ सी. तृतीय विमोक्ष अन्तिम ध्यान में, यह अलोभ है।

तृतीय विमोक्ष की भावना केवल चतुर्थ ध्यान में होती है। स्वभाव में यह अलोभ कुशलमूल है, यह कुशल भावना नहीं है; वास्तव में, इसका आलम्बन शुभ है—इसका शुभ आकार है।[1]

यह तीन विमोक्षस्व संप्रयुक्त धर्मों के साथ स्वभाव में पंचस्कन्ध हैं।

आरूप्यों के विमोक्ष के सम्बन्ध में—

३२ डी. शुभ आरूप्य और समाहित

३-७ विमोक्ष चार शुभ अर्थात् शुद्धक या अनास्रव (८.५) आरूप्य हैं और समाहित हैं; वह आरूप्य नहीं है जो मरणभव की अवस्था में उत्पन्न होता है[2] [८.१६ सी, १७१ टिप्पणियाँ]।

अन्य आचार्यों के अनुसार आरूप्य धातु में उपपन्न सत्त्वों के विपाकज चित्तचैत्त भी 'असमाहित' होते हैं।

आरूप्यसामन्तकसमापत्ति (८.२२) के विमुक्त मार्ग भी विमोक्ष कहलाते हैं; पूर्वोक्त सामन्तकों के आनन्तर्यमार्ग विमोक्ष नहीं कहलाते क्योंकि यह अधरभूमि आलम्बन बनाते हैं तथा उसका प्रहाण करते हैं और विमोक्ष—विमोक्ष इसलिए कहलाते हैं क्योंकि अधरभूमि से विमुख हैं (अधरभूमिवैमुख्यात्)।[3]

[२०७] ३३ ए. निरोधसमापत्ति।[4]

संज्ञावेदितनिरोधसमापत्ति आठवाँ विमोक्ष है।[5] हम इसका उल्लेख कर चुके हैं।

---

१. =शुभारूप्याः [समाहिताः] ॥

२. मरणभवावस्थायाम्—३.४३—समाधि की अवस्था में मृत्यु नहीं होती।

३. विभाषा, ८४, ६—विमोक्ष क्यों नाम पड़ा ? विमोक्ष का क्या अर्थ है ? विमोक्ष का अर्थ निरसन-विवर्जन है। प्रथम दो रूप लोभ चित्त का विवर्जन करते हैं। तृतीय अशुभ संज्ञा का विवर्जन करता है; आरूप्य के चार विमोक्षों में में प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती अधरभूमि के चित्त का निरसन करता है; निरोध समापत्ति का विमोक्ष सर्व सालम्बन चित्त का निरसन करता है। फलतः विमोक्ष का अर्थ 'विवर्जन' का है। भवन्त कहते हैं कि विमोक्ष का यह नाम इसलिए है कि वे अधिमोक्ष बल से प्राप्त होते हैं। पार्श्व के अनुसार नाम में कारण यह है कि वह विवर्जन के स्थान हैं।

४. परमार्थ—निरोधसमापत्तिविमोक्ष।

५. देखिये २.४४ डी, ६.६४ ए, ८.१६६।—मज्झिम; १. १६०, ३०१, ३३३, ४००, ४५६, अंगुत्तर; ४.४२६, ४४८।

हम उसे विमोक्ष इसलिए कहते हैं क्योंकि वह संज्ञा और वेदना से विमुख है। या इसलिए, क्योंकि वह सर्वसंस्कृत से विमुख है।[1]

अन्य आचार्यों के अनुसार आठ विमोक्ष[2]—विमोक्ष इसलिए कहलाते हैं क्योंकि वे समापत्ति के आवरणों से विमुक्त करते हैं।[3]

निरोधसमापत्ति का सम्मुखीभाव होता है।

३३ बी. सूक्ष्म सूक्ष्म चित्त के अनन्तर।[4]

[२०८] भवाग्र (नैवसंज्ञानासंज्ञायतन) चित्त जहाँ योगी निरोधसमापत्ति का सम्मुखीभाव कर सकता है, संज्ञा संप्रयुक्त चित्त की अपेक्षा सूक्ष्म होता है। जो चित्त इससे भी अधिक 'सूक्ष्म' है जो "निरोधसमापत्ति में प्रवेश करता है"[5] [अर्थात् "जिसके अनन्तर······होता है।"]

---

१. सर्वसंस्कृताद् वा वैमुख्यात्। शुआन-चाङ् शोधते हैं—"क्योंकि यह उन सबसे विमुख है जो सालम्ब हैं, अर्थात् चित्त चैत्तों से।

२. शुआन-चाङ् "आठवाँ विमोक्ष कहलाता है क्योंकि वह विमुक्त करता है ···"

यह स्पष्ट है कि वे विमोक्ष के लाभ से, [जो कायसाक्षिन् की संज्ञा प्रदान करता है और जिससे अर्हत् को उभयतोभागविमुक्त की आख्या का लाभ होता है, समापत्ति की सर्व-वशिता प्राप्त होती है। विमोक्षावरण (६.६४ ए) से सर्वथा विमोक्षण होता है, किन्तु परमार्थ का भाषान्तर निःसन्देह यथार्थ है क्योंकि प्रथम दो विमोक्ष का लाभ जिसके लिए प्रथम ध्यान की भावना आवश्यक है, प्रहोणराग को दूर कर (ऊपर पृ० २०५, टि० २) और चित्त को कर्मण्यता प्रदान कर (देखिये आगे टिप्पणी) इसी भावना को और भी सुगम बना देता है। तृतीय विमोक्ष रूपधातु के विमोक्षों के आवरण (रूपविमोक्षावरण, पृ० २११, टि० २) का निरोध करता है।

३. समापत्त्यावरणविमोक्षणात्— आवरण चित्त की अकर्मण्यता है जिसके करण त्रैधातुक वीतराग प्रथम ध्यान का भी उत्पाद नहीं कर पाते।

४. =[सूक्ष्मसूक्ष्माद् अनन्तरम्]

विभाषा, १५२; ४—दार्ष्टान्तिक और विभज्यवादी का मत है कि निरोध समापत्ति में सूक्ष्म चित्त का निरोध नहीं होता। उनके अनुसार कोई सत्त्व बिना रूप के नहीं है। कोई समापत्ति आचित्तक नहीं है। यदि समापत्ति आचित्तक होती है तो जीवितेन्द्रिय का विच्छेद होता; हम कहते कि [योगी] की मृत्यु हो गई है और यह नहीं कह सकते कि वह समाहित है। इस मत का प्रतिषेध करने के लिए यह सूचित किया जाता है कि निरोध समापत्ति सदा आचित्तक है [कोश, २४४ डी, पृ० २११, टि० ३]।

५. भवाग्र की व्याख्या, ८.४ सी।

३३ सी-डी. उक्त समापत्तिभूमिक "शुद्धक" चित्त से या अधर आर्य चित्त से व्युत्थान।[1]

जब चतुर्थ आरूप्य अर्थात् भवाग्र भूमि का (८.५) जिसमें निरोधसमापत्ति संगृहीत है। शुद्धक चित्त (८.५) अथवा तृतीय आरूप्य भूमि का अर्थात् अनास्रव चित्त उत्पन्न होता है, तब निरोधसमापत्ति का निरोध होता है। इसलिए सास्रव चित्त से निरोधसमापत्ति में समापन्न हो सास्रव या अनास्रव चित्त से व्युत्थान।[2]

विमोक्षों का आलम्बन क्या है ?

३४. प्रथम के आलम्बन कामधातु के रूप हैं जो अरूपी हैं, उनका गोचर सर्व अन्वय ज्ञान पक्ष स्वभूमिक दुःख ऊर्ध्वभूमिक दुःखादि हैं।[3]

[२०९] पहले तीन विमोक्षों का रूप कामधातु का रूप है, प्रथम दो अमनोज्ञ रूप, तृतीय का मनोज्ञ रूप।

आरूप्य के विमोक्षों का विषय स्वभूमिक दुःख, ऊर्ध्वभूमिक[4] दुःख, दुःख का समुदय और निरोध, सर्व अन्वयज्ञानपक्ष, अप्रतिसंख्यानिरोध[5] और आकाश[6] है।

हमने (३२ ए-सी) देखा है कि प्रथम दो विमोक्ष प्रथम दो ध्यान के हैं। तृतीय विमोक्ष चतुर्थ ध्यान का है। तृतीय ध्यान में विमोक्ष की व्यवस्था क्यों नहीं है ? क्योंकि द्वितीय ध्यान में कायिक विज्ञान के न होने से द्वितीय ध्यानभूमिक वर्णराग नहीं होता

१. =[स्वशुद्धकाधरार्येण चित्तेन व्युत्थितिस्ततः ॥]

२. महायान के अनुसार इस समापत्ति का 'प्रवेश चित्त' सदा अनास्रव होता है। व्युत्थान चित्त दो प्रकार का होता है—अनास्रव या सास्रव ·· बुद्ध, आठ विमोक्ष अनास्रव हैं; दूसरों में आठवां सदा अनास्रव है। प्रथम सात लौकिक या लोकोत्तर ज्ञान स्वभाव के अनुसार दो प्रकार के हैं।

३. =[कामाप्तदृश्यविषयाः प्रथमाः]—परमार्थ कामधातु-दृश्यविषया आद्यास्त्रयः।
= ये त्वरूपिणः। ते ऽन्वयज्ञानपक्षोर्ध्वस्वभूर्दुःखादिगोचराः ॥

४. ऊर्ध्वाधःस्वभूमिक—कामधातु-सम्बन्धी मार्ग-भाग को छोड़कर शेष मार्ग अन्वयज्ञान हैं।

व्याख्या—उन भूमियों को सूचित करती है जहाँ विमोक्ष की भावना होती है। सात सामन्तकों को छोड़कर अन्य ग्यारह भूमि हैं।

५. व्याख्या—आह। कतमः पुनर् अप्रतिसंख्यानिरोधस्तेषाम् आलम्बनम्। अत्रोच्यते। अशैक्षस्यानिमित्तस्य समाधेर् अप्रतिसंख्यानिरोधम् आलम्बते। एते ह्यारूप्या विमोक्षा आनिमित्तानिमित्तसमाधिस्वभावः संभवन्ति (८.२६ सी)।

६. आकाश आकाशानन्त्यायतन विमोक्ष का आलम्बन है।

[जिसका तृतीय ध्यान में प्रतिपक्षत्व करना है—प्रतिपक्षतव्य[1]] क्योंकि तृतीय ध्यान अपने विशिष्टतम सुख से कम्पित होता है।[2]

किन्तु यदि तृतीय ध्यानभूमिक वर्णराग का अभाव है तो योगी तृतीय विमोक्ष का उत्पाद [जो मनोज्ञ रूप का ध्यान है] किस उद्देश्य से करता है?

योगी अशुभभावना से लीन सन्तति को प्रमुदित करता है[3]; अथवा

[२१०] वह अपनी सफलता या विफलता की जिज्ञासा (जिज्ञासार्थम्) करता है। वह अपने से पूछता है कि प्रथम दो विमोक्ष सफल हुए हैं या नहीं। यदि मनोज्ञ विषय की भावना में (तृतीय विमोक्ष) क्लेश का सर्वशः उत्पाद नहीं होता तो इसका कारण यह है कि प्रथम दो विमोक्ष सफल हुए हैं।[4] वास्तव में योगी विमोक्ष, अभिभ्वायतन आदि की भावना दो उद्देश्यों से करता है: १. क्लेशों को दूर करने के लिए, २. समापत्तिवशित्व के लिए। इस वशित्व का फल अरणादि गुणों का निर्हार और आर्या ऋद्धि का उत्पादन है।[5] आर्या ऋद्धि द्वारा आर्य वस्तुओं का रूप-परिवर्तन (वस्तु-परिणाम, अधिष्ठान) आदि शब्देन करता है। आयु का उत्सर्ग करता है, इत्यादि।

---

१. द्वितीयध्यानभूमिक वर्णरागाभावाद् इति द्वितीयध्यानभूमिकस्य वर्णरागस्य प्रतिपक्षितव्यस्याभावात्।

२. सुखमण्डेञ्जितत्वाच्च। सुखस्य मण्डः सर्वसुखोपरिष्ठं सुखम्। तेनेञ्जितत्वात् कम्पितत्वात्।

३. अशुभया लीनां संतति प्रमोदयितुम्।

४. विभाषा, ८४, १५—क्योंकि यह निश्चय करना चाहता है कि कुशलमूल परिपूर्ण हुए हैं या नहीं। योगी विचार करता है—यद्यपि मैं अशुभ की भावना करता हूँ, तथापि मैं क्लेश का उत्पाद नहीं करता, किन्तु मैं यह नहीं जानता कि कुशलमूल परिपूर्ण हैं या नहीं। यदि मनोशक्ति भावना से क्लेश का उत्पाद हो तो मैं जानूंगा कि कुशलमूल परिपूर्ण हैं।

५. आर्यायाश्च ऋद्धे: [अभिनिर्हाराय भवति]—सा पुनर् यथा वस्तु परिणामाधिष्ठानायुरुत्सर्गादीनीति। तत्र वस्तु परिणामो यद् वस्तु यथाधिमुच्यते तथैव तद् भवति। यथा सुवर्णस्य मृतकरणम्। तथाधिमोक्षाद् अधिष्ठानं स्थिरस्य वस्तुन: इयन्तं कालम् अवतिष्ठताम् इति। तथायुष उत्सर्ग:। आदिशब्देन सुमेरो: परमाणौ प्रवेश इत्येवम् अन्यच्च सूत्रे द्रष्टव्यं (देखिये ७ ४२, ४८)।

अभिनिर्हार, स्पेयेर, अवदानशतक, २.२२१, महावस्तु और दिव्य की अनुक्रमणिका; महाव्युत्पत्ति, २१, ८८; २५, १२, सूत्रालंकार, ४.१२ पर लेवी; रीज डेविड्स स्टेडो। पालिग्रन्थों की आर्या ऋद्धि पर, ७. पृ० १११।

केवल तृतीय और अष्टम विमोक्ष की व्याख्या के लिए ही सूत्र 'कायेन साक्षात्कृत्वा' इस वाक्य का क्यों प्रयोग करता है ?[1]

[२११] उनकी प्रधानता के कारण, और क्योंकि वे दो धातुओं के भूमि-पर्यन्त में पाये जाते हैं ।[2]

---

१. तृतीय विमोक्ष—शुभं विमोक्षं कायेन साक्षात्कृत्वोपसंपद्य विहरति, और आठवाँ विमोक्ष—संज्ञावेदितनिरोधं कायेन साक्षात्कृत्वोपसंपद्य विहरति ।

व्याख्या—अत्र साक्षात्कृत्वेति प्रत्यक्षीकृत्येत्यर्थः । उपसंपद्य विहरतीति तां समापत्तिं समापद्य विहरतीत्यर्थः ।

६.४३ सी, ५८ बी (पृ० २५६), ६३; ८. पृ० १५२—उत्तराध्ययन, ५.२३, एस बी ई, ४५, पृ० २३ । तुलना कीजिए—फुसति चेतोसमाधिम्, निरोधम् (दीघ, १.१८४) चतस्सो अप्पमञ्ञायो (थेरगाथा, ३८६), आदि ।

विभाषा, १५२, ११—अन्य सूत्रों में आठ विमोक्षों के निर्देश में भगवत् 'कायेन साक्षात्कृत्वोपसंपद्य विहरति' इस वाक्य का प्रयोग करते हैं, विशेषकर महाहेतु प्रत्यय सूत्र में····· कुछ का कहना है—तृतीय और अष्टम् विमोक्ष दो धातुओं के पर्यन्त में होते हैं··· । कुछ का कहना है यह दो विमोक्ष दो भूमियों के पर्यन्त में अवस्थित हैं ······ ।

२. भाष्य—प्राधान्याद् धातुभूमिपर्यन्तावस्थितत्वाच्च । व्याख्या—प्रथमद्वितीयाभ्यां विमोक्षाभ्यां तृतीयस्य विमोक्षस्य प्राधान्यात् । रूपिविमोक्षावरणसाकल्यप्रहाणाद् आश्रयपरिवृत्तितस् तृतीयस्य साक्षात्करणम् उक्तम् । अष्टमस्यापि प्राधान्याद् आरूप्यविमोक्षावरणसाकल्यप्रहाणाद् आश्रयपरिवृत्तितः साक्षात्करणम् उक्तम्—"सूत्र कहता है कि योगी तृतीय विमोक्ष का साक्षात्कार (साक्षात्करण, प्रत्यक्षीकरण) करता है क्योंकि प्रथम दो विमोक्षों पर इस विमोक्ष की प्रधानता है । यह ध्यान विमोक्ष (रूपीविमोक्ष) के सकल आवरणों का प्रहाण करता है। एक बार इसका अलाभ होने से चित्तकर्मण्यता का लाभ होता है जिसकी सहायता से बिना यत्न के ही प्रथम तीन विमोक्ष का साक्षात्कार होता है। इससे आश्रय परिवृत्ति होती है । यह आश्रय या नाम-रूप स्कन्ध का एक परिणाम-विशेष है । आश्रय परिवृत्ति से साक्षात्कार होता है । इसी प्रकार आठवें विमोक्ष को विमोक्षों पर प्रधानता है क्योंकि यह आरूप्यधातु विमोक्ष के सकल आवरणों का प्रहाण करता है । जो योगी रूप धातु की पर्यन्त भूमि, अर्थात् चतुर्थ ध्यान की भावना करता है, वह तृतीय विमोक्ष का लाभ करता है । आठवें विमोक्ष का लाभ वह योगी करता है जो आरूप्य धातु तथा पर्यन्तभूमि भवाग्र की भावना करता है ।

(ए). ४.५६, पृ० १२३, आश्रयपरिवृत्ति दर्शनमार्ग द्वारा इत्यादि; १४ सी, परिवृत्तव्यञ्जन—"जिसका लिंग परिवर्तन हुआ है"; ३८, आश्रयत्याग, आश्रयविकोपन—"मृत्यु से आश्रय का त्याग, विनाश;" धर्मकाय, ७. पृ० ८१ टि० । सूत्रालंकार 'आश्रयपरावृत्ति' शब्द पसन्द करता है ।

३५ ए. अभिभ्वायतनों की संख्या आठ है ।[1]

[२१२] १. अध्यात्मं रूपसंज्ञी[2] बहिर्धा रूपाणि पश्यति परीत्तानि सुवर्णदुर्वर्णानि । तानि खलु रूपाण्यभिभूय जानाम्यभिभूय पश्यामि[3] एवसञ्ज्ञी भवति । इदं प्रथमम् अभिभ्वायतनम् ।

२. यही वाक्य केवल परीत्तानि के स्थान में अप्रमाणानि पढ़िये; यह द्वितीय अभिभ्वायतन है ।

३-४. यही वाक्य रूपसंज्ञी के स्थान में अरूपसंज्ञी । प्रथम दो को शामिल करके चार अभिभ्वायतन होते हैं ।

५-८. अरूपसंज्ञी च पुनर् नीलपीतलोहितावदातानि···।[4] इस प्रकार कुल आठ हुए।

(बी). आश्रय="इन्द्रियों से समन्वागत काय," ३.४१; इन्द्रियों में मनस्, २.५, १.२० ए (पृ० ३७) ।—आश्रय का एक पर्यायवाचक शब्द आत्मभाव है, ५.२ सी ।—१.३४ डी (पृ० ६३), २.५५ डी, (पृ० २८४), ७.२१ बी, और अन्यत्र देखिए ।—इसका अनुवाद 'Personnalite' बुरा नहीं है, उदाहरण के लिए ६.२१ ए—"स्त्री आश्रय"···। केवल तीन द्वीपों के पुरुष ही कुछ गुणों के आश्रय होते हैं; केवल मनुष्य आश्रय द्वारा ही इन गुणों का लाभ होता है । एक दूसरे अर्थ में किसी विशेष ज्ञानादि के लाभ के लिए एक विशेष ध्यान, एक विशेष भूमि आश्रय होती है ।

१. =[अभिभ्वायतनान्यष्टौ]

दीघ, २.११०, ३.२६०, संयुत्त, ४.८५, मज्झिम, २.१३, विसुद्धिमग्ग, १७५, अत्थसालिनी, १८७ ।

महाव्युत्पत्ति, ७१, सूत्रालंकार, २०-२१.४४ । जब योगी ६ आयतन(रूप, शब्दादि) का, बिना अकुशल वितर्क को उत्पन्न किए करता है, तब यह आयतन अभिभूत होते हैं । यह दस अभिभ्वायतन हैं । संयुत्त, ४.७७ ।

सेकीकिओकुगा के हवाले, मध्यम, ५६, २६, दीर्घ ६,१२, अमृत, २.६, संगीतिपर्याय, १६,१, प्रकरण, ७,१३, संयुक्तहृदय (?), ७,१०, विभाषा, ८८,१३, इटीमोलोजी, १४१, ११, सत्यसिद्धि (?), १५, १४ ।

मध्यम के अनुसार (अपनयन-अवस्थान), परमार्थ, अधिपत्य-प्रवेश, शुआन-चाङ् अभि-अवस्थान । —तानि रूपाण्यभिभूय में अभिभूय का अर्थ 'अधिपतिभावना' या 'विनोदन', अपनयन, विभावन करते हैं ।

२. पालि—एको बहिर्धा ।

३. व्याख्या—जानाति···पश्यति ।—परमार्थ—जानामि पश्यामि ।

ज्ञान और दर्शन, ऊपर ८.२७ सी ।

४. अध्यात्मम् अरूपसंज्ञी बहिर्धा रूपाणि पश्यति नीलानि नीलवर्णानि नीलनिदर्शनानि

[२१३] ३५ बी-डी. दो प्रथम विमोक्ष के समान हैं; अगले दो द्वितीय बल हैं; अन्य शुभ विमोक्षवत् हैं ।[1]

प्रथम दो अभिभ्वायतन प्रथम विमोक्ष के समान हैं[2]; तृतीय और चतुर्थ द्वितीय विमोक्ष के समान हैं; अन्तिम चार तृतीय विमोक्ष के समान हैं ।

फिर विमोक्ष और अभिभ्वायतन में भेद क्या है ?

प्रथम विमोक्ष मात्र है; अभिभ्वायतन आलम्बनों का अभिभवन है । इस अभिभवन से यथेष्ट अधिमोक्ष होता है (यथेष्ट अधिमोक्षः) और आलम्बन समुत्थित क्लेशों का उत्पाद नहीं होता (क्लेशानुत्पत्ति) ।[3]

३६ ए. दस कृत्स्नायतन ।[4]

नीलनिर्भासानि तद्यथा उमकापुष्पम्[ए] संपन्नं वा वाराणसेयं वस्त्रं नीलं नीलवर्णं नीलनिदर्शनं नीलनिर्भासम् । स तानि खलु रूपाण्यभिभूय जानाम्यभिभूय पश्यामि एवं संज्ञीभवति इदं पञ्चमम् अभिभ्वायतनम् ।[बी]

अध्यात्मम् अरूपसंज्ञी···पीतनिर्भासानि तद्यथा कर्णिकारपुष्पं सम्पन्नं वा···अध्यात्मम् अरूपसंज्ञी···लोहितनिर्भासानि तद्यथा बन्धूकपुष्पं[सी] सम्पन्नं वा···अध्यात्मम् अरूपसंज्ञी··· अवदातनिर्भासानि तद्यथा उशनस्तारका[डी] सम्पन्नं वा···

ए. उम्मापुप्फम् नीलम्···नीलनिभासम्; महाव्युत्पत्तिः उमकपुष्पम् ।

बी. सेय्यथा वा पन तं वत्थम् बाराणसेयकम् उभतोभागविमट्ठम् नीलम्···।

सी. बन्धुजीवकपुप्फम्, महाव्युत्पत्तिः बन्धुजीवकपुष्पम् ।

डी. ओसधितारका ।

१. =द्वयम् आद्यविमोक्षवत् । द्वे द्वितीयवद् अन्यानि पुनः शुभविमोक्षवत् ॥

२. यथा रूपी रूपाणि पश्यतीति प्रथमो विमोक्षः । आत्मगतं रूपं पश्यन् बहिर्गतं रूपं पश्यति । एवम् आद्ये अभिभ्वायतने । तयोर् ह्येकम् आत्मगतं रूपं पश्यन् बहिर्गतं पश्यति । तथा ह्येतत् पठ्यते । अध्यात्मं रूपसंज्ञी बहिर्धा रूपाणि पश्यति परित्तानि इति विस्तरः । द्वितीयम् अपि तथैव । अयं तु विशेषो बहिर्धा रूपाणि पश्यत्यधिमात्राणि किं च । यथा प्रथमो विमोक्षः प्रथमध्यानभूमिकः कामावचरवर्णरागप्रतिपक्षः कामावचररूपायतनालम्बश्च तथेमे प्रथमे अभिभ्वायतने वेदितव्ये ।

३. तैर् विमोक्षमात्रम् इति नालम्बनाभिभवनम् । कथं चाभिभ्वायतनैर् आलम्बनाभिभवनम् इति अत आह । यथेष्टम् अधिमोक्षाद् इति । यथेष्टं तैर् नीलपीताद्यधिमोक्षात् । क्षणेन नीलं क्षणेन पीतम् इत्यादि । अमनोज्ञस्य वा विनीलकादेर् मनोज्ञाधिमोक्षात् । क्लेशानुत्पादाच्चेति । शुभतोऽपि च सांक्लेशिकं वास्त्वाकारयतः क्लेशानुत्पत्तेर् इति तैर् अभिभ्वायतनैर् आलम्बनाभिभवनं भवति (आकारयति, ६, पृ० १६४, ७ पृ० ७८) ।

४. =[दश कृत्स्नान्यलोभोऽष्टौ ध्यानेऽन्त्ये···गोचरः । कामो द्वे शुद्धम् आरूप्यं स्वचतुःस्कन्धगोचरे ॥]

[२१४] यह कृत्स्न कहलाते हैं क्योंकि यह निरन्तर अपने आलम्बन को कृत्स्न रूप से व्याप्त करते हैं।[1]

इनकी संख्या दस है—पृथिवी, जल, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात वा कृत्स्नायतन और आकाश तथा विज्ञान के आनन्त्यायतन (प्रथम और द्वितीय आरूप्य)।

३६ बी-सी—आठ अलोभ हैं, यह अन्तिम ध्यान के हैं, इनका आलम्बन काम है।

प्रथम आठ अपने स्वभाव में सानुगत धर्मों के साथ पंचस्कन्ध के साथ अलोभ कुशलमूल हैं; चतुर्थध्यान समापन्न योगी उनका साक्षात्कार करता है; वे कामधातु के रूपायतन को आलम्बन बनाते हैं। विभिन्न मत हैं -कुछ का मत है कि चतुर्थ वायुकृत्स्नायतन का आलम्बन वह स्प्रष्टव्य है जिसे वायुधातु कहते हैं।[2]

अंगुत्तर, ५.४६, ६०, (अट्ठकथा, १.२७,१०), मज्झिम, १.४२३, २.१४, दीघ, ३-२६८ (सुमंगल, १.११५, फ्राँके, पृ० २१०), विसुद्धि, ११० की सूची में अन्तिम दो के स्थान में आलोक, परिच्छिन्नाकासकसिण हैं (चाइल्डर्स देखिए); पटिसंभिदा में कभी-कभी दो छोड़ दिए जाते हैं।—[आलोकमनसिकार, आदि, ७ पृ० १०४, १२३]। विसुद्धिमग्ग, ४७५ [अनुक्रमणिका और वारेन, २९३ देखिये], अत्थसालिनी, १८१, कम्पेन्डियम्, पास्सिम, स्पेन्स हार्डी, ईस्टर्न मॉनेकिज्म, २५२; कर्न, गस्खोर्डनिस, १·३९३ ("सार्वभौम या ब्रह्माण्ड का परिवृत्त)"; योगाचार-मैनुअल, पृ० २९; रीज डेविड्स स्टेडी।

महाव्युत्पत्ति, ७२, संगीतिपर्याय, ग्यारहवाँ ई० प्रकरण, सूत्रालंकार, ७.९, २०.४४। विभाषा में एक सम्पूर्ण ग्रन्थ है जिससे कोश की संक्षिप्त सूचनाएँ उद्धृत की गई हैं।

१. निरन्तरकृत्स्नस्फरणाद् इति निरन्तरं कृत्स्नानां पृथिव्यादिनां स्फरणाद् व्यापनात् कृत्स्नायतनानीत्युच्यन्ते।

परमार्थ—कभी कृत्स्न का अर्थ सकल करते हैं, कभी अनन्त—३६ ए. दस कृत्स्नायतन हैं।—उन्हें कृत्स्न कहते हैं क्योंकि वे अनन्तर विवररहित पृथ्वी को कृत्स्न रूप से व्याप्त करते हैं।—कृत्स्न किन धर्मों को कहते हैं?—पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, नील, पीत, लोहित, अवदात—यह रूप को व्याप्त करते हैं (शब्दतः-रूपलक्षणानि)···। —कुछ आचार्य कहते हैं कि वायुकृत्स्नायतन का आलम्बन स्प्रष्टव्य है।

विभाषा, ८५,१० कृत्स्न का अनुवाद···देता है···। वे दो कारणों से कृत्स्नायतन कहलाते हैं—क्योंकि उनमें कोई अन्तर नहीं होता, क्योंकि वे विस्कृत हैं; एक ओर अधिमुक्तिमनसिकार केवल नील आदि को बिना किसी दूसरे लक्षण से मिश्रित आलम्बन बनाता है; दूसरी ओर सर्वनीतादि को आलम्बन बना मनसिकार का विषय अनन्त लक्षण होता है। भदन्त कहते हैं—"क्योंकि उनका आलम्बन विपुल-विस्तृत है क्योंकि कोई अन्तर विवर नहीं है।"

२. कामावचरं रूपायतनम् इति। पृथिवी वर्णसंस्थानम् उच्यते लोकसंज्ञया। आपस्तेजश्च वायुस्तु धातुरेव तथापि च इति वचनाद् (१.१३, अनुवाद पृ० २३) वायौ स्प्रष्टव्यायतनम् इत्येक इति। ये वायुं रूपायतनं नेच्छन्ति त आहुः। वायौ स्प्रष्टव्यम् आलम्बनम् इति।

[२१५] कुछ का मत है कि पहले चार का आलम्बन स्प्रष्टव्य है, अन्तिम चार का रूप ।[१]

३६ सी-डी. दो शुद्ध आरूप्य हैं, उनका आलम्बन स्वभूमि के चतुःस्कन्ध हैं ।

अन्तिम दो आरूप्य का शुद्धक समापत्ति है, उनका गोचर स्वभूमि (प्रथम और द्वितीय आरूप्य) के चार स्कन्ध हैं ।

आठ अभिभ्वायतन के प्रावेशिक (°प्रावेशिक) आठ विमोक्ष हैं, कृत्स्नायतन के प्रावेशिक आठ अभिभ्वायतन हैं; उत्तरोत्तर पूर्व से विशिष्ट हैं (उत्तरोत्तरविशिष्टत्वात्) ।

निरोधविमोक्ष को छोड़कर अन्य गुणों का आश्रय पृथग्जन या आर्य का चित्त सन्तान हो सकता है । निरोधविमोक्ष केवल आर्य सन्तानिक है ।[२]

अब हम इन गुणों के लाभ के प्रकार और उन आश्रयों की परीक्षा करेंगे जो उनका उत्पाद कर सकते हैं ।

३७ ए-बी. निरोध का निर्देश हो चुका है, अन्य का लाभ वैराग्य या प्रयोग होता है ।

निरोधसमापत्ति का वर्णन (२.४३) देखिए; अन्य गुणों का लाभ वैराग्य या प्रयोग से होता है । अभ्यस्त वैराग्य लाभिक हैं, अनभ्यस्त प्रयोग लाभिक हैं (उचितानुचितत्वात्) ।

३७ सी-डी. आरूप्य के गुणों का लाभ त्रैधातुक सत्त्व करते हैं, शेष केवल मनुष्याश्रय से उपलब्ध होते हैं ।

[२१६] आरूप्यधातु के विमोक्ष और कृत्स्नायतन की भावना त्रैधातुक सत्त्व करते हैं । शेष समापत्ति—पहले तीन विमोक्ष, आठ अभिभ्वायतन, आठ कृत्स्नायतन—की भावना केवल मनुष्य कर सकते हैं क्योंकि उपदेश के सामर्थ्य से इन समापत्तियों का उत्पादन होता है (उपदेशसामर्थ्योत्पादात्) ।

यदि ऐसा है तो रूपधातु और आरूप्य धातु की भूमियों में उत्पन्न सत्त्व किस प्रकार स्वभूमि में ऊर्ध्व ध्यान और ऊर्ध्व आरूप्य विशेष का उत्पादन कर सकते हैं ?—हेतुबल से, कर्मबल से, धर्मता से ।

३८ ए-बी. दो धातुओं में हेतुबल और कर्मबल से आरूप्य समापत्ति का उत्पाद होता है ।[३]

---

१. शुआन-चाङ् में यह अन्तिम पद नहीं है ।

२. एकान्तेनार्यसांतानिकत्वात् ।

३. इस प्रश्न का विचार विसुद्धिमग्ग, ४१५ में है ।

रूपधातु और आरूप्यधातु की अधरभूमियों में आरूप्य समापत्ति अथवा आरूप्य की ऊर्ध्व समापत्ति का उत्पादन हेतुबल से होता है[1]—जब पूर्व मत में उनका आसन्न और अभीक्ष्ण अभ्यास होता है।[2] उनका उत्पादन कर्मबल से भी होता है; अर्थात् स्वभूमि (रूपधातु या आरूप्य धातु की अधरभूमि) से ऊर्ध्व विपाक भूमि में अपरपर्यायवेदनीय रूप के प्रत्युपस्थित विपाक से होता है। क्योंकि जो अधरभूमि से'''नहीं है, वह ऊर्ध्वभूमि में उपपन्न नहीं हो सकता।[3]

[२१७] ३८ सी-डी. रूप में इन दो बलों से तथा धर्मता के कारण ध्यानों का उत्पाद होता है।[4]

पूर्वोक्त दो बलों के कारण रूपधातु की अधरभूमि में उपपन्न सत्त्व स्वभूमि में ऊर्ध्वध्यानों का उत्पाद करते हैं और

---

१. हेतुबलात्—हेतु वह आरूप्य समापत्ति है जिसकी वृत्ति संभागहेतु की है, अर्थात् जो नई आरूप्यसमापत्ति का आनयन करता है।

२. आसन्नाभीक्ष्णाभ्यासात्— योगी आरूप्यसमापत्ति में समापन्न होता है; इस समापत्ति से च्युत हो मरण को प्राप्त होता है और (किसी पूर्व कृत कर्म के बल से) रूपधातु के लोक में उत्पन्न होता है, वहाँ वह एक नई आरूप्यसमापत्ति का उत्पादन करेगा क्योंकि पूर्व आरूप्य समापत्ति आसन्न है। कोई योगी आरूप्य समापत्ति में बारम्बार समापन्न होता है; उसका अभीक्ष्ण आभास होता है; वह मरण को प्राप्त हो रूपधातु में उपपन्न होता है; वह वहाँ एक नवीन आरूप्य समापत्ति का उत्पादन करेगा।

इसी प्रकार आकाशानन्त्यायतन में उपपन्न हो योगी वहाँ विज्ञानान्त्य आदि आरूप्य की ऊर्ध्व समापत्ति का उत्पाद कर सकता है।

३. अपरपर्यायवेदनीयस्य ऊर्ध्वभूमिकस्य कर्मणः प्रत्युपस्थितविपाकत्वात्।

किसी ने एक कर्म किया जिसका विपाक आरूप्यधातु में होगा। यह उपपद्य वेदनीय कर्म नहीं है, किन्तु अपर पर्याय वेदनीय कर्म है। अन्य उपपद्य वेदनीय कर्मों के बल से वह प्रथम रूपधातु में उपपन्न होता है। आरूप्यधातु में विपच्यमान कर्म के विपाक के प्रत्युपस्थित होने से यह योगी आरूप्य समापत्ति का उत्पाद करता है। उस कर्म के विपाक के लिए यह आवश्यक है।

क्योंकि स्वभूमि से वीतराग न होने के कारण (अधस्तादु अवीतराग) अर्थात् रूपधातु से विरक्त न होने के कारण यह योगी आरूप्यधातु में उपपन्न नहीं हो सकता था यदि वह आरूप्य समापत्ति द्वारा पूर्वोक्त भूमि से विरक्त न होता।

४. =[ध्यानानि तु रूपधातौ ताभ्यां] धर्मतयापि च॥

५. जब अग्नि संवर्तनी होती है तो कामधातु और प्रथम ध्यान के लोक विनष्ट हो जाते हैं; जब जल संवर्तनी होती है, तब द्वितीय ध्यान के लोक भी विनष्ट हो जाते हैं; जब वायु संवर्तनी होती है, तब तृतीय ध्यान के लोक भी (कोश, ३-१०० सी-डी) विनष्ट हो

[२१८] धर्मताबल[1] से लोक संवर्तनीकाल में भी इस काल में अधरभूमियों के सब सत्त्व ऊर्ध्वध्यानों का उत्पाद करते हैं क्योंकि कुशल धर्मों की वृत्ति उद्भूत होती है।[2]

जाते हैं। इसका यह परिणाम होता है कि संसार का अन्त होने पर सब सत्त्वों को ऐसे धातुओं में उपपन्न होना पड़ता है जो विनाश से सुरक्षित हैं और उसके लिए वे समापत्तियों का उत्पाद करते हैं तो द्वितीय, तृतीय या चतुर्थ ध्यान के लोकों में उनकी उपपत्ति करते हैं।

शुआन चाङ्—धर्मता के बल से जब भाजन लोक विनष्ट होता है। अधरभूमियों के सत्त्वों की ऐसी धर्मता है कि वे ऊर्ध्व ध्यानों का उत्पाद करते हैं क्योंकि इन अवस्थाओं में कुशलधर्म धर्मताबल से उद्भूत होते हैं। दो ऊर्ध्वधातुओं में अर्थात् चतुर्थ ध्यान के लोकों में और आरूप्य में उपपन्न सत्त्व हेतुबल और कर्मबल से आरूप्य समापत्ति का उत्पाद करते हैं; धर्मताबल से नहीं, क्योंकि अनभ्रक आदि देव (चतुर्थ ध्यान) इन संकटों से प्रभावित नहीं होते।

विभाषा, १५३, ६, रूपधातु में उपपन्न सत्त्व पहले ध्यान और आरूप्य ही का उत्पाद क्यों करते हैं, निरोधसमापत्ति का क्यों नहीं करते ?—वे तीन प्रत्ययवश ध्यानों का उत्पाद करते हैं: १. हेतुबल से—पूर्वभव में उन्होंने ध्यानों का उत्पाद निरोध किया है; २. कर्मबल से उन्होंने नियत विपाक कर्म संचित किये हैं और पूर्व इसके कि कर्म ध्यानभूमिक अपर भव में विपच्यमान हो, वह अपना फल प्रदान करेगा; ३. धर्मताबल से—संवर्तनीकाल में अधरभूमियों के सत्त्व अवश्यमेव ऊर्ध्वभूमियों में उपपन्न होते हैं···प्रथम दो प्रत्यय आरूप्यों के उत्पाद के लिए पर्याप्त हैं।

१. व्याख्या—केयं धर्मतानाम। केचित्तावत् सौत्रान्तिका आहुः। एषाम् एव धर्माणाम् उद्भूतवृत्तिनां पूर्वध्यानवासनाधिपत्यात् तदुत्पत्तावुपदेशम् अन्तरेण ध्यानोत्पत्तावानुगुण्यं धर्मता प्रकृतिः स्वभाव इत्यर्थः।। वैभाषिका अपि केचिदाहुः। पौर्वजागरिकात् सभागहेतोः निष्यन्द-फलं ध्यानोत्पादनं तदुपदेशम् अन्तरेणान्यतो धर्मतेति।

धर्मता पर, २.४६, पृ० २३७, ४.१७ ए, २०,५८ (पृ० १२८), ६७, ६.३४ ए।

२. कुशलमां धर्माणाम् उद्भूतवृत्तित्वात्। व्याख्या—कुशलानां कर्मपथानाम् इत्यर्थः। वृत्तिस्तेषां धर्माणां यत् कारित्रम्। उद्भूता उत्कृष्टा वृत्तिर् एषाम् इत्युद्भूतवृत्तयः। तद्भावः। तस्मात्। एतद् उक्तं भवति तेषां कुशलानां प्रकर्षेणात्मलाभात् तदुत्पत्त्यानुगुण्येन आत्मलाभात् तदुपदेशम अन्तरेण अन्यतः पूर्वध्यानवासनायां सत्यां ध्यानोत्पत्तिरिति।

वासना पर ७. पृ० ७०, ७२, ७७ देखिए।

यहाँ कुशलधर्म अधिपति प्रत्यय हैं।

भगवत् का सद्धर्म कितने काल तक अवस्थित रहेगा—कितने काल तक धर्मों के[1] विविध प्रकारों का यथार्थ ज्ञान और दर्शन हो सकेगा ?[2]

३९ ए-बी. शास्ता का सद्धर्म द्विविध है—आगम और अधिगम ।[3] आगम शिक्षा है, , विनय और अभिधर्म ।[4]

[२१९] अधिगम (अर्थात् अर्हत्)[5], यह बोधि पाक्षिक धर्म (६.६७ बी) हैं। तीन ों के आर्य इनकी भावना करते हैं, यह श्रमण्य फल हैं (६ ५१) जिनका लाभ तीन ों द्वारा होता है। ऐसा सद्धर्म है, यह द्विविधात्मक है।

---

१. इम ईदृशा धर्माणां प्रकाराः······=सास्रवानास्रवाणां धर्माणां धातुभूम्यालम्बना-रादिप्रकारा यथायोगम्—जब तक सद्धर्म की अवस्थिति होती हैं, सब धर्म सास्रव और ास्रव—उनकी धातु, उनकी भूमि, उनके आकारादि जाने जा सकते हैं।

२. परमार्थ के अनुसार ।—शुआन-चाङ्—धर्मों के इन विविध प्रकारों का उद्देश्य र्म का विस्तार और उसकी चिरस्थिति है। सद्धर्म क्या है ? इसका अवस्थान कब तक ा ?

३. =[सद्धर्मो द्विविधः शास्तुर् आगमाधिगमात्मकः ।]

सद्धर्म त्रिविध हैं—परिपत्तिसद्धम्म - त्रिपिटक में दिया हुआ बुद्धवचन; पटिपत्तिसद्धम्म ·१३ धुतगुण, १४ खन्धकवत्त, ८२ महावत्त, सील, समाधि और विपस्सना; अधिगम-द्धम्म—४ अरियमग्ग, ४ फल और निर्वाण (समन्तपासादिका, १.२२५) नीचे देखिये २२१ टिप्पणी।

४. अभिसमयालंकारलोक में बारह अंग गिनाये गये हैं—

सूत्रं गेयं व्याकरणं गाथोदानावदानकम् । इतिवृत्तिकं निदानं वैपुल्यं च सजातकम् । उपदेशोऽद्भुता धर्मा द्वादशांगं इदं वचः ।।

५. क्योंकि अधिगम को व्याख्या बोधिपाक्षिक धर्म और ब्रह्मचर्य फल करते हैं, इस-ए अधिगम के लिए बोधिपाक्षिक कोई बुरा शब्द नहीं है। [बोधिपाक्षिकों से ही ब्रह्मचरिय द्रनिय चिरस्थितिक होता है, दीघ, ३.२७] अन्यत्र अधिगम का अर्थ प्रतिवेध-ज्ञान है। धिगम तीन प्रज्ञाओं की व्याख्या में अधिगम और सप्ताभिसमय (६.२७) समानार्थक हैं—जिसमें पूर्वाभ्यास वासना से निर्जात उपपत्ति लाभिक प्रज्ञा का अभाव होता है, उसे बाल हते हैं जिसमें आगम से उत्पन्न [आगमजा] प्रज्ञा का अभाव होता है, उसे अश्रुतवान कहते जिसमें सप्ताभिसमय से उत्पन्न अधिगम से उत्पन्न प्रज्ञा का अभाव होता है, उसे पृथग्जन हते हैं (यस्याधिगमजा सत्याभिसमयजा नास्ति······") (३.२८ ए)।

बोधिसत्त्वभूमि में प्रतिसरण की व्याख्या करते हुए ज्ञान-प्रतिसरण का लक्षण बताया । यह विज्ञान का विपक्ष है। विज्ञान प्रतिसरण नहीं है। बोधिसत्त्वभूमि के अनुसार ज्ञान-तसरण भावनामय ज्ञान अधिगम ज्ञान है (४. अनुवाद १६२, टिप्पणी और नीचे नवाँ ध्याय, अनुवाद, शुआनचाङ्, २९.१५ ए, टिप्पणी)।

३६ सी-डी. जो उसके वक्ता और प्रतिपत्ता हैं, वह उसके धारक हैं ।[1]

---

१. =धातारस्तस्य वक्तारः प्रतिपत्तार एव च ।।

ए. शुआनचाङ् का अनुवाद—"जब तक धाता, वक्ता और प्रतिपत्ता हैं, तब तक धर्म का अवस्थान होगा।" दोनों चीनी अनुवादक तीन प्रकार बनाते हैं—प्रथम दो (धाता और वक्ता) आगम-सम्बन्धी हैं, तृतीय (प्रतिपत्ता) अधिगम-सम्बन्धी हैं। जब तक प्रथम दो प्रकार हैं, तब तक आगम की अवस्थिति होती है; जब तक तृतीय है, तब तक अधिगम की अवस्थिति है। सद्धर्म का अवस्थान इन तीन प्रकार के मनुष्यों के कारण होता है।

परमार्थ में इतना अधिक है—क्यों? क्योंकि सद्धर्म के अवस्थान में दो हेतु हैं—यथार्थवचन, यथार्थग्रहण। अन्य आचार्य कहते हैं कि धर्म का अवस्थान एक सहस्र वर्ष तक है—यह अधिगम के लिए है, आगम के लिए नहीं। आगम का अवस्थान भूमिष्ठ काल तक है।—क्यों? अनागत काल में सद्धर्म के धाता दो प्रकार के होंगे—एक वह जो धर्म श्रमण कर प्रतिपन्न होते हैं, दूसरे वह जो सम्यक् प्रज्ञावश प्रतिपन्न होते हैं। देवगण ऐसे लोगों की रक्षा करते हैं जिसमें आगम और अधिगम का शीघ्र अंतर्हित न हो जाय। इसका फल यह है कि अक्षरतः और अर्थतः भावना और अभ्यास दोनों आवश्यक हैं।

बी. संघभद्र कई स्थलों पर वसुबन्धु के कथन का संशोधन करते हैं और रोचक ब्योरा देते हैं।

भगवान् का सद्धर्म द्विविध है—आगम और अधिगम। आगम सूत्र विनय और अभिधर्म को कहते हैं। अधिगम तीन यानों का अनास्रव मार्ग है [वसुबन्धु के अनुसार अधिगम बोधिपाक्षिक हैं, सब बोधिपाक्षिक आवश्यक रूप से अनास्रव नहीं हैं।] जब तक अधिगम सद्धर्म का इस लोक में अवस्थान होता है, तब तक उससे वृद्धि को प्राप्त हो और सुधृत हो आगम सद्धर्म का भी अवस्थान होता है। इस समय पूर्व देश में अधिगम धर्म का ह्रास है, आगम बहुत कुछ विलुप्त हो रहा है। उत्तर देश में अधिगम धर्म की उन्नति के कारण भगवत् का सदागम विस्तृत और विपुल होता है, फलतः वह तथागत के सम्यक्ज्ञान (······ज्ञानगोचर) का देश है। वहाँ आर्य निवास करते हैं। उस देश में लोगों को अभिधर्म का यथार्थ ज्ञान है, पूर्वादि देशों में नहीं जहाँ आगम और प्रतिपत्ति सम्भव नहीं हैं (??)—संसार में चिरस्थिति के लिए आगमधर्म प्रधानतः धाता (धातर-जिन्होंने अध्ययन किया है) और वक्ता पर निर्भर करता है। अधिगम की चिरस्थिति केवल प्रतिपत्ताओं पर निर्भर है। किन्तु प्रतिपत्ता अधिगम के ही धारक नहीं हैं, आगमधर्म भी प्रतिपत्ताओं पर आश्रित है। जब तक मनुष्य अविपरीत भाव से धर्म की प्रतिपत्ति करते हैं; तब तक अधिगम का अवस्थान होता है; जब तक अधिगम का अवस्थान होता है, तब तक आगम की अवस्थिति होती है।

[पूर्व में धर्म के लोप के सम्बन्ध में कृकिन गीतों से तुलना कीजिए। महीशासकों का विनय, नन्जिओ ११२२; शवान्नेस (chavannes) ५०० अवतरण, २.३४८।—ग्यारहवें गीत (जल प्रदेश जिसका मध्य विक्षुब्ध है और प्रान्तभाग कर्दम कलुषित है) का अर्थ है कि

[२२०] जो सूत्रादि सद्धर्म का उपदेश करते हैं, वह आगमात्मक सद्धर्म के धाता हैं। जो सद्धर्म के प्रतिपत्ता हैं, जो बोधिपाक्षिक धर्मादि की भावना या साक्षात्कार करते हैं, वह अधिगमात्मक सद्धर्म के धाता हैं। जब तक ऐसे लोग संसार में हैं, तब तक सद्धर्म का अवस्थान है।

[संयुक्त, २५; २०] में सामान्यतः कहा है कि सद्धर्म निर्वाण के पश्चात् सहस्र वर्ष तक अवस्थान करेगा। यह संख्या अधिगम के लिए है[1], आगम इससे भी अधिक काल तक अवस्थान करता है।[2]

मध्यमण्डल में सद्धर्म का शनैः-शनैः लोप आरम्भ होगा और सीमा-प्रदेशों में इसकी उन्नति होगी।

१. व्याख्या इस अर्थ का अनुमोदन करती है—एष एव पक्षो युक्त इति पश्यामः।

२ ए. धर्म स्थिति में हेतु (बुद्ध के लिए गौरव; वर्ष का कोई उल्लेख नहीं) अंगुत्तर, ४.८४—अनागतभय, ३.१०५, १०८ आदि। कतिपय बुद्धों का सद्धर्म चिरकाल तक क्यों अवस्थान करता है? सुत्तविभंग, पाराजिक, १.३,३, समन्तपासादिका, १.१८४, कोश, ६, पृ० ८१।

अर्हत् धर्म की स्थिति के लिए अपनी आयु की वृद्धि करते हैं, कोश, २ अनुवाद पृ० १२१।—सद्धर्म की रक्षा मनुष्य और देवता करते हैं, संयुक्त; २५,१—लेवी (Levi) और शवान्नेस (Chavannes) अर्हत् जे० ए एस १६१६, २.६; जे० प्रिशिलुस्की, अशोक, अवतरण ७, सद्धर्म के अन्तिममान विद्या-सम्बन्धी विचारों का विकास और २०७, ३६६, ४५२ भी।

बी. चुल्लवग्ग, १०.१,६—"यदि स्त्रियों का संघ में प्रवेश न हुआ होता तो यह ब्रह्मचारिय अधिक काल तक अवस्थान करता—सहस्र वर्ष तक अवस्थान करता; किन्तु उनका संघ में प्रवेश होने से सद्धम्म अधिक काल तक अवस्थान नहीं करेगा। सद्धर्म ५०० वर्ष तक अवस्थान करेगा।—[न भिक्षुणीकर्मवाचना (बुलेटिन स्कूल ओरियंटल स्टडीज़, १६२०, १२५) और न रॉकहिल की 'लाइफ', पृ० ६० में वर्ष का उल्लेख है]।

पि-नि-माओ-किय (नन्जिओ, ११३८) का भी यही मत है जहाँ काश्यप ने कारण का निर्देश किया है (प्रिशिलुस्की, अशोक, १७३); मध्यम; २८,१७ (किओकुमा सेकी द्वारा उद्धृत) भी देखिये। महीशासक निकाय का विनय (३२,३, कोश के जापानी सम्पादक द्वारा उद्धृत)—"यदि भिक्षुणी आठ गुरुधर्मों का पालन करें तो सद्धर्म सहस्र वर्ष अवस्थान करेगा।" सर्वास्तिवादी के विनय में (आनन्द का निर्णय) सद्धर्म के अवस्थान की अवधि सहस्र वर्ष की है क्योंकि स्त्रियों को संघ में स्थान दिया गया है। प्रथम महासंगीति-सम्बन्धी अन्य ग्रन्थों में भी यही मत प्रकाशित किया गया है। (प्रिशिलुस्की, वही)

अशोकावदान और अनेक अन्य ग्रन्थ एक सहस्र वर्ष देते हैं; महामायासूत्र, नन्जिओ ३८२, पन्द्रह सौ वर्ष (प्रिशिलुस्की, १६१-१७३), नन्जिओ, १२३।

[२२१] प्रस्तुत ग्रन्थ, अभिधर्मकोश, अभिधर्म [=शास्त्र] पर आश्रित है और अभिधर्म (देखिये १.२ सी) का अर्थ इसमें वर्णित है।

[२२२] [किन्तु अभिधर्म की देशना के अनेक प्रकार हैं] इस ग्रन्थ में किस नीति के अनुसार अभिधर्म की देशना की गई है ?[१]

इत्सिंग (तककुसु, १०६) विनय से उद्धृत करते हैं—"जब तक कर्माचार्य (विनय-धर) होगा, मेरा सद्धर्म विनष्ट न होगा। जब कोई ऐसा पुरुष न रहेगा जो कर्मन् को धारण करे, उसे आश्रय दे तो मेरा धर्म विनष्ट होगा" और आगे जब तक मेरे शिक्षा-पद वर्तमान हैं, तब तक मैं जीवित हूँ"।—सुमंगलविलासिनी, १.११।

सी. पाँच उत्तरोत्तर लोप=अधिगम, परियत्ति, पटिपत्ति, लिंग, धातु, मनोरथ-पुराणी, १.८७, अनागतवंश (मिनयेव, जेपीटीएस, १८८६ और वारेन, ४८१)।

तीन लोप—अधिगम, पटिपत्ति, लिंग, मिलिन्द, १३३। बुद्ध की छाया का लोप··· और कितने अर्हत् ऐसे हैं जो सद्धर्म की रक्षा कर सकते हैं ? एक शास्त्र में कहा है—"महा-सिंह की आँखें मुद गई हैं और साक्षीजन एक-एक करके अंतर्हित हो गये हैं······"

I tsing, तककुसु, पृ० १०६ [नीचे पृ० २२४ से तुलना कीजिए]।

वज्रच्छेदिका टीका १६ आगे २३४ ए, वज्रच्छेदिका की व्याख्या करते हुए कहती है (पृ० २२), पश्चिमे काले पश्चिमे समये पश्चिमायां पंचसत्यां सद्धर्मविप्रलोपकाले वर्तमाने—"यह प्रसिद्ध है कि भगवत् की शिक्षा की अवस्थिति ५०० × ५ वर्ष है, इसलिए ग्रन्थ निर्दिष्ट करता है कि—अन्तिम ५०० वर्ष में क्योंकि उस समय पाँच कषाय की वृद्धि होती है (३.४ सी, ९३ ए)"।

नन्जिओ (मैक्समूलर, एस बी ई, ४९, पृ० ११६) महासन्निपातसूत्र (नन्जिओ ६१) ५१ एम ई सेक्शन का उल्लेख करता है—पहले ५०० वर्षों में भिक्षु और अन्य पुद्गल स्थिरमति (क्या यह अर्थ है कि वे सत्याभिसमय का लाभ करेंगे ?) होंगे; दूसरे ५०० वर्षों में वे समाधि ध्यान में निपुण होंगे; तृतीय में श्रुत में, चतुर्थ में संघाराम के निर्माण में; पाँचवें में कलह और परिभाषा में शुक्लधर्म लुप्त हो जायेगा।

डी. संयुक्त, ३२,३—"जिस काल में काश्यप का सद्धर्म लुप्त होता है, उस समय एक प्रतिरूपक धर्म उत्पन्न होता है; जब इसकी उत्पत्ति होती है, तब समझना चाहिए कि सद्धर्म अन्तर्हित हो गया।"—सद्धर्मपुण्डरीक, ६७, ७—पद्मप्रभ का सद्धर्म ३२ अन्तरकल्प तक अवस्थित रहेगा; जब उसका लोप होगा, सद्धर्म प्रतिरूपक उतने ही कल्प अवस्थान करेगा"; ३७७—"जब जितस्वराज का सद्धर्म विनष्ट हुआ, जिस काल में सद्धर्म-प्रतिरूपक विलुप्त हुआ: क्योंकि इस शासन में ऐसे भिक्षुओं की बहुलता हो गई थी जो अपने को ऐसे ऋद्धिपाक्षों से समन्वागत बताते थे जो उनमें नहीं थे···।"

१. शुआन-चाङ् के अनुसार—परमार्थ—मैंने ह्रस्व ग्रन्थों में भगवत् बुद्ध के धर्म का वर्णन किया है। मैंने इसे सौत्रान्तिक नय के अनुसार दिया है या वैभाषिक नय के

४०. काश्मीर के वैभाषिकों के नय से जो अभिधर्म सिद्ध है, उसके अनुसार मैंने ायः अभिधर्म का वर्णन किया है। जो कुछ इसमें दुर्गृहीत है, उसमें मेरा [अवश्यम्भावी] पराध है क्योंकि सद्धर्म के वर्णन में केवल मुनि ही प्रमाण हैं।[1]

[२२३] मैं इस अभिधर्म का [जो] काश्मीर के वैभाषिकों के नय के अनुसार यवस्थित है, सामान्यतः वर्णन किया है। मैंने इसमें जो कुछ और आगे प्रगृहीत किया है, उसमें मेरा दोष है, सद्धर्म के वर्णन में केवल बुद्ध और बुद्धपुत्र प्रमाण हैं।[2]

ानुसार ? व्याख्या के अनुसार—मैंने यहाँ अर्थात् अभिधर्म कोश में जिस अभिधर्म की देशना ी है, वह क्या ज्ञान प्रस्थानादि शास्त्र वर्णित अभिधर्म है ?

१. काश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धः
प्रायो मयायं कथिततोऽभिधर्मः।
यद् दुर्गृहीतं तद् इहास्मदागः
सद्धर्मनीतौ मुनयः प्रमाणम् ॥

[परमार्थ—सद्धर्म दुर्गृहीत मद्दोषः। नेतुं धर्मसंनीति मुनयः प्रमाणम्।—शुआनचाङ् ा अनुवाद—दुर्गृहीत=गर्हीर्ह—प्रमाणः।] व्याख्या—योऽयम् इति विस्तरः। योऽयम् हाभिधर्मकोशलक्षणोऽभिधर्म उक्तः किम् एष एव शास्त्राभिधर्मो ज्ञानप्रस्थानादिलक्षणो शितोऽत इदम् उच्यते। काश्मीर वैभाषिकनीतिसिद्ध इति विस्तरः। काश्मीरे भवाः ाश्मीराः। विभाषया दीव्यन्ति वैभाषिका इति व्याख्यातम् एतत्। सन्ति काश्मीरा न 'भाषिक ये विनयचिन्तादयः सौत्रान्तिका भदन्तादयः। सन्ति वैभाषिका न काश्मीरा ये हिर्देशका इति उभयविशेषणम् ॥ तेषां नीत्या यः सिद्धोऽभिधर्मः स प्रायेणेह मया देशितः। र्थात् उक्तं भवति। अन्यनीतिसिद्धोऽपि देशित इति ॥ यद् दुरगृहीतं काश्मीरवैभाषिकनये- ान्यनयेन वा तद् इहवचनेऽस्मदागोऽस्मदपराधः ॥ किं कारणम् इत्याह। सद्धर्मनीतौ मुनयः माणम् इति। सद्धर्मस्यागमाधिगमलक्षणस्य नीतौ वर्णने मुनयो बुद्धा भगवन्तो बुद्धपुत्राश्- ार्यशारद्वतीपुत्रादयः प्रमाणं सर्वाकारसर्वधर्मावबोध आप्ता इत्यर्थः।

२. ए. शुआन-चाङ्—"काश्मीर के वैभाषिकों का (किओकुगा सेकी के अनुसार पाँच ौ अर्हत्) अभिधर्म-वर्णन यथार्थ व्यवस्थापित है। [यहाँ कदाचित् 'सिद्ध' शब्द का अर्थ मझने में भूल हुई है।] उनका आधार लेकर मैंने सामान्यतः अभिधर्म का वर्णन किया है। समें जो कुछ सदोष है, वह मेरा दोष है। केवल बुद्ध और महाश्रावक धर्म का निर्णय करने प्रमाण हैं।"

बी. संघभद्र (२३·८, ८४ बी)—"⋯उनके आधार पर ही मैंने सामान्यतः अभिधर्म ा वर्णन किया है। यहाँ सौत्रान्तिक [=वसुबन्धु] अपने मूल विचार को यह कहकर मझाते हैं कि जिस महाविभाषा में इस देश के सौगतों के अभिधर्म वर्णित हैं, उनका ाधार लेकर और उसके अर्थ को यथावत् जानने का प्रयत्न कर, जिसमें सत्त्वों के हित-सुख लिए सद्धर्म का चिरकाल तक अवस्थान हो, मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ ा अधिकांश [विभाषा की] नीति को बताता है; एक अत्यन्त लघु भाग अन्य नयों के

[२२४] लोक के चक्षु शास्ता की आँखें निमीलित हो गई हैं, साक्षिजन प्रायः विनष्ट हो गये हैं जिन्होंने तत्त्वदर्शन नहीं किया है, जो कुतार्किक हैं, निरंकुश, स्वेच्छाचारी हैं, उन्होंने शासन को आकुल कर दिया है।

भगवत् जो स्वयम्भू हैं, परमशान्ति को प्राप्त हो चुके हैं, उनके शासन के धाता भी परिनिर्वृत्त हो चुके हैं, संसार अनाथ हो चुका है। वह दोष जो गुणों के घातक हैं, संप्रति यथेच्छ संचरण करते हैं।

यह देखते हुए कि मुनि के धर्म का प्राण कण्ठ तक आ गया है और इस काल में

अनुसार है, यथास्थान रूप (संस्थानरूप, ४ अनुवाद, पृ० ८-९), अतीत और अनागत (५.२७) आदि। किन्तु धर्मों का स्वभाव अत्यन्त गम्भीर है; मेरी बुद्धि दुर्बल है। मैं (यथाभूतवादी) की खोज के लिए सतत प्रयत्न नहीं कर सकता। अतः यदि इस बृहत् ग्रन्थ में वर्णित नीति का एक छोटा भाग मुझसे दुर्गृहीत हुआ है (दुर्गृहीत=गही=प्रमाण विवादग्रस्त प्रमाण, कदाचित् इसका अर्थ इस प्रकार है—"यदि मैंने कभी अयथार्थ सिद्धान्त दिये हैं...") तो यह मेरा दोष है। धर्मों का अर्थ विपुल गम्भीर है...ज्ञान-संभार का संचय कर बुद्ध ज्ञान के प्रत्येक विषय को जानते हैं। प्रत्येक बुद्ध धर्मों के स्वभाव का विनिश्चय नहीं कर सकते—श्रावक तो और भी नहीं कर सकते, क्योंकि जिस धर्म का वह साक्षात्कार करते हैं, वह शिक्षा पर निर्भर करता है। इसलिए धर्मों का विनिश्चय करने के लिए केवल महामुनि हैं। उनसे हमको ज्ञात हुआ है कि अभिधर्म यथार्थ में बुद्ध-वचन है। इसे श्रद्धा के साथ हमें स्वीकार करना चाहिए, यथार्थ रीति से इसकी भावना—ध्यान करना चाहिए और निर्वाण के लिए सतत प्रयत्न करना चाहिए, प्रमाद नहीं करना चाहिए।"

सी. परमार्थ—काश्मीर के वैभाषिक द्विविध* से समन्वागत हैं। मैंने सामान्यतः इस अभिधर्म को—अभिधर्मकोश को उनकी नीति के अनुसार वर्णित किया है। यदि वहाँ कुछ दुर्गृहीत हो तो यह मेरा दोष है। द्विविध के अभाव में जिनसे ही सद्धर्म का यथार्थ विनिश्चय हो सकता है, केवल भगवान् बुद्ध प्रमाण हैं। क्यों? क्योंकि वह तत्काल ही सर्वधर्मों का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं। बुद्ध के आर्यश्रावक आगम और मार्ग से अन्यत्र सद्धर्म के यथार्थ विनिश्चय के लिए स्वल्पमात्र भी प्रमाण नहीं हैं।

* यह द्विविध क्या है (=साक्षिन्, प्रतिभू आदि)? कदाचित् वह लोग जो आगम और अधिगम से समन्वागत होते हैं (जैसा ८.३९ ए में बताया है), अन्य शब्दों में आगम और मार्ग (जैसा नीचे पृ० २२४ टि० १.५ में है)।

मलों का प्राबल्य है, मुमुक्षुओं को प्रमाद नहीं करना चाहिए।[1]

निमीलिते शास्तरि लोकचक्षुषि
क्षयं गते साक्षिजने च भूयसा।
अदृष्टतत्त्वैर्निरवग्रहैः स्वयं
[कुतार्किकैः] शासनम् आकुलं कृतम्॥
गते हि शान्तिं परमां स्वयम्भुवि
[स्वयम्भुवः शासनधारकेषु च।
जगत्यनाथे गुणघातकैर् (?)] मलैर्
निरंकुशैः स्वैरम् इहाद्य चर्यते॥
एवं कण्ठगतप्राणं [विदित्वा मुनिशासनम्]।
मलानां बलकालं च न प्रमाद्यं मुमुक्षुभिः॥

इत्सिंग, तककुसु, पृ० १०६ में प्रथम श्लोक उद्धृत है।

व्याख्या—निमीलिते शास्तरि लोकचक्षुषीति। परिनिर्वृते भगवति लोकस्य चक्षुर्भूते मार्गामार्गसंदर्शके। अनेनान्धभूततां लोकस्य दर्शयति॥ क्षयं गते साक्षिजने च भूयसेति। साक्षाद्द्रष्टरि साक्षी। मार्गामार्गज्ञो भगवान् इति येऽधिगततत्त्वा भगवतः साक्षिजनः सहायभूतः। तस्मिन् परिनिर्वाणे क्षीणे। अविद्यान्धादृष्टतत्त्वैर् निरवग्रहैर् निरंकुशैः स्वयंदृष्टिकतया कुतर्कापन्नैर् भवद्भिर् भगवतः शासनं ग्रन्थतश्चार्थतश्चाकुलं कृतम्॥ गते हि शान्तिं परमां स्वयम्भुवीत्यादि पूर्वश्लोकोक्तस्यार्थस्य हेतुरूपोऽयं द्वितीयः श्लोक उपन्यस्यते। बुद्धबुद्धपुत्रेषु हि परिनिर्वृतेष्वनाथज्जगति शासनान्तर्धानहेतुभिर् दृष्ट्यादिभिर्मलै-र्दोषैर्निरंकुशैः स्वयं यथेच्छम् इह लोकेऽद्य सम्प्रति चर्यते। भावसाधनम् एतत्॥ ततश्चैवं कण्ठगतप्राणम् इवेत्यर्थः। तद् विदित्वा। बलकालं च मलानां दोषाणां न प्रमाद्यं मुमुक्षुभिरिति भावसाधनम् इति।

नवम कोशस्थान

पुद्गल-प्रतिषेध प्रकरण

प्रारम्भिक सूचनायें

[२२७] १. तिब्बती भाषान्तर के अनुसार—"पुद्गल प्रतिषेध विनिश्चय नामक नवम कोशस्थान" (कोर्दियर, पृ० ३६४)।

किन्तु भाष्य के आठवें कोशस्थान की समाप्ति में कहा है कि अभिधर्मकोश इस कोशस्थान से समाप्त हुआ।—[अभिधर्मकोशभाष्ये समापत्तिनिर्देशो नाम अष्टमं कोशस्थानम्। समाप्तोऽयम् अभिधर्मकोशः]।

व्याख्या की समाप्ति के अनुसार—"आठवें स्थान से संबद्ध पुद्गल विनिश्चय" (अष्टकोशस्थानसंबद्ध एव पुद्गलविनिश्चयः)।

भाष्य के अनुसार—"पुद्गल-प्रतिषेध प्रकरण (४·७३, पृ० १५४) अथवा आत्मवाद-प्रतिषेध (५·२७, पृ० ६३)।

कुछ टीकाकारों के अनुसार नवें कोशस्थान का अन्तिम श्लोक समग्र ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक है, दूसरे जो अधिक बुद्धिमान प्रतीत होते हैं, उसे केवल पुद्गल-प्रतिषेध से सम्बन्धित करते हैं।

हमको यह स्पष्ट मालूम होता है कि अभिधर्मकोश जिसमें वैभाषिक नीति के अनुसार अभिधर्म के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है, कारिका ८·४० में समाप्त होता है। उक्त कारिका के बाद वह श्लोक आते हैं जो पृष्ठ २२४ में अंकित हैं, इनसे ग्रन्थ की समाप्ति होती है। तथाकथित नवें कोशस्थान में कोई कारिका नहीं है, यहाँ वसुबन्धु उन सिद्धान्तों का निर्देश करते हैं जिनमें से कई वैभाषिकों और सौत्रान्तिकों को ज्ञात है, किन्तु वह प्रायः सौत्रान्तिक मत का ही समर्थन करते हैं। संघभद्र ने नवें कोशस्थान का विचार नहीं किया है।

हमको मानना चाहिए कि पृष्ठ २२४ के श्लोकों से ग्रन्थ का अन्त होता है। परमार्थ आठवें कोशस्थान के अन्त में इन श्लोकों को देते हैं। इसके विरुद्ध शुआन-चाङ् इन्हें नवें प्रकरण के आरम्भ में देते हैं। इसका कारण स्पष्ट है, 'पुद्गल-प्रतिषेध प्रकरण' हम कह सकते हैं कि इन श्लोकों से संबद्ध है (देखिये पृ० २३०, टि० १)।

२. वसुबन्धु पुद्गलवादियों के सिद्धान्त का प्रतिषेध करते हैं और उनको वात्सीपुत्रीय बताते हैं। व्याख्या के अनुसार वात्सीपुत्रीय आर्य साम्मतीय हैं—वात्सीपुत्रीया आर्यसाम्मतीयाः (पृ० २३२, टि० २) (वसुमित्र, भव्य, विनीतदेव)। उन सम्प्रदाय या निकायों की गणना में एक मत नहीं है जो पुद्गलवादी हैं। निर्वाण, १९२५, पृ० ३४ में और वसुमित्र के ग्रन्थ में कुछ सूचनायें मिलेंगी। हम इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने की आशा

रखते हैं। यह एम० जे० प्रिशिलुस्की द्वारा सम्पादित बौद्धधर्म के अध्ययन की सामग्री के संग्रह में प्रकाशित होगा।

यह प्रश्न पूछा गया कि पुद्गलवादी बौद्ध हैं या नहीं।—यशोमित्र

[२२८] बहुत स्पष्ट है—न हि वात्सीपुत्रीयाणां मुक्तिर् नेष्यते बौद्धत्वात्—"यह हम नहीं कह सकते कि वात्सीपुत्रीय मुक्ति नहीं पा सकते क्योंकि वह बौद्ध हैं"। (पृ० २३२, टि० २ देखिये)। इस मत का विरोध पृ० २७३ में पाया जाता है (शुआन-चाङ्, ३० आगे ६ बी) और अन्त के श्लोकों में जहाँ पुद्गलवादियों की गणना तीर्थिकों में की है।

इस प्रचलित मत को व्यक्त करता है कि सम्मितीय के पाँच निकाय जो आत्मवादी हैं, बौद्ध नहीं माने जा सकते (वास्सीलीव, पृ० २७०)। शान्तिदेव (बोधिचर्यावतार, ९ ६०) "अन्तश्चरतीर्थिक पुद्गलवादी पुद्गल नामक आत्मा को मानते हैं और कहते हैं कि यह आत्मा न स्कन्धों से अभिन्न है और न भिन्न है, अन्यथा यह प्रकट हो जाय कि वह तीर्थिकों के सिद्धान्तों में अभिनिवेश रखते हैं।" वह अपने को बौद्ध-सौगतम्मन्य कहते हैं।

चन्द्रकीर्ति (मध्यमकावतार, ६·८६)—"तीर्थिकों को पुद्गल आदि इष्ट हैं। यह देखकर कि पुद्गल तथा अन्य कल्पित धर्मों का कोई कारित्र नहीं है, बुद्ध की प्रतिज्ञा है कि केवल चित्त का कारित्र है—'तीर्थिक' कहना एक सामान्य वचन प्रकार है क्योंकि कुछ ऐसे बौद्ध इस धर्म को माननेवाले हैं जो पुद्गलवादी हैं। एक प्रकार से (एक प्रकारेण) वह बौद्ध नहीं हैं क्योंकि तीर्थिकों की तरह वे शिक्षा का अर्थ यथावत् नहीं जानते। फलतः [तीर्थिक] नाम सबके लिए प्रयुक्त होता है। रत्नावली में कहा है—"लोक यथा सांख्य वैशेषिक निर्ग्रन्थ पुद्गल स्कन्ध तथा अन्य धर्मों में प्रतिपन्न है। हम उनसे पूछते हैं कि वह आत्म-अनात्म का समतिक्रमण करने के उपाय बताते हैं या नहीं [अथवा वह भव के अस्तित्व और नास्तित्व का समतिक्रमण करते हैं या नहीं]......।" इसलिए जो स्कन्धादि में प्रतिपन्न हैं, उन्हें बाह्य समझना चाहिए। [हम देखते हैं कि स्कन्धादि अर्थात् हीनयानवादी भी पुद्गलवादी के समान सद्धर्म के समान हैं।]

३. तिब्बती संस्करण और चीनी (महाव्युत्पत्ति २०७,७) के अनुसार 'पुद्गल' शब्द का प्रसिद्ध निर्वचन—पूर्यति गलति च (सर्वदर्शन, शरद्चन्द्र दास, एस० लेवी, सूत्रालंकार का अनुवाद, पृ० २१९: "जिसके अप्रज्ञ की वृद्धि होती है, प्रज्ञ का ह्रास होता है और इसका विपर्यय")। बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, ३१० पुनृति उच्चति निरयो तस्मिन् गलन्तीति पुग्गला।

अभिसमयालंकारलोक, अष्टसाहस्रिका, १९,२, को समझते हुए निम्नलिखित निर्वचन की प्रस्तावना करता है—पुनः पुनर् गतिषु लीयते, इसकी छाया शुआन-चाङ् के अनुवाद में मिलती है—"जो अनेक पुनर्भवों में गतियों में लीन होता है।"

अष्टसाहस्रिका—सत्त्वदृष्ट्या जीवदृष्ट्या पुद्गलदृष्ट्या भवदृष्ट्या विभवदृष्ट्या उच्छेददृष्ट्याः शास्वतदृष्ट्याः स्वकायदृष्ट्या एतासां एवमाद्यानां दृष्टिनां प्रहाणाय धर्मं देशयिष्यतीति तेनार्थेन बोधिसत्त्वो महासत्त्व इत्युच्यते।

आलोक—तत्राहंकाराधानार्थेन आत्मा। आहितोऽहंकारा एतस्मिन्न इति कृत्वा। सीदनात्मकत्वात् सत्त्वः। जीवितेन्द्रियवशेन निकायसभागे परिसमाप्ते वर्तत इति जीवः।

[२२६] पुनः पुनर् गतिषु लीयत इति पुद्गलः। आविर्भवतीति भवः। तिरोभवतीति विभवः। नास्तीदानीम् अभूतपूर्वम् इत्युच्छेदः [प्रसज्यते] अस्ति यच् [च] स्वभावेन न तन्नास्तीति शाश्वतः। आत्मात्मीयाकारेण पंचस्कन्धदर्शनम्। एवमाद्यानां दृष्टीनाम्......। सत्त्व का निर्वचन कोश, ५·७, पृ० १६ (एल० लेवी का पाठ) में हम पढ़ चुके हैं। बुद्धघोष सत्त की व्युत्पत्ति सक्त आदि से बताते हैं।

पुद्गल के समानार्थक अन्य शब्दों के लिए नीचे पृ० २४५ (शुआन-चाङ्, २६, १४ बी अन्त में) देखिये।

४. प्रस्तुत पुद्गल प्रतिषेध प्रकरण से जिन ग्रन्थों की तुलना करना चाहिए, उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—१. कथावस्तु, १·१ (एस० जे० ओङ् का अनुवाद और श्रीमती रीज डैविड्स, प्वाइन्ट्स ऑफ कॉन्ट्रोवर्सी); २. विज्ञानकाय, नञ्जिओ १२८१, उकरण २ (एशियाटिक्स, १६२५, १, पृ० ३५८-३७६ में इसका अनुवाद या विवरण है); ३. सम्मितीयशास्त्र, नञ्जिओ १२७२ (जिसका एक विश्लेषण प्रिशिलुस्की के "कलेक्शों द मात्तेरियो पूर लेट्वीड द बुद्धिज्म" में प्रकाशित हो जायेगा।) वसुबन्धु ने इन अन्तिम दो ग्रन्थों की सहायता ली है—इस विषय की कुछ सूचनायें हमारे अनुवाद की टिप्पणियों में दी गई हैं। दूसरी ओर, असंग का सूत्रालंकार (एस० लेवी, १६०७-१६११ द्वारा सम्पादित और अनूदित) १८·६२-१०३ कुछ अंश में वसुबन्धु के ग्रन्थ पर आश्रित है—उदाहरण के लिए हम अग्नि और इंधन के सम्बन्ध को विवाद का उल्लेख करते हैं, एक ही शास्त्र-वचनों का प्रमाण दिया गया है और समान रूप से पुद्गल का अकारित्र सिद्ध किया गया है।

यह भी स्पष्ट है कि शान्तिदेव (बोधिचर्यावतार, उदाहरणार्थ ६·७३) और उनके टीकाकार वसुबन्धु के ऋणी हैं। मध्यमक—आत्मा के संसरण की अकर्मण्यता नहीं है तथा अग्नि और इंधन पर जो विचार हैं, उनका उल्लेख मध्यमकसूत्र, १०·१४, १६·२ में पाया जाता है। मध्यमकावतार में चन्द्रकीर्ति ने पुद्गल-प्रतिषेध का जो व्याख्यान किया है, वह हम कहेंगे, बहुत कुछ वसुबन्धु से लिया गया है, उदाहरण के लिए ६·१४६—"कुछ को पुद्गल का वस्तु सत् होना इष्ट है यद्यपि पुद्गल के सम्बन्ध में वह यह नहीं कह सकते कि यह स्कन्धों से अभिन्न है या भिन्न, नित्य है या अनित्य; यह छह विज्ञानों से जाना जाता है, यह आत्मदृष्टिका का आलम्बन है।"

वसुबन्धु अपने इस छोटे से प्रकरण में पुद्गलवादियों का ही निषेध नहीं करते जो तीर्थिक होते हुए भी अपने को बौद्ध कहते हैं, किन्तु तीर्थिक वैयाकरण सांख्य का और वैशेषिकों का भी निराकरण करते हैं। वह वार्षगण्य (५·२७, अनुवाद पृ० ६३) का उल्लेख करते हैं, इन तीर्थिकों की दृष्टि के सम्बन्ध में कुछ सूचनायें देते हैं जिनकी तुलना परमार्थ

(और तककुसु तुंगपाओ, १९०४ जे आई एस, १९०५) द्वारा उपनिबद्ध आम्नाय से की जा सकती है।

५. पुद्गलवादियों की एक युक्ति जिसका उल्लेख यहाँ नहीं है, १.४२ (पेट्रोग्राद संस्करण, पृ० ८५) में सूचित की गई है। सूत्र वचन है—चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा न निमित्त-ग्राही······"चक्षु से रूपों को देखकर वह निमित्त का ग्रहण नहीं करता······"। क्योंकि आँख देखती है, इसलिए पुद्गल आँख से देखता है=यस्मात् चक्षुः पश्यति तस्मात् पुद्गलश्चक्षुणा पश्यति। नीचे पृ० २४४, टि० ३। वसुबन्धु च्युति किसकी बताते हैं—चित्त की या पुद्गल की। यह दो विकल्प ३.४३ ए की व्याख्या में उल्लिखित हैं।

बुद्धघोष की मनोरथपूरणी, १.९५ हमें बताती है कि भगवान् पुद्गल का क्यों उल्लेख करते हैं यद्यपि पुद्गल का अस्तित्व नहीं है, वह ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जो वसुबन्धु का समर्थन करते हैं।

[२३०] क्या इसलिए इस धर्म से अन्यत्र अर्थात् बौद्धधर्म के बाहर अन्य धर्मों का अवलम्बन कर मोक्ष नहीं है?[1]—इस मत से अन्यत्र मोक्ष नहीं है क्योंकि वितथ आत्म-दृष्टि में[2] अभिनिवेश होने से मतान्तर दूषित है। जो आत्मा अन्य मतों को इष्ट है, वह स्कन्ध सन्तान के लिए प्रज्ञप्तिमात्र नहीं है, किन्तु वह स्कन्ध व्यतिरिक्त वस्तु सत् आत्मा है। आत्मग्राह के बल से क्लेशों[3] की उत्पत्ति होती है, भवत्रय परिवर्त या त्रैधातुक चक्र का प्रवर्तन होता रहता है; मोक्ष असम्भव है।

---

१. किं खल्वतोऽन्यत्र मोक्षो नास्तीति। न प्रमाद्यं मुमुक्षुभिरिति वचनाद् अयम् एव मोक्षोपायो नास्त्यतोऽन्यो मोक्षोपायस्तद् अत्र मोक्तुकामैः प्रमादो न कर्तव्य इत्यर्थाद् उक्तम् आचार्येण। चोदकः पृच्छति किं खल्वत्र इति विस्तरः।

वसुबन्धु (पृ० २२४) कहते हैं कि "जो मुमुक्षु हैं, उनको प्रमादरहित होकर इस अभिधर्म का अभ्यास करना चाहिए।" इसका यह अर्थ है कि "इस धर्म से अन्यत्र मोक्ष नहीं है।" चोदक पूछता है—"क्या इसलिए मोक्ष नहीं है"···।

२. वितथात्मदृष्टिनिविष्टत्वाद् इति वितथायाम् आत्मदृष्टौ निविष्टाः कुतीर्थ्याः···

यह युक्ति है—नास्ति कपिलोलूकादीनां मोक्षः। वितथात्मदृष्टिनिविष्टत्वाद् अदृष्टतत्त्वपुरुषवत्। आत्मग्राहप्रभवाश्च क्लेशाः।

३. स्तोत्रकार (=मातृचेट, ताकाकुसु, इत्सिंग, पृ० १५६) का इस विषय पर निम्न श्लोक है—

साहंकारे मनसि न शमं याति जन्मप्रबन्धो
नाहंकारश्चलति हृदयाद् आत्मदृष्टौ च सत्याम्।
अन्यः शास्ता जगति च यतो नास्ति नैरात्म्यवादी
नान्यस्तस्माद् उपशमविधेस्त्वन्मताद् अस्ति मार्गः॥

"जब तक मन (मनस्=चित्त) अहंकार-सहगत होता है, तब तक जन्म-प्रबन्ध का विरोध नहीं होता। जब तक आत्मदृष्टि रहती है, तब तक अहंकार हृदय से दूर नहीं होता।

[२३१] हम यह कैसे जानते हैं कि आत्माभिधान स्कन्ध सन्तान के लिए ही प्रयुक्त होता है, दूसरे अभिधर्म के लिए नहीं और आत्मा नाम का कोई पदार्थ सम्भवत: नहीं है ?[1]—क्योंकि स्कन्ध व्यतिरिक्त किसी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि किसी प्रमाण से नहीं होती, न प्रत्यक्ष प्रमाण से, न अनुमान प्रमाण से ।[2] यदि अन्य भावों[3] के समान आत्मा का पृथक् सद्भाव है तो इसकी उपलब्धि या तो प्रत्यक्ष ज्ञान से होनी चाहिए जिस प्रकार पंचेन्द्रियविज्ञान तथा मनोविज्ञान[4] के विषयों की उपलब्धि होती है, अथवा अनुमानज्ञान से होनी चाहिए जिस प्रकार सूक्ष्म रूपीन्द्रियों की उपलब्धि होती है ।

वास्तव में पंचेन्द्रिय का ज्ञान अनुमान से होता है । लोक में देखा जाता है कि सामान्य कारणों के होते हुए भी फल की उत्पत्ति नहीं होती यदि विशेष कारणों का अभाव होता है ।

किन्तु लोक में आपको छोड़कर दूसरा शास्ता नहीं है जो नैरात्म्य का उपदेश देता है (नैरात्म्यवादी) । इसलिए आपके मन को छोड़कर दूसरा मोक्ष का मार्ग नहीं है ।"

बोधिचर्यावतारपञ्जिका, ४९२ में दिये आचार्य पादोक्त श्लोकों से तुलना कीजिए— यः पश्यत्यात्मानं तस्याहम् इति शाश्वतः स्नेहः । स्नेहात् सुखेषु तृष्यति तृष्णा दोषांस्तिरस्कुरुते...

चन्द्रकीर्ति के मध्यमकावतार, ६.१२० (मध्यमकवृत्ति, पृ० ३४० में उद्धत) में भी यही है—"प्रज्ञा द्वारा यह देखकर कि सर्वक्लेश और सर्वदोष सत्कायदृष्टिमूलक होते हैं और यह विचार कर कि इस दृष्टि का आलम्बन आत्मा है, योगी आत्मा में अप्रतिपन्न होता है ।"

१. किओकुगा विज्ञप्तिमात्र २,४ की टीका उद्धृत करते हैं—(ए) असंस्कृतों का अस्तित्व नहीं है; (बी.) जिसका अस्तित्व सद्भाव है (अस्ति-धर्म = भाव), वह तीन प्रकार का है—जिनको प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है, रूप (वर्ण), चित्त, घट-पट के समान वस्तु; इन्द्रिय-समान वस्तु; (सी) आत्मा-सम्बन्धी तीन दृष्टियाँ स्कन्धों से अभिन्न (तत्त्व)—स्कन्धों से अन्य (अन्यत:) न तत् न अन्यत (स्कन्धेभ्यस्तत्तान्यत्वाभ्याम् अवस्थाम्) ।

२. आगम प्रमाण का पृथक् उल्लेख नहीं है क्योंकि यह अनुमान के अन्तर्गत है ।

३. भाव—युआन-चङ् येआउ-फ (yeou-fa) अनुवाद देते हैं । यह बुद्धघोष के अभिधर्म का स्मरण दिलाता है ।

४. प्रत्यक्षम् उपलब्धिः इति प्रत्यक्षम् इति उपलब्धिविशेषणम् । प्रत्यक्ष तद् उपलब्धिः प्रत्यक्षत उपलब्धिः इति अर्थः । अथवा प्रत्यक्षं प्रमाणम् उपलब्धिः उपलभ्यतेऽनया इति उपलब्धिः ।

उपलब्धि पर, १ अनुवाद, पृ० ३०, २ अनुवाद, पृ० १७७, सूत्रालंकार, पृ० १५५ ।

मनोविज्ञान के विषय का लक्षण यशोमित्र ने दिया है—[उपलब्धिर्] धर्मायतनस्य वेदनादिलक्षणस्य योगिविषयस्य च—धर्मायतन (अर्थात् वेदनादि) की उपलब्धि और योगी

[२३२] उसकी उत्पत्ति के लिए केवल क्षेत्र, उदक, पुरुषार्थ ही पर्याप्त नहीं है, बीज भी आवश्यक है। इसी प्रकार सामान्य कारणों का बाह्य विषय के सम्मुखीभाव, मनस्कार आदि का विद्यमान होना आवश्यक है। अन्ध और वधिर देखते-सुनते नहीं हैं, किन्तु जो अन्धे व बहरे नहीं हैं, वह देखते-सुनते हैं। पहले में चक्षुर्विज्ञान और श्रोत्रविज्ञान के कारण अन्तर का अभाव है, दूसरे में भाव है। यह इन्द्रिय हैं, रूपीन्द्रिय हैं जो अदृश्य अतीन्द्रिय उपादाय रूप हैं और जो केवल अनुमान से जाने जाते हैं।[1]

स्कन्ध-व्यतिरिक्त आत्मा के लिए न प्रत्यक्ष प्रमाण है, न अनुमान है। इसलिए हम जानते हैं कि आत्मा नाम का कोई सत् वस्तु नहीं है।

यह सच है कि वात्सीपुत्रीय को एक पुद्गल इष्ट है जो स्कन्धों से न अभिन्न है, न भिन्न है।[2]—हमको यह विचारना है कि इस पुद्गल का अस्तित्व द्रव्यतः है या प्रज्ञप्तितः, यह नाममात्र है। यदि यह रूप या शब्द के तुल्य भावान्तर है तो पुद्गल का द्रव्यतः अस्तित्व है। यदि यह क्षीर के समान समुदाय मात्र है तो यह प्रज्ञप्तिमात्र है।[3]

जिन विषयों का साक्षात्कार करते हैं, उनकी उपलब्धि। [वास्तव में योगियों का मनोविज्ञान दूसरों के चित्त-चैत्त को जानता है, ७.११]।

किन्तु मनस् की उपलब्धि प्रत्यक्ष कैसे है? वास्तव में जिस मनस् का समनन्तर निरोध होता है, वह अनन्तर उत्पन्न मनोविज्ञान द्वारा जाना जाता है (१.१७)—मनसश्च कि प्रत्यक्षम् उपलब्धिः। समनन्तरनिरुद्धं हि मनोऽनन्तरोत्पन्नेन मनोविज्ञानेन विज्ञायते।—यह एक कठिन स्थल है। अन्य आचार्यों (सौत्रान्तिकों) का मत है कि मनस् स्वयं वेद्य है, ज्ञान के ग्राहक और ग्राह्य दोनों प्रत्यक्ष हैं—रक्तं वा द्विष्टं वा सुखसंप्रयुक्तं वा दुःखसंप्रयुक्तं वा [४.४६] इत्येवमादि स्वसंवेद्यतया [प्रत्यक्षम्] इत्यपरे। तदेतद् द्विविधं प्रत्यक्षं ग्राह्यगतं ग्राहकगतं वा।

१. महर्षिप्रणिधिज्ञानपरिच्छिन्नत्वाद् अस्त्येव चक्षुरादिकम् इन्द्रियं चक्षुर्विज्ञानादि-कारणम् इति। सर्वेषाम् अविवादाच्च।

देखिये १.९ सी (व्याख्या, पृ० २५), ४४ ए—प्रणिधिज्ञान, ७.३७।

२. वात्सीपुत्रीया आर्यसाम्मतीयाः। अनेन वितथात्मदृष्टिनिविष्टत्वलक्षणो हेतुर्-अनैकान्तिक इति दर्शयति। न हि वात्सीपुत्रीयाणां मोक्षो नेष्यते बौद्धत्वात्। अथवा प्राकल्पक्षविरोधः। सापक्षालोऽयं पक्षो नास्त्यात्मा इत्यनेन दर्शयति।

दो में से एक बात है—वात्सीपुत्रीय एक प्रकार के वस्तु सत् आत्मा में विश्वास करते हैं, किन्तु वे बौद्ध हैं और यह नहीं कहते कि उनको मोक्ष लाभ नहीं हो सकता। इसलिए आचार्य की यह युक्ति अयथार्थ है कि वितथ आत्मदृष्टि मोक्ष में अन्तराय है अथवा आत्म-प्रतिषेधवाद मिथ्या है।

पुद्गल की अवक्तव्यता पर उदाहरण के लिए मध्यमकवृत्ति, २८३ देखिये।

३. रूपादिवद् भावान्तरं चेद् द्रव्यतः। क्षीरादिवत् समुदायश्चेद् प्रज्ञप्तितः।

रूप, शब्दादि भावान्तर (भिन्नलक्षण) हैं; क्षीर-गृह-सेना-रूप-रस-गंध स्प्रष्टव्य की

[२३३] वात्सीपुत्रीय—प्रथम या द्वितीय विकल्प के मानने में क्या दोष है ?

यदि पुद्गल भाव है तो इसे स्कन्धों से अन्य कहना चाहिए, क्योंकि इसका स्वभाव एक-दूसरे से भिन्न है; अथवा यह हेतु प्रत्ययजनित होगा [और इसलिए तीर्थिक दृष्टि का प्रसंग उपस्थित होगा], असंस्कृत पुद्गल का कोई प्रयोजन भी न होगा (निःप्रयोजनत्व)।[1] इसलिए पुद्गल को द्रव्य-विशेष मानना व्यर्थ है। किन्तु यदि आपका यह कथन हो कि पुद्गल का अस्तित्व केवल प्रज्ञप्ति है तो आप अपने मत का परित्याग करते हैं और हमारे विचार में आप अपनी भूल को सुधारते हैं।

वात्सीपुत्रीय—मैं कहता हूँ कि पुद्गल का अस्तित्व है; मैं नहीं कहता हूँ कि वह द्रव्य है; मैं नहीं कहता कि वह स्कन्धों का प्रज्ञप्तिमात्र है—पुद्गल-प्रज्ञप्ति का व्यवहार प्रभूत्पन्न आध्यात्मिक उपादाय स्कन्धों के लिए (स्कन्धान् उपादाय) है।[2]

यह अन्धवचन है ! इस 'उपादाय' शब्द का क्या अर्थ है ? यदि स्कन्धम् उपादाय का अर्थ आर्य स्कन्धानालम्ब्य (आलम्ब्य=गृहीत्वा, अपेक्ष्य) करते हैं तो आपके कहने का अर्थ यह है कि—

[२३४] पुद्गल-प्रज्ञप्ति का व्यवहार स्कन्धों का ग्रहण कर होता है—इस प्रकार आप स्वीकार करते हैं कि पुद्गल स्कन्धों के ज्ञापनार्थ एक शब्द है; यथा रूपादि क्षीर स्कन्धों का ग्रहण कर क्षीर प्रज्ञप्ति का व्यवहार होता है। यदि स्कन्धान् उपादाय का अर्थ

तृण-काष्ठ-दृष्टिकादि, हस्ति-अश्व-रथादि के स्वभाव भिन्न हैं जिस प्रकार स्कन्ध समुदाय-मात्र हैं, भावान्तर नहीं हैं, क्षीर, रूपादि भावान्तर नहीं हैं।

सूत्रालंकार, १८.९२ से तुलना कीजिए—प्रज्ञप्त्यस्तितया वाच्यः पुद्गलो द्रव्यतो न तु।

१. यशोमित्र धर्मकीर्ति के श्लोक को उद्धृत करते हैं—

वर्षातपाभ्यां किं व्योम्नश्चर्मण्यस्ति तयोः फलम्।
चर्मोपमश्चेत् सोऽनित्यः खतुल्यश्चेद् असत्फलः॥

सर्वदर्शन, पृ० १० (१८५८); न्यायवार्त्तिक, २.१,५, तात्पर्य, १६४; श्लोकवार्त्तिक में—खतुल्यश्चेद् असत्समः; नैष्कर्म्यसिद्धि, २.६० आदि।

यदि पुद्गल असंस्कृत शाश्वत अविकारादि है तो वह आकाश-तुल्य है, न होने के बराबर है। केवल उसी का सद्भाव है जो अर्थक्रिया की योग्यता रखता है जो क्षणिक है (यत् सत् तत् क्षणिकम्)— सौत्रान्तिकवाद वैभाषिक मत से असंस्कृत (आकाश और दो निरोध, १.५ सी) का अस्तित्व नहीं है।

२ =[प्रत्युत्पन्नाध्यात्मिकोपात्तस्कन्धान्] उपादाय [पुद्गलः प्रज्ञप्यते]। वात्सीपुत्रीय और वसुबन्धु के अनुसार अतीत और अनागत स्कन्धों का अस्तित्व नहीं है।

यह अग्नि को आध्यात्मिक (या अभ्यन्तर) और उपात्त का अर्थ कोश, १.३४ डी, ३९ ए-बी में वर्णित है।

आर्य स्कन्धान् प्रतीत्य (=प्राप्य)=स्कन्धों के कारण करें तो यही दोष होता है। वास्तव में आप स्वीकार करते हैं कि यह स्कन्ध हैं जो पुद्गल-प्रज्ञप्ति के प्रत्यक्ष हैं।

वात्सीपुत्रीय—पुद्गल और स्कन्ध से उसके सम्बन्ध के विषय में मेरी दृष्टि इस प्रकार की नहीं है, किन्तु जैसी लोक की दृष्टि अग्नि और इंधन के सम्बन्ध में होती है। लोक अग्नि को इंधन के सम्बन्ध में देखता है (इन्धनमुपादाय)[1]—इन्धन से पृथक् नहीं देखता; लोकविश्वास है कि अग्नि न इंधन से अनन्य है, न अन्य। यदि अग्नि इंधन से अन्य होता तो प्रदीप्त अग्नि होता। इसी प्रकार हम पुद्गल को स्कन्धों से व्यतिरिक्त नहीं मानते। हमारा मत है कि पुद्गल स्कन्धों से न अनन्य है, न अन्य। यदि यह स्कन्धों से अनन्य होता तो इसके उच्छेद का प्रसंग होता।

अग्नि और इंधन के लक्षण बताओ जिससे मैं इंधनमुपादाय इस पद को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकूँ।

वात्सीपुत्रीय—मैं आपसे क्या कहूँ? प्रदीप्त इंधन है, दाह अग्नि है—यदि आप उत्तर चाहते हैं तो यह उत्तर है।

किन्तु मैं इसी को यथावत् जानना चाहता हूँ—प्रदीप्त किस वस्तु को कहते हैं, दाह किस वस्तु को कहते हैं।

[२३५] वात्सीपुत्रीय—वस्तु जिसका दाह होता है जो अभी प्रदीप्त नहीं है, अर्थात् जो अप्रदीप्त काष्ठादि है, उसे लोक में इंधन कहते हैं।[2] जो वस्तु दाहक्रिया करती है, जो प्रदीप्त अत्यन्त उष्ण है, वह अग्नि कहलाती है। इस अग्नि सन्तति से इंधन प्रदीप्त (इध्यते = दीप्यते) होता है, भस्मीभूत होता है (दह्यते = भस्मीक्रियते)[3]; अग्नि के कारण इंधन सन्तति का प्रत्येक क्षण पूर्वक्षण से अन्य होता है—अग्नि और इंधन दोनों अष्टद्रव्य हैं, किन्तु अग्नि इंधन प्रत्ययवश (प्रतीत्य) उत्पन्न होती है, जैसे क्षीर और सुरा प्रत्ययवश क्षीरभण्डार और शुष्क होते हैं। इसलिए लोकसम्मत है कि अग्नि इंधन को आलम्बन बनाकर (उपादाय) होती है।

यदि ऐसा है तो अग्नि इंधन से अन्य है क्योंकि उनका कालभिन्न (भिन्नकाल) है—पहले इंधन, पीछे अग्नि। यदि तुम्हारे पुद्गल का अस्तित्व इंधन का आलम्बन लेकर

१. यथेन्धनम् उपादायाग्निः प्रज्ञप्यत इति द्रव्यसन् पुद्गलः। नान्यो नानन्य इति स्वम् उपादानम् उपादाय प्रज्ञप्यमानत्वात्। यो हि भावो नान्यो नानन्य इति स्वम् उपादानम् उपादाय प्रज्ञप्यमानः स द्रव्यसंस्तद् यथाग्निरिति वात्सीपुत्रीयाभिप्रायः।

२. अप्रदीप्तं काष्ठादिकम् इंधनम्····· व्याख्या इस परिच्छेद को आचार्य का बताती है न कि वात्सीपुत्रीय का।

३. कुछ टीकाकारों के अनुसार इध्यते और दह्यते पर्याय हैं।

४. अष्टद्रव्यक (२.२२) चार महाभूत और चार उपादायरूप, रूप से लेकर स्प्रष्टव्य तक।

होता है, जैसे अग्नि का अस्तित्व इंधन को आलम्बन कर होता है तो तुमको स्वीकार करना चाहिए कि स्कन्ध प्रत्ययवश उत्पत्तिमान होने से यह स्कन्धों से अन्य है और अनित्य भी है (अनित्यश्च प्राप्नोति)।

वात्सीपुत्रीय—प्रदीप्त वस्तु कष्ठादि[1] में एक द्रव्य अर्थात् वह स्प्रष्टव्य जो उष्मन है, अग्नि है, अन्य द्रव्य इंधन हैं, इसलिए इंधन के पूर्वकालिक होने पर आपकी उक्ति सिद्ध नहीं होती।

किन्तु अग्नि और इंधन एक ही काल में उत्पन्न होते हैं, उनका अन्यत्व सिद्ध है क्योंकि उनके लक्षण भिन्न (लक्षणभेदात्) हैं।[2]

[२३६] उपादाय शब्द का जो अर्थ आप करते हैं, वह अभी बताना है।[3] यदि अग्नि इंधन को ग्रहण कर होती है, यह युक्त नहीं है कि यह भूमित्रय लक्षण इंधन प्रदीप्त वस्तु के एक द्रव्य उष्णलक्षण अग्नि का कारण हो, क्योंकि यह सब द्रव्य सहज और प्रत्येक अपने हेतु प्रत्यय से उत्पन्न होता है। हम यह भी नहीं कह सकते कि अग्नि प्रज्ञप्ति का कारण (अथवा आलम्बन) इंधन है, क्योंकि यह प्रज्ञप्ति उष्मन स्प्रष्टव्य के लिए प्रयुक्त होती है।[4]

वात्सीपुत्रीय—इंधनमुपादाय अग्नि का यह अर्थ है कि अग्नि और इंधन का सहभाव है अथवा इंधन अग्नि का आश्रय है।[5]

इसका यह अर्थ है कि पुद्गल और स्कन्ध का सहभाव है या पुद्गल स्कन्धों पर आश्रित है। यह तो मानना हुआ कि पुद्गल स्कन्धों से अन्य है। यह तर्कसम्मत भी है कि जिस प्रकार इंधन के अभाव में पुद्गल का अभाव है। आप इन निष्कर्षों को नहीं मानते; इसलिए आपका मत सारहीन है।

---

१. तत्रैव काष्ठादौ प्रदीप्त इति तद्द्वयलक्षणे समुदाये—प्रदीप्त वस्तु एक समुदाय है; यह एक ही समय में अग्नि और इंधन दोनों है। वास्तव में यह चार महाभूतों से निष्पन्न है। (नीचे, पृ० २३५, टि०२); इनमें से जो महाभूत उष्ण लक्षण है, वह वहाँ अग्नि है।

२. पृथिवी और सब धातु अन्य हैं क्योंकि उनके लक्षण भिन्न हैं; यही कथा अग्नि और इंधन की है।

३. उपादायार्थस्तु वक्तव्य इति। अनन्यत्वाद् इत्यभिप्रायः।—उपादाय पद को एक ऐसा अर्थ देना आवश्यक है जो अग्नि और इंधन के अनन्यत्व के वाद को युक्तियुक्त सिद्ध करे।

४. न हि तत् (इंधनं) तस्य (अग्नेः) कारणम्। नापि तत्प्रज्ञप्तेः। इंधन=तीन महाभूत; अग्नि, उष्मलक्षण=चतुर्थ महाभूत। उनका सव्येतर विषाण के तुल्य सहोत्पाद है।

५. इंधनमुपादाय=इंधनमाश्रित्य के अर्थ में लेना चाहिए। अर्थ अथवा सहभाव सहोत्पाद का है।

वात्सीपुत्रीय याद दिलाते हैं कि वह (पृ० २३४, पंक्ति १५) दिखा चुके हैं कि अग्नि इंधन से अन्य नहीं है क्योंकि उस विकल्प मे इंधन उष्ण नहीं होगा।

हम वात्सीपुत्रीय से पूछते हैं कि उष्ण क्या स्वभाव है। यदि वह उष्ण को उष्ण लक्षण स्प्रष्टव्य [अर्थात् अग्नि] बताते हैं, जैसा कि ऊपर उन्होंने कहा है तो इंधन उष्ण नहीं होगा [क्योंकि इंधन उष्ण लक्षण स्प्रष्टव्य रहित प्रदीप्त वस्तु है]। यदि वह उष्ण से उष्णसंप्रयुक्त का अर्थ लेते हैं।

[२३७] [यदि वह स्वीकार करते हैं कि इंधन उष्ण संप्रयोग के कारण उष्ण कहलाता है] तो फिर उष्ण अन्य वस्तु उष्ण कहलावेगी। अग्नि से केवल उष्ण लक्षण स्प्रष्टव्य का प्रज्ञापन होता है। यत्किंचित् इस स्प्रष्टव्य से संप्रयुक्त होता है, वह उष्ण प्रज्ञप्ति से प्रज्ञापित होता है। यह विषय-सारणी स्वीकार करती है कि इंधन उष्ण कहलाता है यद्यपि वह अग्नि या उष्ण लक्षण स्प्रष्टव्य से अन्य है। वात्सीपुत्रीय की यह उक्ति युक्तियुक्त नहीं है कि अग्नि इंधन से अन्य नहीं है क्योंकि इंधन उष्ण है।[1]

वात्सीपुत्रीय—प्रदीप्त काष्ठ को इंधन कहते हैं, उसे अग्नि भी कहते हैं।

अच्छा आप यह तो बताइये कि इंधनमुपादाय अग्नि का आप क्या अर्थ करते हैं? पुद्‌गल (उपादान कर्तृभाव) स्कन्धों से (उक्त उपादान का कर्मभाव) अनन्य होगा—एक भी उक्ति अन्य भाव को सिद्ध नहीं कर सकती। वात्सीपुत्रीयों का यह वाद कि पुद्‌गल का स्कन्धों का आलम्बन ग्रहण कर अस्तित्व है जिस प्रकर इंधन का आलम्बन ग्रहण कर अग्नि का अस्तित्व है, किसी तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता।

वात्सीपुत्रीय का मत है कि पुद्‌गल स्कन्धों से अन्यत्व या अनन्यत्व के विषय में अवक्तव्य है। यह कैसे कहते हैं कि "पंचविधि ज्ञेय मानते हैं[2]—१-३. संस्कृत द्रव्य या दूसरे शब्दों से अतीत प्रत्युत्पन्न अनागत वस्तु; ४. असंस्कृत द्रव्य और ५. अवक्तव्य [या पुद्‌गल]"? पुद्‌गल वास्तव में इस दृष्टि से भी अवक्तव्य होगा—यदि यह अवक्तव्य है तो हम यह नहीं कह सकते कि यह अतीतादि से पंचम है या पंचम नहीं है।[3]

अब हम विचार करेंगे कि 'पुद्‌गल' शब्द किससे सम्बन्धित है। यदि यह स्कन्धों से सम्बन्धित है तो पुद्‌गल केवल प्रज्ञप्ति सत् है, क्योंकि

---

१. परमार्थ—यदि उनका कथन है कि—"जिसका स्वभाव उष्ण है [अग्नि], उसे उष्ण कहते हैं। इन्धन यद्यपि स्वभाव में उष्ण अग्नि से अन्य है तथापि जिसका स्वभाव उष्ण है, उसके साथ उसका संप्रयोग होने से वह उष्ण होगा तो हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि अग्नि और इंधन के अन्यत्व में कोई दोष नहीं है।

२. पंचविध ज्ञेयम्—नीचे, पृ० ४३, टि० १—साम्मीतीयनिकायशास्त्र देखिये।

३. श्चेबात्स्की, पृ० ८३२ का मत हमसे पृथक् है।

[२३८] पुद्गल शब्द स्कन्धों से सम्बन्धित है, न कि किसी पुद्गल से। यदि यह पुद्गल से सम्बन्धित है तो वात्सीपुत्रीय ने यह क्यों कहा कि पुद्गल प्रज्ञप्ति स्कन्ध को ग्रहण कर होती है ? उनको 'पुद्गलमुपादाय' कहना चाहिए था। किन्तु वास्तव में उनका यह मत नहीं है कि पुद्गल को ग्रहण कर पुद्गल की व्यवस्था होती है—अवशेष यहीं रह जाता है कि पुद्गल शब्द स्कन्धों के लिए प्रज्ञप्तिमात्र है।

वात्सीपुत्रीय—जब स्कन्ध होते हैं (सत्सु स्कन्धेषु) तो पुद्गल की उपलब्धि होती है (उपलभ्यते)[1]—इसीलिए मैंने कहा है कि पुद्गल प्रज्ञप्ति स्कन्धों को ग्रहण कर रहे हैं। जब चक्षु, आलोक आदि विविध हेतु प्रत्यय होते हैं, तब रूप की उपलब्धि होती है; तो क्या इससे यह परिणाम निकालना चाहिए कि रूप प्रज्ञप्ति इन विविध हेतु प्रत्ययों को ग्रहण करके होती है ?[2]

दूसरी बात। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय और मनोविज्ञान इन छह विज्ञानों में से किससे पुद्गल की उपलब्धि होती है (उपलभ्यते) ?

वात्सीपुत्रीय षड् विज्ञानों से। जब चक्षुर्विज्ञान रूप काय को जानता है तो तदनन्तर ही वह पुद्गल की उपलब्धि करता है[3] और इसलिए हम कह सकते हैं कि पुद्गल चक्षुर्विज्ञान से जाना जाता है। किन्तु पुद्गल का रूप से क्या सम्बन्ध है—अनन्यत्व है या अन्यत्व—यह अवक्तव्य है। अन्य विज्ञानों के लिए भी यही है। जब मनोविज्ञान धर्मों को (चित्त-चैत्तों को) जानता है तो यह तदनन्तर ही पुद्गल की उपलब्धि करता है, इसलिए यह भी विज्ञान से जाना जाता है, किन्तु चित्त-चैत्तों से इसका क्या सम्बन्ध है, यह अवक्तव्य है।

[२३९] इससे यह परिणाम भी निकलता है कि पुद्गल क्षीर के समान केवल प्रज्ञप्ति सत् है। जब चक्षुर्विज्ञान क्षीर-रूप को जानता है तो यह द्वितीय क्षण में क्षीर का उपलक्षण करता है; इसलिए क्षीर चक्षुर्विज्ञान से जाना जाता है और यह नहीं कहा जा

---

१. "कदाचित् सिद्ध होता है" ऐसा अनुवाद करना अधिक ठीक होगा।

२. रूपस्यापि प्रज्ञप्तिर् वक्तव्या चक्षुरादिषु सत्सु तस्योपलम्भात् तानि चक्षुरादीन्युपादाय रूपं प्रज्ञप्यत इति।

३ [चक्षुर्विज्ञेयानि रूपाणि प्रतीत्य पुद्गलं] प्रतिविभावयतीत्युपलक्षयति तदुपादानत्वात्। नो तु वक्तव्यो रूपाणि वा नो वेत्यतल्लक्षणत्वाद् अवक्तव्यत्वाच्च—चीनी Fen Pie Koam में उपलक्षण है : "रूपादि प्रत्ययवश चक्षु [स्वालम्बन के रूप में] उपलब्धि करता है। चक्षुर्विज्ञान पुद्गल को अप्रत्यक्ष रूप से जानता है, अप्रधान रूप से जानता है क्योंकि रूप पुद्गल के उपादान हैं। किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि पुद्गल रूप है......"

सकता कि क्षीर रूप है या रूप से अन्य है।[1] घ्राण जिह्वा काय के लिए भी ऐसा ही है। कायविज्ञान स्प्रष्टव्य को जानता है; इससे क्षीर का ज्ञान होता है—इसलिए क्षीर कायविज्ञान से जाना जाता है, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि क्षीर स्प्रष्टव्य से अनन्य है या स्प्रष्टव्य से अन्य है। वास्तव में क्षीर चार प्रकार का नहीं है[2] इसलिए यह रूप, गन्ध, रस स्प्रष्टव्य नहीं है और दूसरी ओर हम यह नहीं सोच सकते कि क्षीर इन चार का समुदाय नहीं है। परिणाम यह निकलता है कि समस्त स्कन्ध-समुदाय की ही प्रज्ञप्ति पुद्गल है, जैसे रूप गन्धादि समस्त क्षीर प्रज्ञप्ति के लिए ही समुदाय है। यह संज्ञा मात्र है, इनमें वह वस्तु सत् नहीं।[3]

किन्तु इस वाक्य का क्या अर्थ है—"चक्षु विज्ञेय रूप को प्राप्त कर पुद्गल का प्रतिविभावन करता है"?[4] क्या रूप पुद्गल की उपलब्धि का कारण है? अथवा रूप और पुद्गल की उपलब्धि एक काल में होती है?

[२४०] यदि वात्सीपुत्रीय का यह उत्तर है कि रूप पुद्गलोपलब्धि का कारण है, किन्तु वह यह नहीं कह सकते कि पुद्गल रूप से अन्य है तो रूपोलब्धि के हेतु प्रत्ययचक्षु आलोक मनस्कार भी रूप से अन्य नहीं कहे जा सकते।

यदि वात्सीपुत्रीय का यह उत्तर है कि पुद्गल की उपलब्धि रूप की उपलब्धि के साथ होती है[5] तो हम पूछेंगे कि क्या उसी उपलब्धि से जिससे रूप की उपलब्धि होती है, पुद्गल की उपलब्धि होती है अथवा दूसरी उपलब्धि से।

१. चक्षुर्विज्ञेयानि चेद् रूपाणि प्रतीत्य क्षीरं प्रतिविभावयति चक्षुर्विज्ञेयं क्षीरं वक्तव्यं नो तु वक्तव्यं रूपाणि वा नो वा।

२. माभूत् क्षीरोदकयोश्चतुष्ट्वप्रसंगः।

३. यथा रूपादिन्येव समस्तानि समुदितानि क्षीरम् इति उदकमिति वा प्रज्ञप्यन्ते तथा स्कन्धा एव समस्ताः पुद्गल इति प्रज्ञप्यन्त इति सिद्धम्।

४. भाष्य—चक्षुर्विज्ञेयानि रूपाणि प्रतीत्य पुद्गलं प्रतिविभावयतीति कोऽस्य वाक्यस्यार्थः। किं तावद् रूपाणि पुद्गलोपलब्धेः कारणं आहोस्विद् रूपाण्युपलभमानः पुद्गलम् उपलभत् इति। यदि तावद् रूपाणि पुद्गलोपलब्धे कारणं भवन्ति न च तेभ्योऽन्यो वक्तव्यः एवं तर्हि रूपम् अप्यालोक चक्षुर्मनसिकारेभ्योऽन्यत् न वक्तव्यम्। तेषां तदुपलब्धिकारणत्वात्। अथ रूपाण्युपलभमानः पुद्गलम् उपलभते किं तयैवोपलब्ध्योपलभते आहोस्विद् अन्यया। यदि तयैव रूपाद् अभिन्नस्वभावः पुद्गलः प्राप्नोति रूप एव वा तत्प्रज्ञप्तिः। इदं रूपम् अयं पुद्गलः कथम् इदं परिच्छिद्यते। अथेदं न परिच्छिद्यते कथम् इदं प्रतिज्ञायते रूपम् अप्यस्ति पुद्गलोऽप्यस्ति इति उपलब्धिवशेन हि तस्यास्तित्वं प्रतिज्ञायते।

५. इस पक्ष में रूप (तर्हिसंस्थान) पुद्गलोपलब्धि का कारण नहीं है। रूप का ग्रहण कर (उपादाय) पुद्गल की उपलब्धि होती है (द्वितीये पक्षे न तु कारणत्वं किं तर्हि रूपाण्युपादाय पुद्गलोपलब्धिः)।

पहले पक्ष में पुद्गल का स्वभाव रूप से अभिन्न है और पुद्गल प्रज्ञप्ति रूप ही है, इसलिए यह परिच्छेद नहीं हो सकता कि यह रूप है, यह पुद्गल है। यदि यह परिच्छेद नहीं हो सकता तो यह प्रतिज्ञा कैसे हो सकती है कि रूप भी है, पुद्गल भी है। पुद्गल का अस्तित्व इस उपलब्धिवश ही सिद्ध हो सकता है।

दूसरे पक्ष में दो उपलब्धियों का भिन्न काल होने से पुद्गल रूप से अन्य होगा, जैसे पीत, नील से अन्य है, जैसे क्षण क्षणान्तर से अन्य है। अन्य आयतनों के लिए भी यही युक्ति है।

वात्सीपुत्रीय—जिस प्रकार हम यह नहीं समझ सकते कि पुद्गल रूप है, न यह कह सकते हैं कि यह रूप से अन्य है, उसी प्रकार पुद्गल की उपलब्धि न रूप की उपलब्धि है और न उस उपलब्धि से अन्य है।

इस दृष्टि से आपको कहना होगा कि पुद्गल की उपलब्धि अवक्तव्य है और इस तरह उपलब्धि-लक्षण संस्कृत को भी अवक्तव्य मानना होगा। किन्तु आपका सिद्धान्त है कि पुद्गल ही अवक्तव्य है और सर्वोपलब्धि संस्कृत है, इसलिए सिद्धान्त-भेद होता है (देखिये ऊपर पृ० २३७, पंक्ति २०)।

यदि पुद्गल एक ऐसा द्रव्य है जिसे हम न रूप (रूपस्कन्ध) कह सकते हैं और न अरूप (चार अरूपी स्कन्ध, वेदना स्कन्ध आदि), तो भगवत् ने यह क्यों कहा है कि "रूप तथा अन्य स्कन्ध अनात्म हैं"?[1]

[२४१] आप कहते हैं कि पुद्गल चक्षुर्विज्ञेय है। यह विज्ञान रूप-प्रत्ययवश या पुद्गल प्रत्ययवश या रूप पुद्गल प्रत्ययवश उत्पन्न होता है? पहले पक्ष में यह नहीं कहा जा सकता कि यह विज्ञान पुद्गल की उपलब्धि (उपलम्) करता है क्योंकि पुद्गल जैसे शब्द इस विज्ञान का आलम्बन नहीं हैं, उसी प्रकार पुद्गल इसका आलम्बन नहीं है। वास्तव में जो विज्ञान किसी प्रत्ययवश उत्पन्न होता है, वह उसका आलम्बन प्रत्यय (२.६२ सी) होता है—पुद्गल चक्षुर्विज्ञान का प्रत्यय नहीं है, इसलिए वह आलम्बन नहीं हो सकता। इसलिए चक्षुर्विज्ञान पुद्गल की उपलब्धि नहीं करता। अन्य दो पक्ष सूत्र-विरुद्ध हैं। सूत्र-वचन है कि द्वय प्रत्ययवश[2] चक्षुर्विज्ञान की उपलब्धि होती है—चक्षु और रूप। सूत्र कहता है कि "हे भिक्षुओ! चक्षुर्विज्ञान के उत्पाद में चक्षु हेतु है और रूप प्रत्यय (प्रत्यय=आलम्बन प्रत्यय) है। सब चक्षुर्विज्ञान चक्षु और रूप के कारण होता है।"[3]

---

१. रूपम् अनात्मा······विज्ञानम् अनात्मा।—तुलना कीजिए संयुत्त, ४.१६६।

२. द्वयं प्रतीत्य······; तीन प्रत्ययवश नहीं।

३. संयुत्त, ६, ६—व्याख्या सूत्र के पूर्वशब्द उद्धृत करती है—चक्षुर् भिक्षो हेतुर् [चक्षुर्विज्ञानोत्पादाय। रूपं भिक्षो प्रत्ययः······]

व्याख्या—हेतुर् आसन्नः प्रत्ययः। विप्रकृष्टस्तु प्रत्यय एव॥ जनको हेतुः प्रत्ययस्त्वालम्बनमात्रम् इत्यपरे। पर्यायावेतावित्यपरे।—देखिये २.६१सी, ७.१३ ए, पृ० ३२, ३४।

यदि पुद्गल चक्षुर्विज्ञान का हेतु है तो यह अनित्य है क्योंकि सूत्र वचन है कि "सब हेतु प्रत्यय जो विज्ञान का उत्पाद करते हैं, अनित्य हैं।"

वात्सीपुत्रीय—इसलिए हम स्वीकार करें कि पुद्गल विज्ञान का आलम्बन प्रत्यय नहीं है।

बहुत अच्छा है; किन्तु इस अवस्था में यह विज्ञेय अर्थ विज्ञान का आलम्बन नहीं है; यदि विज्ञेय नहीं है तो यह ज्ञान—

[२४२] विषय अर्थात् ज्ञेय नहीं है; यदि वह ज्ञेय नहीं है तो इसका अस्तित्व कैसे सिद्ध होगा? यदि इसका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता तो आपका सिद्धान्त (देखिये पृ० २४४, टिप्पणी २,२४८) गिर जाता है।

आपने कहा है कि पुद्गल षड्विज्ञान से विज्ञेय है।[1] किन्तु यदि यह चक्षुर्विज्ञान से विज्ञेय है तो यह रूपवत् और शब्द से अन्य होगा। यदि यह श्रोतविज्ञान से विज्ञेय है तो यह शब्दवत् और रूप से अन्य होगा। और इसी प्रकार।

इसके अतिरिक्त आपका वाद सूत्र-विरुद्ध भी है। सूत्र-वचन है कि "हे ब्राह्मण! पाँच इन्द्रियों (चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा, काय) के गोचर भिन्न-भिन्न विषय हैं। उनमें से प्रत्येक स्वकीय गोचर विषय का[2] अनुभव करता है (अनुभवति) और दूसरों के गोचर विषय का अनुभव नहीं करता और मन इन्द्रिय पंचेन्द्रियों के गोचर विषय का अनुभव करती है और मन इनका प्रतिसरण है।"[3] अब क्या आप सूत्र के अनुसार स्वीकार करेंगे कि पुद्गल [पाँच इन्द्रियों का] विषय नहीं है।

---

१. सेकी किओकुगा दार्ष्टान्तिकों के षड्विज्ञानवाद पर एक टिप्पणी देते हैं (आगे १४ ए)।

२. इसलिए इनमें से कोई भी पुद्गल का प्रतिसंवेदन या प्रत्यनुभव नहीं करता।

३. मध्यम, ५८, १२—स्वकं गोचरविषयं प्रत्यनुभवन्ति। नान्यद् अन्यस्य गोचर-विषयं प्रत्यनुभवन्ति। मनश्चैषां प्रतिसरणम्।

संयुत्त, ५.२१८—पञ्चिमानि ब्राह्मण इन्द्रियानि नानाविसयानि नानागोचरानि नाञ्मञ्ञस्स गोचरविसयं पच्चनुभोन्ति। कतमानि पञ्च ····। इमेसं खो पञ्चन्नं इन्द्रियानं नानाविसयानं नानागोचरानं न अञ्ञमञ्ञस्स गोचरविसयं पच्चनुभोन्तानं मनो पटिसरणं मनो च नेसं गोचरविसयं पच्चनुभोति।

क्योंकि मनश्चैषां प्रतिसरणम् इस वाक्य पर व्याख्या कथन है—

अनुसंगेनेदम् उक्तम्। नेदम् उदाहरणम्। तथापि तु मनश्चैषाम् इन्द्रियाणां प्रति-सरणमिति तदपेक्षाणीन्द्रियाणि विज्ञानोत्पत्तौ कारणं भवन्तीत्यर्थः।

विभाषा, ६७, ५—दार्ष्टान्तिक कहते हैं—"चक्षुर्विज्ञानादि षड्विज्ञानकाय का विषय पृथक्-पृथक् है।" वह कह सकते हैं, "मनोविज्ञान का अपना अलग विषय है; चक्षुर्विज्ञानादि

[२४३] उस अवस्था में यह [पाँच इन्द्रियों द्वारा] विज्ञेय नहीं है। आप इस तरह अपने सिद्धान्त का ही व्याघात करते हैं।[1]

वात्सीपुत्रीय -[आप सूत्र के अनुसार कहते हैं कि इन पाँच इन्द्रियों में से प्रत्येक का अपना-अपना विषय है और आप यह परिणाम निकालते हैं कि पुद्गल चक्षुर्विज्ञान का विषय नहीं है......] किन्तु सूत्र के अनुसार मन इन्द्रिय का भी अपना विशेष विषय है [और यह आपके सिद्धान्त के विरुद्ध है][2]। वास्तव में षट्प्राणकोपम सूत्र का वचन है कि "इन छह इन्द्रियों में से प्रत्येक का अपना-अपना गोचर विषय है। प्रत्येक स्वकीय इस विषय स्वकीय गोचर की आकांक्षा नहीं करता है।"[3]

इस सूत्र का अभिप्राय छह इन्द्रियों के सम्बन्ध में कुछ कहने का नहीं है; पाँच रूपीन्द्रियों और तदाश्रित पंचविज्ञान को दर्शन श्रवणादि की आकांक्षा नहीं होती।

पंचविज्ञान के विषय इसके आलम्बन नहीं हैं। वह कहते हैं—बाह्य आलम्बन ही षड्-विज्ञान के विषय होते हैं। वह आध्यात्मिक इन्द्रियों को (आध्यात्मिक, पृ० २३१ देखिये) और न विज्ञान को आलम्बन बनाते हैं। इस मत का प्रतिषेध करते के लिए यह कहा गया है कि प्रथम पंचविज्ञान का अपना-अपना विषय है, केवल बाह्य आलम्बन इनके विषय हैं, इन्द्रिय और विज्ञान इनके विषय नहीं हैं। किन्तु मनोविज्ञान का एक विषय पाँच विज्ञानों को सामान्य है और इसका एक विषय भिन्न भी है, आध्यात्मिक इन्द्रियाँ और विषय इसके विषय होते हैं।—कोश, १.४८ में कहा गया है कि अठारह धातुओं में से रूप शब्दादि को छोड़कर तेरह धातु केवल मनोविज्ञान के विषय हैं, रूप शब्दादि चक्षुर्विज्ञान आदि के भी विषय हैं।

१. शुआन-चाङ् के अनुसार निक्षिप्त वाक्यों के बीच के शब्द।

भाष्य और व्याख्या—न वा पुद्गलो विषय इति [यदि सूत्रं प्रमाणीक्रियते]। न चेद् विषयः [यदि न कस्यचिद् विज्ञानस्य विषयः] न तर्हि विज्ञेयः [ततश्च पंचविधं ज्ञेयम् इति स्वसिद्धान्तो बाध्यते] (ऊपर पृष्ठ २३७, टि० २)।

परमार्थ—अथवा पुद्गल विषय नहीं हैं। यदि यह विषय नहीं हैं तो षड्विज्ञान से विज्ञेय नहीं हैं।

२. सूत्र के होते हुए भी आप कहते हैं कि मनोविज्ञान का सामान्य विषय है। उसी प्रकार सूत्र के होते हुए हम कहते हैं कि पुद्गल चक्षुर्विज्ञान से विज्ञेय है।

३. संयुत्त, ४३, १०, एकोत्तर, ३२, ४, संयुत्त, ४.१९८—षड् इमानीन्द्रियाणि नानागोचराणि......कुक्कुरपक्षिशृगालशिशुमारसर्पमर्कटाः षट् प्राणकाः केन चिद् बद्धा मध्ये ग्रन्थिं कृत्वोत्सृष्टाः। ते स्वकं-स्वकं गोचरविषयम् आकांक्षन्ते। ग्रामाकाशश्मशानोदकवल्मीक-वनाकांक्षणाद् एवं षड् इमानीन्द्रियाणि......।

चक्षुरादि इन्द्रिय से इस सूत्र का आशय मनोविज्ञान से है जो चक्षुरादि से आहृत और जिस पर चक्षुरादि का आधिपत्य है।[1]

[२४४] वास्तव में जो केवल मनोविज्ञान है, अर्थात् जो पाँच रूपीन्द्रियों में से किसी एक से भी आहृत नहीं है और जिस पर उसका आधिपत्य नहीं है, वह मनोविज्ञान पंचेन्द्रिय के गोचर विषय के सम्बन्ध में कोई आकांक्षा नहीं रखता। वह केवल अपने विषय धर्मायतन के ही हैं। इसलिए षट्प्राणकोपम पूर्वउद्धृत सूत्र का विरोध नहीं करता।

भगवत्-वचन है—"हे भिक्षु! ये सब अभिज्ञेय और परिज्ञेय धर्मों को (आनन्तर्य और विमुक्तिमार्ग से) तुम्हें बताता हूँ, अर्थात् चक्षुरूप, चक्षुर्विज्ञान, चक्षुःस्पर्श प्रत्ययजनित वेदना, दुःखासुखा, अदुःखासुखा वेदना······।" इसी प्रकार "यथावत् मन इन्द्रिय स्पर्श प्रत्ययजनित वेदना—यह अभिज्ञेय और परिज्ञेय हैं।"[2] इस वचन से यह ज्ञात होता है कि अभिज्ञेय और परिज्ञेय धर्म केवल वही हैं जो इस सूत्र में परिगणित हैं। इस सूची में पुद्गल का उल्लेख नहीं है। इसलिए यह विज्ञेय नहीं है। वास्तव में जिस प्रज्ञा से धर्म अभिज्ञेय और परिज्ञेय होते हैं, उस प्रज्ञा और विज्ञान का समान विषय है।[3]

जिस आचार्य का यह मत है कि चक्षु पुद्गल को देखता है, उन्हें जानना चाहिए कि चक्षु केवल पुद्गल में वस्तुसत् को देखता है। [अर्थात् रूप—इसी प्रकार पाँच अन्य इन्द्रियों के लिए] यह कहकर कि चक्षु अनात्म में आत्मा को देखता है, आचार्य कुदृष्टि के गर्त में पतित होता है।[4]

---

१. दर्शन, श्रवण आदि की आकांक्षा, आकांक्षण चक्षुश्रोत्रादि इन्द्रियों में नहीं होती, क्योंकि वह निर्विकल्प हैं (निर्विकल्पकत्वात्)। यहाँ चक्षुरिन्द्रिय के अधिपति कर्म से आहृत मनोविज्ञान का अभिप्रेत है, तदाधिपत्याध्याहृत।

२. संयुत्त, ४.२६—सब्बं भिक्खवे अभिञ्ञापरिञ्ञेय्यम्। किं च भिक्खवे अभिञ्ञापरिञ्ञेय्यम्। रूपं भिक्खवे अभिञ्ञापरिञ्ञेय्यम्। चक्खुविञ्ञाणम्······।

३. प्रज्ञाविज्ञानयोः समानविषयत्वात्—वसुमित्र से तुलना कीजिए—ज्ञेय, विज्ञेय, अभिज्ञेय।

४. शुआन चाङ् के अनुसार।—परमार्थ—"जो आचार्य आत्मा में प्रतिपन्न हैं, वह कहते हैं, "मैं चक्षु से (चक्षुद्वार से) पुद्गल को देखता हूँ"; क्योंकि वह अनात्म में आत्मा को देखता है, इसलिए उसका पतन होता है······।"

भाष्य में अनात्मा शब्द है। व्याख्या इसकी टीका चक्षुषा चक्षुर्विज्ञानेनेत्यर्थः से करती है।—इसलिए परमार्थ के Yu को करण के अर्थ में समझना चाहिए—"क्योंकि वह देखता है, उससे जो अनात्म है—अर्थात् चक्षु से चक्षुर्विज्ञान से······।"

श्चेर्बात्स्की—"आपका यह विचार कि एक वस्तुसत् आत्मा है जो चक्षुद्वार से अन्य आत्माओं को देखता है, मिथ्या सत्कायदृष्टि कहलाता है।"

[२४५] बुद्ध ने यह भी निर्देश किया कि पुद्गल स्कन्ध की प्रज्ञप्ति है। पुरुष-सूत्र में[1] वह कहते हैं—"चक्षु का आश्रय ले रूप को आलम्बन प्रत्यय बना चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है; त्रिक् सन्निपात के कारण स्पर्श की उत्पत्ति होती है, वेदना, संज्ञा, मनस्कार आदि की उत्पत्ति पुद्गल से होती है।"[2] अन्तिम चार विज्ञान, वेदना, संज्ञा, चेतना अरूपी स्कन्ध हैं। चक्षु और रूप (वर्णसंस्थान) रूप स्कन्ध हैं। जब हम पुरुष कहते हैं तो हम इन्हीं की बात करते हैं। विविध सूक्ष्म भेदों को व्यक्त करने के लिए विविध शब्दों का व्यवहार होता है, जैसे सत्त्व, नर, मनुज, मनु से उत्पन्न मानव कुमार, पोष, जीव, जन्तु, जीवितेन्द्रिय[3]। पुद्गल आश्रय जो उत्पन्न होती है, उत्तम पुरुष में उसका प्रयोग होता है। मेरा (जिसका पोषण होता है) चक्षु रूप देखता है और प्रचलित व्यवहार के अनुसार यह आयुष्मान् अमुक नाम (देवदत्त) को अमुक जाति के अमुक गोत्र (कास्यप) के अमुक आहार के हैं, अमुक दुःख-सुख के संवेदी हैं।

चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा, इस वाक्य से यह परिणाम निकाल सकते हैं कि पद्गल चक्षु से देखता है। १.४२ की व्याख्या, पृ० ८५ (पेट्रोग्राद संस्करण) चुल्लनिद्देश, २३४—चक्खुना पुरिसो आलोकति रूपगतानि।—नीचे पृ० २५४, टि० ३ देखिये।

१. परमार्थ और शुआन-चाङ् के अनुसार।—श्चेर्बास्की—"अजित सूत्र में।"

२. परमार्थ के अनुसार—यह प्रसिद्ध वचन है—"चक्षुः प्रतीत्य रूपाणि चोत्पद्यते चक्षुर्विज्ञानम्। त्रयाणां संनिपातः स्पर्शः। सहजाता वेदना संज्ञा चेतना······३.३२ ए-बी देखिये (शुआन-चाङ्, १०.७ बी)।

३. परमार्थ में जन्तु शब्द है; शुआन-चाङ्—नर=न रमते, मानव = शिक्षित विद्वान् कुमार, जन्तु=जो उत्पन्न हो।

सेकी कुओकुगा द्वारा उद्धृत एक योगाचार टीका—सत्त्व, क्योंकि सब आर्य यथार्थ देखते हैं, केवल धर्मों का अस्तित्व है, किसी दूसरी वस्तु का अस्तित्व नहीं है; अथवा क्योंकि उसके लिए स्नेह है (सक्त से सत्त्व, जैसा बुद्धघोष में ?); मनोज क्योंकि मनस् से उत्पन्न ······पुद्गल क्योंकि अनेक प्रतिसन्धि में संसरण करते हुए यह गतियों में भ्रमण करता है और उनसे विरक्त होने की शक्ति नहीं रखता; जीव, क्योंकि प्रत्युत्पन्न काल में आयुस् के साथ रहता है। (कोश, २.४५); जन्तु मात्र हैं क्योंकि सब धर्म जिनका अस्तित्व है, जन्म से समन्वागत हैं।

अन्य सूचियों में तेरह नाम हैं। इनमें यक्ष, सुत्तनिपात, ८७५। सत्त्व, जे पी टी एस, १९१४, १३३, श्रीमती रीज़ डेविड्स, बुद्धिस्ट साइकॉलोजी, १९१४, ८३।—हम देख चुके हैं कि सत्त्व का अर्थ है वह जो मृत्यु को प्राप्त होता है, ५. पृ० १६ और ऊपर देखिए पृ० २२८-२९।

[२४६] इनकी अमुक आयु है, अमुक काल तक इनकी स्थिति है, अमुक प्रकार से इनकी आयु का अन्त है।'[1] हे भिक्षुओ! तुम जानते हो कि यह केवल लोक-व्यवहार के वचनमात्र, प्रतिज्ञामात्र, व्यवहार जन्तुमात्र हैं क्योंकि पुद्गल में केवल अनित्य संस्कृत हेतु प्रत्यय वस्तु हैं।

भगवत् का वचन है कि नीतार्थ सूत्र प्रतिसरण हैं। जिस सूत्र को हम उद्धृत कर रहे हैं, वह नीतार्थ है। उसका एक भिन्न अर्थ नहीं हो सकता।[2]

---

१. नीचे देखिये, पृ० २५६, टि० १।

२. चार प्रतिसरण का सूत्र २.४६ की व्याख्या अनुवाद पृ० २२६ में उद्धृत है—चत्वारीमानि भिक्षवः प्रतिसरणानि। कतमानि चत्वारि। धर्मः प्रतिसरणं न पुद्गलः। अर्थः प्रतिसरणं न व्यञ्जनम्। नीतार्थं सूत्रं प्रतिसरणं न नेयार्थम्। ज्ञानं प्रतिसरणं न विज्ञानम्।

महाव्युत्पत्ति, ७४, जहाँ क्रम दूसरा है—अर्थप्रतिसरणेन भवितव्यं न व्यञ्जन-प्रतिसरणेन, धर्म···ज्ञान···, नीतार्थसूत्रप्रतिसरणेन······(हियेन-भाङ्, नन्जियो, ११७७, टोकियो, १८.७, १० ए)।

धर्मसंग्रह, ५३; सूत्रालंकार, १८.३१-३३; जे. एएस. १९०२, २.२६६, मध्यमक-वृत्ति, २६८, ५९८।

प्रतिसरण, प्रतिशरण (दिव्य, ४२७, २२, १७६, २६. जहाँ सम्पादक 'Confiance' अनुवाद देते हैं।)

(१) बोधिसत्त्वभूमि, १, १७।

कथं बोधिसत्त्वश्चतुर्षु प्रतिसरणेषु प्रयुज्यते।

इह बोधिसत्त्वः अर्थार्थी परतो धर्मं शृणोति न व्यञ्जनाभिसंस्कारार्थी। अर्थार्थी धर्मं शृण्वन् न व्यञ्जनार्थी प्रकृतयापि वाचा धर्मं देश्यमानम् अर्थप्रतिसरणो बोधिसत्त्वः सत्कृत्य शृणोति।

पुनर् बोधिसत्त्वः कालापदेशं महापदेशं च (दीघ, २.१२४, आदि) यथाभूतं प्रजानाति। प्रजानन् युक्तिप्रतिसरणो भवति न स्थविरेणाभिज्ञानेन वा पुद्गलेन तथागतेन वा संघेन वा इमे धर्मा भाषिता इति पुद्गलप्रतिसरणो भवति। स एवं युक्तिप्रतिसरणो न पुद्गलप्रति-सरणस् तत्त्वार्थान् न विचलति अपरप्रत्ययश्च भवति धर्मेषु। [अपरप्रत्यय, मध्यमकवृत्ति, २४.८]। पुनर बोधिसत्त्वस्तथागते निविष्टश्रद्धो निविष्टप्रसाद एकान्तिको वचस्यभिप्रसन्नस् तथागतनीतार्थसूत्रं प्रतिसरति न नेयार्थम्। नीतार्थं सूत्रं प्रतिसरन्नसंहार्यो भवत्यस्माद् धर्म-विनयात्। तत्र हि नेयार्थस्य सूत्रस्य नानामुखप्रकृतार्थविभागोऽनिश्चितः संदेहकारो भवति। सचेत् पुनर् बोधिसत्त्वो नीतार्थेऽपि सूत्रेऽनैकान्तिकः स्याद एवम् असौ संहार्यः स्याद् अस्माद् धर्मविनयात्।

[२४७] इसके अतिरिक्त १. भगवत् एक ब्राह्मण से कहते हैं—"यदि मैं कहता हूँ कि सर्वं अस्ति तो इसका अर्थ द्वादश आयतन—

पुनर् बोधिसत्त्वः अधिगमज्ञाने सादर्शी (?) भवति न च श्रुतचिंताधर्मार्थं विज्ञानमात्रके। स यद् भावनामयेन ज्ञानेन ज्ञातव्यं न तच्छक्यं श्रुतचिन्ताविज्ञानमात्रकेन विज्ञातुम् इति विदित्वा परमगम्भीरानपि तथागतभाषितान् धर्मान् श्रुत्वा न प्रतिक्षिपति नापवदति।

एवं…चतुर्णां प्रामाण्यं प्रकाशितं भाषितस्यार्थस्य युक्तेः शास्तुर् भावनामयस्य चाधिगमनज्ञानस्य।

(२) अर्थः प्रतिसरणम्……।—महावग्ग, १.२३, ४, मज्झिम, २.२४० में यह विचार व्यक्त किया गया है; लंका में यह विचार सुपल्लवित है—अर्थप्रतिसरणेन भवितव्यम्……और फिर अर्थानुसारिणा भवितव्यम् न देशनाभिलाषाभिनिविष्टेन। व्यञ्जन उस अंगुलि के समान है जो उस वस्तु का स्पर्श करती है जिसे हम दिखाना चाहते हैं। वस्तु-दर्शन के लिए अंगुलि का हटाना आवश्यक है (लंका से सुभाषितसंगह, वेंडल द्वारा सम्पादित आगे ३४ में उद्धृत)। अर्थ और व्यञ्जन के सम्बन्ध पर, दीघ ३.१२७-१२८, नेत्तिपकरण २१।

(३) धर्मः प्रतिसरणं न पुद्गलः—दूसरा पाठ—युक्तिप्रतिसरणो भवति न पुद्गलप्रतिसरणः।

धर्म प्रतिसरण है, किसी का प्रामाण्य नहीं, चाहे बुद्ध ही क्यों न हों। यह मज्झिम, १.२६५ का मत है। जो कहता है कि—इन धर्मों की देशना स्थविर ने दी है, अभिज्ञा समन्वागत पुरुष ने दी है, तथागत ने दी है, संघ ने दी है, वह पुद्गल प्रतिसरण है" महापदेशास्, नीचे पृ० २५२, टि० २ के सिद्धान्त को ध्यान में रखिये।

(४) नीतार्थ सूत्र विभक्तार्थ सूत्र है, 'इस सूत्र का अर्थ निश्चित होता है।" नेतार्थ सूत्र का अर्थ अनिश्चित होता है। उसे निश्चित करना है (३.२८ की व्याख्या)।—४.३९, पृ० ९६ नीतार्थ सूत्र के लिए अभ्यर्थना।—वसुमित्र, sectes (संप्रदाय)।

अंगुत्तर, १.६० ही एक ऐसा पिटक-वचन है जो यहाँ रोचक होगा—तथागत के वचन नहीं हैं, उन्हें तथागत का बताना; तथागत के वचन को उनका वचन करके न मानना; नीतत्थ सुत्तन्त को नेय्यत्थ मानना और इसके विपरीत। [दीघ, ३.१२७-१२८, वह सूत्र जो व्यञ्जनतः अप्रमत्त है, किन्तु अर्थतः दुर्गृहीत है, यह विचार नीतत्थ और नेय्यत्थ सूत्र के भेद को उपनीत कर सकता है।]

नेत्तिप्पकरण में नीतत्थ और नेय्यत्थ [जिसका अर्थ व्यञ्जन के अनुसार है, यथारुतवसेन आतब्बत्थम्, जिसका अर्थ चिन्ता से निर्धारित होता है, निद्धारेत्वा गहेतब्बत्थम्]; दीपवंस [ओल्डेनबर्ग संस्करण, पृ० ३६) में यह कथावत्थु की टीका की भूमिका में (जे पी टी एस. १८८९, पृ०३) उद्धृत है। "परियायभाषित और निप्परियायभाषित का व्यतिकरण

[२४८] (१.२० ए) से है।[1] इसलिए यदि पुद्गल बारह आयतनों[2] में संगृहीत (तुलना कीजिए विसुद्धिमग्ग, ४७३, ४६९—जिसे अक्षरतः गृहीत न करना चाहिए और जिसे अक्षरतः गृहीत करना चाहिए) नीतत्थ और नेय्यत्थ जो किसी विशेष अभिप्राय से कहा गया है (संधाय भणित) उसका (यथाभूत अर्थ से भिन्न) अर्थक देना, इ.। व्यञ्जन का आदर करना, अर्थ को विनष्ट करना, सदृश सूत्रों की रक्षा करना……।"

अत्थसालिनी, ९१—'आप जिस सूत्र को उदाहृत करते हैं, हम उसके अर्थगौरव को तोलते हैं।'

संघभद्र, ३.२५ (टोकियो २३,४ ३३ बी १६)—स्थविर के अनुसार तथागत भाषित (नेत्तिप्पकरण, २१ का अहच्चवचन) सकल आर्य देशना नीतार्थ सूत्र है, अन्य सूत्र अनीतार्थ हैं। संघभद्र पहले ही सूचित करते हैं कि यह अर्थशास्त्र में नहीं है, इसलिए इसकी युक्ति अयथार्थ है क्योंकि ऐसे सूत्र हैं जो बुद्धभाषित नहीं हैं और नीतार्थ हैं और इसके विपरीत ऐसे सूत्र हैं जो बुद्धभाषित हैं और नीतार्थ नहीं हैं उदाहरण देते हैं, "अभिमान के अतिरिक्त यह कहना असम्भव है, मैं आकाश का आलम्बन लिए बिना अनिमित्त में समापन्न हूंगा" [यह बुद्ध-वचन नहीं है तिस पर भी यह सूत्र नीतार्थ है]……

जैसा हम वास्सीलीव, ३२९ में पाते हैं, मध्यमकावतार, ६.९४ के निकाय सूत्रों को हम दो भागों में विभक्त करने में सहमत नहीं हैं।

(५) हम देख चुके हैं कि बोधिसत्त्वभूमि के अनुसार अधिगम ज्ञान भावनामयी प्रज्ञा है, किन्तु विज्ञान श्रुतचिन्तामयी प्रज्ञा है। विभज्यवादियों के अनुसार ज्ञान स्वयं शुभ है, विज्ञान जब ज्ञान से संप्रयुक्त होता है, तब शुभ होता है [कोश, ४.८ बी, पृ० ३३, टि० ३]—इसका यह अर्थ हो सकता है कि ज्ञान लोकोत्तर ज्ञान है और विज्ञान जो लौकिक ज्ञान है, तभी शुभ होता है जब यह लोकोत्तर ज्ञान के समानन्तर होता है। ४.७५ के अनुसार पूर्वाचार्यों का मत है कि अधिगत (भावना में जो ज्ञान प्राप्त होता है) विज्ञान संगृहीत है, किन्तु यहाँ लौकिक भावना का प्रश्न है। [चतुःप्रतिसरण सूत्र में ज्ञान का अर्थ आर्य-ज्ञान श्रेष्ठ अनास्रव ज्ञान है, जैसे प्रज्ञा सब प्रज्ञाओं में अव्याकृत, क्लिष्ट, कुशल—अनास्रव प्रज्ञा है।] ऊपर देखिये पृ० २४४, टि० १, २।

मध्यमकवृत्ति, ५.१६, पृ० ६५, ७४ में कुछ टिप्पणियाँ हैं। गीता, ३.४१, ६.८, ७.२, ९.१, १८.४२।

१. संयुत्त, १३, १६—'सर्व अर्थात् बारह आयतन अर्थात् चक्षु श्रोत्रादि'; कोश, ५. अनुवाद, पृ० ६४, महानिद्देस १३३, संयुत्त, ४.१५ : सब्बं वुच्चति द्वादशायतनानि।

सर्व सब्ब पर कोश, ५.२७ सी, वारेन, पृ० १५८, श्रीमती रीज डेविड्स, प्वॉइन्ट्स ऑव कान्ट्रोवर्सी, ८५, स्चेर्वात्स्की, सेन्ट्रल कान्सेप्सन् ५; निर्वाण (१९२५), पृ० १३९।

२. शुआन-चाङ् पुद्गल का यहाँ यह अनुवाद देते हैं='जो अनेक प्रतिसन्धियों में जन्म ग्रहण करता है', ऊपर पृ० २४५, टि० ३।

नहीं है तो इसका अस्तित्व नहीं है; यदि वह उनमें संगृहीत है तो यह नहीं कहना चाहिए कि यह अवक्तव्य है।

२. वात्सीपुत्रीयों के निकाय में एक सूत्र पठित है जो इस प्रकार है—"हे भिक्षु! तथागत रूप चक्षु...... [अर्थात् बारह आयतन] को संगृहीत कर सर्व कहते हैं। यह सिद्ध करता है कि सर्व का अस्तित्व है, सर्व ज्ञान स्वतन्त्र धर्म है। किन्तु यहाँ कोई पुद्गल नहीं है—यह कैसे कह सकते हैं कि पुद्गल द्रव्य-सत् है?

[४६] ३. बिम्बसार सूत्र का वचन है कि "बाल अश्रुतवान पृथग्जन प्रज्ञप्ति में अनुपतित हो एक आत्मा की कल्पना करता है, किन्तु न आत्मा है, न आत्मीय है; केवल दुःखमय अनागत प्रत्युत्पन्न और अतीत धर्म है।"[1]

४. अर्हती भिक्षुणी शिला मार से कहती है—"तुम्हारा यह मत विपर्यस्त है कि संस्कृत स्कन्धों में (संस्कारो में) जो शून्य है, एक सत्त्व है, इसलिए तुम कुदृष्टि में अनुपतित हुए हो (कुदृष्टिगत)। बुद्धिमान पुरुष जानते हैं कि इस सत्त्व का अस्तित्व नहीं है। जिस प्रकार अंग-संभार को रथ का नाम देते हैं, उसी प्रकार लोक में सत्त्व शब्द का व्यवहार होता है—यह जानना आवश्यक है कि स्कन्ध समुदाय है।"[2]

५. क्षुद्रागम[3] में बुद्ध ब्राह्मण बादरि से कहते हैं[4]—"बादरि! जो आर्य सत्त्वों

---

१. कोश, ६.२८ ए-बी में यह सूत्र उद्धृत है (कॉस्मॉलोजी बुद्धीक, पृ० ४५)।

मध्यमकवृत्ति, ६ के आरम्भ में उद्धृत सूत्र के हम तुलना कर सकते हैं (शिक्षा-समुच्चय, २५२, मध्यमकावतार, २१७, बोधिचर्यावतार, ६.७३, पितापुत्रसमागम से उद्धृत) —बालो भिक्षवो (या महाराज) अश्रुतवान् पृथग्जनः प्रज्ञप्तिम् अनुपतितश्चक्षुषा रूपाणि दृष्ट्वा सौमनस्यस्थानीयान्यभिनिविसते...... ३.२८ की व्याख्या—प्रज्ञप्तिम् अनुपतित इति यथा संज्ञा च व्यवहारस्तथानुगतः [यह बाल आदि का लक्षण देती है]। यहाँ व्याख्या इस प्रकार है—यत्रैव प्रज्ञप्तिः कृता आत्मा इति व्यवहारार्थं तत्रैवात्मेत्यभिनिविष्ट इत्यर्थः।

२. परमार्थ में पहला श्लोक नहीं है।

शिला = पर्वतखण्ड, निःसन्देह यह थेरगाथा ५७-५६ की सेला है जो मार से बात करती है।—संयुत्त, १.१३५ में यह श्लोक वजिरा के बताये गये हैं, इसका अनुवाद साम्स "Psalms", पृ० १६० में है। (कथावत्थु, अनुवाद, पृ० ६१, मध्यमकावतार, २४६, २५७)।

३. शुआन-चाङ्—आगम में; परमार्थ—'सिआओ-आगम'। [नन्जियो, ५४६]।

बुद्ध-धरणि-फल = (शुआन-चाङ्), तरंग—आवृत्त करना—लाभ (परमार्थ); श्वेखात्सकी का पाठ बादरायण है।

का ज्ञान रखता है, वह समस्त राग से अपने को विमुक्त कर सकता है—चित्त से संक्लेश और चित्त से व्यवदान।[1]

[२५०] वास्तव में आत्मा अस्म स्वभाव नहीं है; विपर्ययवश लोग समझते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है, यहाँ सत्त्व है, न आत्मा, किन्तु केवल सहेतुक धर्म है—स्कन्ध, आयतन धातु—यह बारह भवांग हैं—इनमें अन्वेषण करने से किसी पुद्गल की उपलब्धि नहीं होती।[2] यह देखकर कि शून्य है, तुम देखते हो कि बहिर्गत शून्य है[3] तथा कोई ऐसा योगी नहीं है जो शून्य की भावना करता हो।"[4]

६. सूत्र-वचन है कि—"आत्माभिनिवेश से पाँच आदीनव होते हैं—

---

१. परमार्थ—बावरि, सुनो! [तुम] सकल राग से अपने को मुक्त करने की शक्ति [प्राप्त करोगे] यही चित्त संक्लिष्ट है; वहाँ चित्त का व्यवदान है, आत्मा आत्मस्वभाव नहीं है, विपर्ययवश लोग कल्पना करते हैं; न सत्त्व है, न जन्तु; केवल धर्म है—हेतु और फल।

विभाषा, १४२, १०—चित्त के विक्षेप और संक्लेश से विक्षिप्त संक्लिष्ट होता है, चित्त के व्यवदान से सत्त्व विशुद्ध होता है। पुरुषेन्द्रिय और स्त्रीन्द्रिय का सत्वभेद और सत्त्व-विकल्पभेद (कोश, २, अनुवाद पृ० १०४ में देखिये) यह अधिपतिभाव है। किओकुगा सूचित करते हैं—प्रथम श्लोक में आर्य सत्यश्रवण का उपदेश है।

२. नास्तीह सत्त्व आत्मा व [धर्मा एव सहेतुकाः।
द्वादशसु भवांगेषु स्कन्धायतनधातुषु।
] पुद्गलो नोपलभ्यते॥

३. विभाषा, ८; ४—सत्कायदृष्टि का प्रतिपक्ष अध्यात्मशून्यता आदि १० प्रकार की शून्यता है। [महाव्युत्पत्ति, ३७ की अधिक पूर्ण सूची देखिये—मध्यमकावतार, ५.१८० —शतसाहस्रिका, २१५; अभिसमय,२० शून्यता]

किओकुगा संयुक्तहृदय (? नन्जिओ, १२८७), ७,७।

४. शून्यम् आध्यात्मिकं पश्यन् पश्य शून्यं बहिर्गतम्।
न विद्यते सोऽपि कश्चिद् यो भावयति शून्यताम्॥

मध्यमकवृत्ति, पृ० ३४८ में इस तीसरे श्लोक (पश्य पश्य, पाठ के साथ) को भगवद्वचन बताया है। चीनी भाषान्तरों का पाठ पश्यन् पश्य है। "जैसे तुम देखते हो कि आध्यात्मिक शून्य है" (परमार्थ और शुआनचाङ्)। गौडपादकारिका (इसके बारे में संदेह है कि यह बौद्धों के शास्त्र का अनुकरण करती है या नहीं—तत्त्वम् आध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं तु बाह्यतः (२.३८)। शुआन-चाङ् अन्तिम पंक्तियों का अनुवाद करते हैं—"शून्यता की भावना करने वाला कोई योगी नहीं है।" व्याख्या की टीका—योग्यपि नास्ति यः शून्यताम् अभ्यस्यति।

[२५१] उसकी आत्मदृष्टि, सत्वदृष्टि, जीवदृष्टि होती है : वह तीर्थिकों से विशिष्ट नहीं होता, वह उन्मार्ग में प्रतिपन्न होता है, उसका चित्त शून्यता में प्रवेश नहीं करता, उसका चित्त सुप्रसन्न नहीं होता, वह सौमनस्य से स्थिर नहीं होता, वह अधिमुक्ति नहीं करता, आर्यधर्म उसमें विशुद्ध नहीं होते ।

वात्सीपुत्रीय—यह वचन प्रमाण नहीं है क्योंकि हमारे निकाय में यह पठित नहीं है।

फिर तुम्हारे सिद्धान्त में कौन प्रमाण माना जाता है—तुम्हारा निकाय या बुद्ध-वचन ? यदि तुम निकाय को प्रमाण मानते हो तो बुद्ध तुम्हारे शास्ता[1] नहीं हैं और तुम शाक्य पुत्र नहीं हो । यदि बुद्ध तुम्हारे लिए प्रमाण हैं तो तुम सब बुद्ध-भाषित को प्रमाण क्यों नहीं मानते ?

वात्सीपुत्रीय—यह वचन प्रामाणिक बुद्ध-वचन[2] नहीं है क्योंकि हमारे निकाय में यह पठित नहीं है ।

यह उचित युक्ति नहीं है । तुम पूछोगे क्यों ? इसलिए—

---

४. यह सूत्र (श्चेर्बात्स्की के अनुसार क्षुद्रागम) सूत्रालंकार, १८.१०१ (पृ० १५८) में दिया है और पंचक से उद्धृत हुआ है (पंचकेषु, चीनी सेंग वाउ (Tseng-wou) सूत्र में =पंचोत्तर ? एस० लेवी)—पंचकेषु पंचादीनवा आत्मोपलम्भ इति देशितः । आत्मदृष्टिर् भवति जीवदृष्टिः । निर्विशेषो भवति तीर्थिकैः । उन्मार्गप्रतिपन्नो भवति । शून्यतायाम् अस्य चित्तं न प्रस्कन्दति न प्रसीदति न संतिष्ठते नाधिमुच्यते । आर्यधर्मा अस्य न व्यवदायन्ते ।

तिब्बती भाषान्तर और व्याख्या इन पाठों का समर्थन करते हैं; इस विशेषता के साथ कि तिब्बती भाषान्तर का मूल —आत्मदृष्टिर् भवति सत्वदृष्टिर् जीवदृष्टिः होना चाहिए । व्याख्या में भी इसी प्रकार है—आत्मदृष्टिर भवति यावज्जीवदृष्टिर् इति प्रथम आदीनवः ।—शुआनचाङ् और परमार्थ में जीवदृष्टि के स्थान में 'दृष्टिगत में अनुपतित होता है' है । अंगुत्तर, ३.२४६ में प्रस्कन्धति-वाक्य है । दीघ, ३.२४०, संयुक्त, ३.१३३ में निब्बाने चित्तं न पक्खन्दति न प्पसीदति न संतिट्ठति न विमुच्चन्ति (पाठान्तर नाधिमुच्चति) । परितस्सना उपादानम् उप्पज्जति पच्चुदावत्तति मामसम् [संयुत्त के सम्पादक परितस्सना के आगे विराम-चिह्न देते हैं ।]

१. न तर्हि तेषां बुद्धः शास्ता ।

२. न किलैतद् बुद्धवचनमिति ।—व्याख्या—केनाप्यध्यारोपितान्येतानि सूत्राणीत्यभिप्रायः ।

ए. "तथागत भाषित सूत्र (तथागतभाषित) जो गम्भीर हैं, जो गुर्वंतर हैं, जो लोकोत्तर हैं (लोकुत्तर), जो शून्यता की देशना करते हैं (सुञ्ञतापटिसंयुत्त), उनको वह श्रद्धापूर्वक नहीं सुनेंगे, वह अन्यचित्त हो उनकी सत्यता को स्वीकार नहीं करेंगे (अञ्ञाचित्तम् न उपट्ठापेस्सन्ति) किन्तु वह कविकृत (कविकत) काव्यमय (कावेय्य) ललितस्वरव्यञ्जन-

[२५२] कि अन्य सत्त्व निकायों[1] में यह सूत्र पठित हैं क्योंकि यह सूत्र अन्य सूत्रों के विरुद्ध नहीं हैं और धर्मता के ही विरुद्ध हैं।[2] और जब तुम यह कहकर कि यह प्रामाणिक नहीं हैं क्योंकि हमारे निकाय में यह पठित नहीं हैं, इनका प्रतिवारण करने का दुःसाहस करते हो तो यह तुम्हारी निरी निर्लज्जता है और शिष्ट व्यवहार के प्रतिकूल है।

सूत्र में वात्सीपुत्रीय की प्रतिज्ञा और सभी अग्राह्य है क्योंकि उनके निकाय में एक सूत्र पठित है जिसका वचन है कि 'धर्म अनात्म है और उनमें आत्मा विद्यमान नहीं है।"[3]

वात्सीपुत्रीय - इसमें सन्देह नहीं कि यह सूत्र हमारे यहाँ पठित है। किन्तु पुद्गल धर्म नहीं है, धर्म उसके आश्रय हैं। यह इन धर्मों से अन्य भी नहीं है। इसलिए कहा गया है कि धर्म अनात्मा है।

बहुत अच्छा; किन्तु इसका परिणाम यह है कि पुद्गल मनोविज्ञान से विज्ञेय नहीं है क्योंकि सूत्र स्पष्ट रूप से व्यवस्थापित करता है कि मनोविज्ञान दो प्रत्ययवश उत्पन्न

युक्त बाह्य (बाहिरक) श्रावकभाषित सूत्रों में (सावकभासित) प्रतिपन्न होंगे...इस तरह प्रकार के सूत्रों का लोप हो जायगा..... " (संयुत्त, २.२६७)।

अष्टसाहस्रिका, ३२८ यद् एतत्त्वयेदानीं सूत्रं नैतद् बुद्धवचनम् कविकृतं काव्यम् एतत्। यत् पुनर् इदम् अहं भाषे एतद् बुद्धभाषितम् एतद् बुद्धवचनम्।

बी. संघभद्र, टोकियो, २३.३; ए, २५ बी (निर्वाण का अनुवाद, १९२५, पृ० २३): मूलसंगीतिभ्रंश, कोश, ३.१२ डी, १३ ए (कुकिन् के गीत); मुक्तक सूत्र, ३.४ सी, अपाठ एव, नीचे पृ० २५४, टि० १।

सूत्रों के व्यञ्जन पर शास्त्रार्थ, ३.३० बी और अन्यत्र।

१. सर्वनिकायान्तरेष्विति व्याख्या—ताम्रपर्णीय निकायादिषु। [१. ७ ए, अनुवाद पृ० ३२ की व्याख्या में ताम्रपर्णीय के निकाय का उल्लेख है।]

२. न धर्मतां बाधत इति प्रतीत्यसमुत्पादधर्मताम्।

चार महापदेशों पर सूत्र देखिये दीघ, २.१२३, डायलाग्स, २.१३३, टिप्पणी, अंगुत्तर, २.१६७, नेत्तिपकरण, २१-२२; रीज डेविड्स--स्टीडी महापदेश को विभक्त करते हैं, यह नेत्ति के टीकाकार के विरुद्ध है) और यह नियम कि जो सूत्र में है..... जो धर्मता को बाधित नहीं करता (अर्थात् पटिच्चसमुप्पाद, नेत्ति), सूत्रालंकार, १.१०, बोधिचर्यावतार, ६.४२, पृ० ४३१, अभिसमयालंकारालोक।—कालापदेश, पृ० २४६, टि० २।

३. सर्वे धर्मा अनात्मानः (संयुक्त, १०,७)।—व्याख्या—न चैत आत्मस्वभावाः न चैतेष्वात्मा विद्यत इत्यनात्मानः। सूत्रालंकार,, १८.१०१ (पृ० १५८) धर्मोद्दानेषु सर्वे धर्मा अनात्मान इति देशितम्।

होता है—मनस् और धर्म।[1] इसके अतिरिक्त तुम इस सूत्र का क्या अर्थ करोगे कि जिसका वचन है कि "अनात्म में आत्मा को देखना यह संज्ञाविपर्यास, चित्तविपर्यास, दृष्टिविपर्यास है।"[2]

वात्सीपुत्रीय—इस सूत्र का वचन है कि अनात्मा में आत्मा को देखना विपर्यास है; सूत्र यह नहीं कहता कि जो आत्मस्वभाव है, उसमें आत्मा को देखना विपर्यास है।

[२५३] अनात्मा का क्या अर्थ है ? क्या आप कहते हैं कि यह स्कन्ध, आयतन और धातु है ? यह आपके वाद के विरुद्ध है कि पुद्गल रूपादि से न अनन्य है, न अन्य।[3] —इसके अतिरिक्त सूत्र[4] वचन है—"भिक्षुओ! यह जानो कि सब ब्राह्मण श्रमण जो आत्म को मानते हैं, केवल पाँच उपादान स्कन्ध को मानते हैं।" इसलिए आत्मा में नहीं, आत्मा के कारण नहीं, किन्तु अनात्म धर्मों में जिनमें विपर्यास के कारण आत्मा की कल्पना करते हैं, आत्मग्राह होता है।[5] सूत्र-वचन है—"वह सब जो अपने अनेकविध पूर्वनिवासों का स्मरण कर चुके हैं, करते हैं या करेंगे; उनकी इस स्मृति का आलम्बन केवल पाँच उपादान स्कन्ध हैं।" इसलिए पुद्गल का अस्तित्व नहीं है।

वात्सीपुत्रीय—किन्तु यही सूत्र कहता है कि "अतीत अध्व में मैं रूपवान् था।"[6]

इस वचन का अभिप्राय यह दिखलाता है कि जो आर्य अपने पूर्वनिवासों का स्मरण कर सकता है, वह इन निवासों में अपनी संतान के लिए विशिष्ट लक्षणों का भी स्मरण करता है। किन्तु बुद्ध यह नहीं कहते कि वह एक पुद्गलवश सत्य को देखते हैं जो एक

---

१. द्वयं प्रतीत्य—यदि मनोविज्ञान का आलम्बन पुद्गल होता तो यह पुद्गल को आलम्बन प्रत्यय बना उत्पन्न हुआ होता।

२. अंगुत्तर, २.५२; कोश, ५९।

३. नात्मा स्कन्धायतनधातवः, यह वाद नो तु वक्तव्यं रूपाणि वा नो वा (ऊपर, पृ० २३८, टि० ३)।

४. संयुत्त, ३.४६—ये केचि भिक्खवे समणा वा ब्राह्मणा वा अनेकविहितम् अत्तानं समनुपस्समाना समनुपस्सन्ति सब्बे ते पंचुपादानक्खन्धे समनुपस्सन्ति एतेसं वा अञ्ञतरम्—मध्यमकावतार, ६.१२६ सी-डी में यही सूत्र उद्धृत है।

५. सर्व एवानात्मन्यात्मग्राहः। विभाषा, ८, ७,—आत्मन को अभिन्नलक्षण, अविशिष्टलक्षण, नित्य, अविकार, जाति, जरा-रोग-मरणरहित मानते हैं। तीर्थिक यह कैसे कहता है—गौतम ! मेरा विचार है कि रूप आत्मन है ? रूप आत्मन क्यों नहीं है, इस पर ७.१३ ए देखिये।

६. संयुत, २, १५—[ये केचिद् अनेविधं पूर्वनिवासम्......] इमान्एव पंचोपादान-स्कन्धान् समनुस्मरन्तः समन्वस्मार्षुः समनुस्मारन्ति समनुस्मरिष्यन्ति वा।

७. रूपवान् अहं बभूवातीतेऽध्वनि।—अहम् शब्द से केवल पुद्गल की प्रज्ञप्ति होती है।

पूर्वभव में ऐसे रूपादि से समन्वागत था—क्योंकि ऐसा सोचना सत्यकायदृष्टि में अनुपतित होना होगा।

[२५४] यदि इस वचन का यही अर्थ है, यही एक ही शरण है कि इस वचन को अप्रामाणिक कहकर अस्वीकार कर दिया जाय।[1]—हम यह निर्णय करते हैं कि जब सूत्र आत्मा को रूपादि से समन्वागत बताता है तो इसका अभिप्राय पुद्गल प्रज्ञप्ति से है, जैसे लोक में राशि बहु के समुदाय मात्र को कहते हैं जिसमें कोई एकल नहीं होता, या जल-धारा बहुक्षण में समवाहित जल को कहते हैं जिसमें नैरन्तर्य मात्र है, नित्यता नहीं है।[2]

वात्सीपुत्रीय[3]—उस अवस्था में भगवत् सर्वज्ञ नहीं हैं क्योंकि यह देखते हुए कि चित्त-चैत्त विपरिणामी हैं, क्षण-क्षण पर उत्पन्न और विरुद्ध होते हैं। चित्त-चैत्त सब धर्मों को नहीं जान सकते। केवल आत्मा पुद्गल में सर्वज्ञता हो सकती है।

हम उत्तर देते हैं कि यदि पुद्गल की मृत्यु चित्त से निषेध के साथ नहीं होती तो पुद्गल शाश्वत है—यह वाद आपके उस वाद के विरुद्ध है जो कहता है कि पुद्गल के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि यह शाश्वत है या अशाश्वत। जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है, हम (यहाँ सांघिकों के समान) यह नहीं कहते कि यथा बुद्ध इस अर्थ में सर्वज्ञ हैं कि वह एक ही काल में सब धर्मों को जानते हैं। बुद्ध[4] शब्द से एक सन्तान-विशेष कल्पित होता है।

---

१. अपाठ एव चात्र शरणम् स्यात्—यदि अहम् शब्द का अर्थ वही है जो आप कहते हैं तो बुद्ध जब अहम् कहते हैं तो वह सत्कायदृष्टि से क्लिष्ट होते हैं, जैसा तुम जानते हो कि सत्कायदृष्टि विंशकोटिक है—रूपम् आत्मेति समनुपश्यति रूपवन्तम् आत्मानम् ......। आत्मीयं रूपम्......रूपे आत्मानम्...... (महाव्युत्पत्ति, २०८; मध्यम, ५८,१; संयुत, ३,३, १६ इत्यादि)। विभाषा चार उदाहरण देती है जो महाव्युत्पत्ति में उद्धृत किये गये हैं—स्वामिवत्, अलंकारवत्, भृत्यवत्, भाजनवत्)

२. राशिधारादिवत्।—व्याख्या—एकस्मिन् क्षणे समवहितानां बहूनां राशिः। बहुषु क्षणेषु समवहितानां धारा। राशिदृष्टान्तेन बहुषु धर्मेषु पुद्गलप्रज्ञप्तिं दर्शयति। धारा दृष्टान्तेन बहुत्वे सति रूपवेदनादीनां स्कन्धानां प्रवाहे पुद्गलप्रज्ञप्तिं दर्शयति—जैसा कि आदि शब्द सूचित करता है; अन्य उदाहरण हैं— उदाहरणार्थ रथ (यानक)।

३. किओकुगा (विभाषा, ६, ७) उद्धृत करते हैं—"यथा वात्सीपुत्रीय कहते हैं, पुद्गल ज्ञाता है, ज्ञान ज्ञाता नहीं है।"

४. समयभेद की टीका के अनुसार महासांघिक का मत है कि अनेक कल्पों में चित्त का अभ्यास करके बुद्ध एक चित्तक्षण में सब धर्म-स्वभाव विशेष को जान सकते हैं, किओकुगा (विभाषा, ६, ८) उद्धृत करते हैं, "कोई ऐसा ज्ञान है जो सब धर्मों को जान सके? हाँ, लोकसंवृत्तिज्ञान......" (देखिये कोश ७.१८ सी)।—संयुत्त हृदय (नन्जिओ, १२८७)—

[२५५] इस सन्तति का यह विशेष सामर्थ्य है कि चित्त के आभोगमात्र से ही तत्काल उस अर्थ का अविपरीत ज्ञान उत्पन्न होता है जिसके सम्बन्ध में ज्ञान की इच्छा उदय हुई है, इस सन्तति को इसलिए सर्वज्ञ कहते हैं।[1] एक चित्तक्षण सर्वज्ञान का सामर्थ्य नहीं रखता। इस सम्बन्ध में एक श्लोक है, "जिस प्रकार अग्नि अपने सन्तान के सामर्थ्य से सबको भस्मात् करता है, उसी प्रकार, न कि सर्वज्ञ युगपद ज्ञान से सर्वज्ञ जानते हैं।"[2]

वात्सीपुत्रीय आप यह कैसे सिद्ध करते हैं कि सर्वज्ञ शब्द सन्तति के लिए है, न कि सर्वज्ञ आत्मा के लिए ?

अतीत प्रत्युत्पन्न अनागत बुद्धों के आगम विषय में यह कहा गया है (अतीतादि-वचनात्)। उदाहरणार्थ, हम श्लोक उद्धृत करते हैं—अतीत बुद्ध, अनागत बुद्ध, प्रत्युत्पन्न बुद्ध बहुतों के शोक का नाश करते हैं।[3] किन्तु आपके सिद्धांत में एक स्कन्ध तीन अध्व के होते हैं, पुद्गल के नहीं।

—'हाँ, सर्वज्ञान क्योंकि यह सर्व को जानता है। सर्व से तात्पर्य बारह आयतन, उनके विशेष लक्षण और सामान्य लक्षण से है।" देखिये ७, पृ० ८२। बुद्ध की सर्वज्ञता, उनका अनागत अध्व-विषयक ज्ञान आदि पर कोश, १.१, २.६२, पृ० ३०४, ३४, पृ० ८२, ३७ ए देखिये।

१. बुद्धाख्यायाः सन्ततेर् इदं सामर्थ्यं यद् आभोगमात्रेणा विपरीतं ज्ञानम् उत्पद्यते यत्रेष्टम्।

२. बुद्धभूमि, ४, १२, इस श्लोक का प्रतिषेध करती है।—"यह रिक्त वचन है, जिस क्षण में परचित्तज्ञान एक अर्थ का ग्रहण करता है, उस क्षण में वह अन्य अर्थों का ग्रहण नहीं करता; क्योंकि वह अन्य विषयों का ज्ञान नहीं रखता, इसलिए यह सर्वज्ञान नहीं है। सन्तति भी [सर्व का] ग्रहण नहीं करती, क्योंकि यह उसी को जानती है जो प्रत्युत्पन्न है। आपके सिद्धान्त में सन्तान केवल धर्मों में भाग के सामान्य लक्षणों को जानता है। यदि यह ठीक है तो केवल प्रज्ञप्तिवश तथागत को सर्वज्ञ कहते हैं······"

३. ये चाभ्यतीता संबुद्धा ये च बुद्धा अनागता।
ये चैतर्हि संबुद्धा बहूनां शोकनाशकाः॥

—महावस्तु, ३.३२७।

ये चाभ्यतीतसंबुद्धा ये च बुद्धा ह्यनागताः।
यश्चाप्येत हि संबुद्धो बहूनां शोकनाशकाः॥

उदानवर्ग, २१.१०, जे आर ए एस, १९२४, अप्रैल।—संयुत्त, ४४, १७, संयुत्त, १.१४०, अंगुत्तर, २.२१।

यदि बुद्ध पुद्गल हैं तो वह पंचम प्रकार अवक्तव्य में संगृहीत होंगे, यह प्रकार तीन अध्व और असंस्कृत से भिन्न है (ऊपर देखिये, पृ० २३७)।

[२५६] वात्सीपुत्रीय—यदि पुद्गल शब्द केवल पाँच उपादान स्कन्ध (१.८ ए) का नाम है तो भगवान् यह कैसे कह सकते हैं कि "हे भिक्षुओ ! मैं तुमको उपदेश दूंगा, भार, भारदान, भारनिक्षेपण, भारहार की देशना दूंगा ?"[१]

वह ऐसा क्यों नहीं कर सकते ?

वात्सीपुत्रीय—क्योंकि यदि पुद्गल स्कन्धों के लिए प्रज्ञप्तिमात्र है तो वह भारहार अर्थात् स्कन्ध का हो नहीं सकता, भार भारहार नहीं हो सकता क्यों ?—क्योंकि ऐसा कभी सुना नहीं गया है।

इसलिए अवक्तव्य पुद्गल की बात न कीजिए। अवक्तव्य वस्तु का अस्तित्व कभी किसी ने सिद्ध नहीं किया है। और इसके अतिरिक्त आपको सूत्र की दूसरी प्रतिज्ञा का भी विचार करना होगा कि तृष्णा भारदान क्योंकि तृष्णा उपादान स्कन्ध है, इसलिए ये भार हैं और यह नहीं सुना गया है कि भार अपना आदान करता है।—भारादान (=वह जो भार का आदान करता है) स्कन्धों में संगृहीत है और यही भारहार के लिए है। यह पंचस्कन्ध है।

[२५७] जैसे भगवत् भारहार को पुद्गल प्रज्ञप्ति से सूचित करते हैं जैसा इसी सूत्र में आगे दी हुई भगवत् की देशना से स्पष्ट है। यह कहकर कि भार पंच उपादान स्कन्ध है, भारादान तृष्णा है, भार निक्षेपण तृष्णा का अशेष प्रहाण है। भगवत् कहते हैं कि

---

१. भारहारसूत्र (सूत्रालंकार, १८.१०२) या केवलभारसुत्त (विसुद्धि, ४७६, ५१२)।

भारं च वो भिक्षवो देशयिस्यामि भारादानं च भारनिक्षेपणं च भारहारं च। तच्छृणुत साधु च सुष्ठु च मनसिकुरुत भाषिष्ये। भारः कतमः। पंचोपादानस्कन्धाः। भारादानं कतमत् तृष्णा पौनर्भविकी नन्दीरागसहगता तत्र तत्राभिनन्दिनी। भारनिक्षेपणं कतमत्। यद् यस्या एव तृष्णायाः पौनर्भविक्या नन्दीरागसहगतायास्तत्र तत्राभिनन्दिन्या अशेषप्रहाणं प्रतिनिःसर्गो व्यन्तीभावः क्षयो विरागो निरोधो व्युपशमोऽस्तंगमः। भारहारः कतमः। पुद्गल इति स्याद् वचनीयं योऽसावायुष्मान् एवंनामा एवंजात्य एवंगोत्र एवमाहार एवंसुखदुःखप्रतिसंवेदी एवं-दीर्घायुर् एवंचिरस्थितिक एवम् आयुष्पर्यन्त इति। (व्याख्या; वह निःसन्देह एकोत्तर, १७,३ का सूत्र है)।

संयुत्त, ३.२५ में यह क्रम है—भार, भारहार, भारादान, भारनिक्खेपन।—अनेक पाठभेद हैं। भारहार का लक्षण दिया है—पुग्गलो तिस्स वचनीयम्। यो यम् एवन्नामो एवंगोत्तो अयम् वुच्चति भिक्खवे भारहारो।

संघभद्र ने २३ ३, आगे ५६ ए में इसका विचार किया है।

न्यायवार्तिक (बिब्लिओ इण्डिका) पृ० ३४२; बोधिचर्यावतार, ६७३; मध्यम-कावतार, ६.४२, बोधिसत्त्वभूमि, १.१७, वारेन, १५६,२४०, मिनयेव, रिसर्चेज, २२५; ई० हार्डी, जे आर ए एस, १६०१, ५७३ (यह वसुबन्धु के अनुसार सूत्र का अर्थ करते हैं); डॉयसॉंन्स, १.२७।—प्राण और भार दाउसेन गेदेन, उपनिषद्स, २२१।

भारहार पुद्गल है और जिसमें कोई पुद्गल को विपरीत भाव से उसको भावनित्य अवक्तव्य द्रव्यसत् के रूप में ग्रहण न करे, वह समझाते हैं [यह केवल लोक-व्यवहार के लिए कहा जाता है]—यह आयुष्मान अमुक नाम अमुक गोत्र के इत्यादि [जैसा पुरुष सूक्त में है, ऊपर पृ०२४५] जिसमें स्रोता अच्छी तरह जाने कि पुद्गल वक्तव्य अनित्य निःस्वभाव है।[1]

पंच उपादान स्कन्ध का स्वभाव दुःखमय है इसलिए उनको भार कहते हैं। सन्तति के पूर्व क्षणों में से प्रत्येक को आकृष्ट करता है, इसलिए इसे भारहार कहते हैं।[2]—इसलिए पुद्गल द्रव्यसत् नहीं है।

[२५८] वात्सीपुत्रीय—पुद्गल द्रव्यसत् है क्योंकि सूत्र-वचन है कि उपपादुक सत्त्वों का परिषेध करना[3] मिथ्या दृष्टि है।[4]

---

१. निक्षेप वाक्यों के बीच के शब्द शुआन-चाङ् के जोड़े हुए हैं।

व्याख्या—यदि द्रव्यसन् स्यात् पुद्गलः। भारहारः कतमः। पुद्गल इति स्याद् वचनीयम् इति एतावद् एवोक्तं स्यात्। तत्र सूत्रे परेण स न विभक्तव्यः स्यात् योऽसावायुष्मान् इति विस्तरेण यावद् एवमायुष्पर्यन्त इति। प्रज्ञप्तिसत्पुद्गल-प्रतिपत्त्यर्थं ह्येतत् परेण विशेषणम् इत्यभिप्रायः।

यदि पुद्गल द्रव्यसत् होता तो भारहार कौन है ? इस प्रश्न के उत्तर में बुद्ध केवल इतना कहे होते कि वह पुद्गल कहलाता है। वह विस्तार न करते और यह कहते हैं कि वह अमुक आयुष्मान, अमुक नाम का अमुक आयुष्यन्ति का है। इन विशेषणों का अभिप्राय यह दिखाना है कि पुद्गल केवल प्रज्ञप्ति सत् है।

२. मैं शुआन-चाङ् के अनुवाद का अनुसरण करता हूँ।

तिब्बती भाषान्तर में श्चेरबात्स्की के अनुसार इस प्रकार है—"पूर्वस्कन्ध उत्तरस्कन्धों को पीड़ा पहुँचाते हैं, इसलिए वह भार और भारहार कहलाते हैं।"—परमार्थ—स्कन्ध स्कन्धों को पीड़ा पहुँचाते हैं (अक्षरार्थ=विनष्ट करते हैं) अर्थात् पूर्व उत्तर को पीड़ा पहुँचाते हैं, यह सूचित करने के लिए कि यह भारहार और भार के लक्षण उपस्थित करते हैं। सूत्र इन शब्दों का व्यवहार करता है।—व्याख्या इस प्रकार का अर्थ समझती है—"सूत्र में है—स्कन्धों में इत्यादि। जो स्कन्ध उपघात पहुँचाते हैं, जो दुःख हेतु हैं, वे इसलिए भार कहलाते हैं" (स्कन्धानाम् इति विस्तरः। तत्र ये उपघाताय संवर्तन्ते दुःखहेतव. स्कन्धास्ते भार इति कृत्वोक्ताः। उत्तरे ये पीड्यन्ते ते भारहार इति कृत्वोक्ताः)।

३. उपपादुक सत्त्व और अन्तराभाव पर ३.८ सी देखिये।

४. साम्मितीय निकायशास्त्र, तृतीय अध्याय के अनुसार।

विभाषा, १९८, २—"इस लोक का अस्तित्व नहीं है, परलोक का अस्तित्व नहीं है, उपपादुक सत्त्व नहीं है; यह मिथ्या दृष्टि है", हेतु प्रतिषेध है (४.७८, ७९ बी और ५.७ पृ० १८ से तुलना कीजिए)। "उपपादुक सत्त्व नहीं है"। बाह्य आचार्य हैं जो कहते हैं कि

कौन उपपादुक सत्त्वों में अप्रतिपन्न है ? हम इन सत्त्वों के अस्तित्व को उसी अर्थ में स्वीकार करते हैं जिस अर्थ में भगवत् करते हैं। उपपादुक सत्त्व से बुद्ध उस स्कन्ध सन्तान को [अन्तराभाव के पंचस्कन्धों की सन्तान को] ज्ञापित करते हैं जो जरायु अण्ड स्वेद के बिना ही दूसरे लोक को जाने में समर्थ होते हैं। इस लक्षण के उपपादुक सत्त्व में अप्रतिपन्न होना मिथ्या दृष्टि है क्योंकि इस प्रकार का स्कन्ध सन्तान वास्तव में है।

यदि आपका यह मत है कि पुद्‌गल प्रतिषेध मिथ्या दृष्टि है तो आपको यह कहना होगा कि इस मिथ्या दृष्टि का प्रहाण होता है। यह दर्शन हेय है न भावना हेय, क्योंकि एक पक्ष में पुद्‌गल का सत्यों मे अन्तर्भाव नहीं है और दूसरे पक्ष में मिथ्या दृष्टि का प्रहाण भावना मार्ग से नहीं होता, किन्तु दर्शन मार्ग से होता है।[1]

[२५९] वात्सीपुत्रीय—किन्तु सूत्र का कहना है कि "एक पुद्‌गल इस लोक में उत्पन्न होता है (उत्पद्यते)......।"[2] इसलिए यह पंचस्कन्ध का नहीं है, किन्तु एक वस्तु सत् है।

सब सत्त्व शुक्र शोणित आदि से उत्पन्न होते हैं; कोई ऐसे सत्त्व नहीं हैं जो प्रत्यय के बिना अकस्मात् स्वयमेव उत्पन्न होते हैं।...कुछ के अनुसार उपपादुक सत्त्व अन्तराभव के सत्त्व हैं; इस लोक और परलोक में अप्रतिपन्न होना उपपत्तिभव में अप्रतिपन्न होना है; उपपादुक सत्त्वों में अप्रतिपन्न होना अन्तराभव में अप्रतिपन्न होना है।

कर्म प्रज्ञप्ति (प्रकरण, ४ Mdo, ६२ आगे २१८) विभिन्न है—"न दान है, न यज्ञ, न होम, न पुण्य, न पाप, न पुण्य न पाप का विपाकफल, न यह लोक, न परलोक है, न पिता है, न माता, न उपपादुक सत्त्व; इस लोक में कोई अर्हत् नहीं है जो परिनिर्वृत हो निर्वाण धातु में प्रविष्ट हो ऐहिक और सांपरायिक का साक्षात्कार कर यह विचारता हो कि मेरी जाति क्षीण हो गई है, ब्रह्मचर्य का मैंने सुष्ठु आचरण किया है..."

१. कोश प्रकरण ५ और ६, पृ० ६—पुद्‌गल, जैसा तुम उसे जानते हो, आर्यसत्त्वों में अन्तर्भूत नहीं है—यह दुःख (=उपादन स्कन्ध) नहीं है, न समुदाय, न निरोध, न मार्ग। इसलिए यदि जैसा तुम कहते हो, पुद्‌गल-निषेध मिथ्या दृष्टि है तो यह मिथ्या दृष्टि सत्यदर्शन से अपगत नहीं हो सकती।—वास्तव में एक दृष्टि उस सत्य के दर्शन से अपगत होती है जिस सत्य में यह विप्रतिपन्न होती है (यस्मिन् सत्ये विप्रतिपन्ना)।—दूसरे पक्ष में क्लेश-भावना हेय होता है जब भावना प्रहातव्य वस्तु, जो दुःख-सत्य या समुदय-सत्य में अन्तर्भूत है, इस क्लेश का आलम्बन होता है, (भावनाप्रहातव्यो हि क्लेशो भावनाप्रहातव्यम् एव वस्तु दुःखं समुदयं वालम्बते)......इसके अतिरिक्त कोई दृष्टि भावना से प्रहीण नहीं होती।

२. एकोत्तर, ३.१६, ५.१२—परामर्थ—"एक पुद्‌गल लोक में उत्पन्न होता है; उत्पन्न होकर वह बहुजन का हित, लाभ, सुख साधित करता है।"—अंगुत्तर, १.२२, एक-पुग्गलो भिक्खवे लोके उप्पज्जमानो उप्पज्जति बहुजनहिताय...।

इस सूत्र का साम्मितीय निकायशास्त्र में उपयोग किया गया है।

सूत्र का यह अर्थ नहीं है। सूत्र समुदाय मात्र को उपचार से एकत्र कर अवरोपित-प्रज्ञापित करता है, जैसे लोक में एक तिल, एक तंडुल, एक राशि, एक वचन सब व्यवहृत होते हैं।[1] इसके अतिरिक्त क्योंकि सूत्र-वचन से पुद्गल का उत्पत्तिमत्त्व अभ्युपगत होता है, इसलिए यह संस्कृत है।

वात्सीपुत्रीय—जब पुद्गल का प्रश्न है, तब उत्पद्यते शब्द का अर्थ नहीं है जो स्कन्धोत्पाद का है। जब हम कहते हैं कि स्कन्ध उत्पन्न हुए हैं तो इसका अर्थ है कि वह अनुत्पन्न थे, उनका अस्तित्व नहीं था, अब इनका अस्तित्व है। पुद्गल के सम्बन्ध में जब हम कहते हैं कि यह उत्पन्न हुआ है तो यह इसलिए कहते हैं क्योंकि इस क्षण में यह स्कन्धान्तर को उपादान बनाता है।[2] (उदाहरणार्थ मनुष्य का मनस् पशु के मनस् के स्थान में)। जैसे लोक में जब कोई सत्त्व किसी विशेष विद्या को प्राप्त करता है तो कहा जाता है कि याज्ञिक हुआ है, वैयाकरण हुआ है। जब कोई उपासक विशेष लक्षण धारण करता है तो कहते हैं कि अमुक निकाय का भिक्षु हुआ है। इन वाक्यों का यह अभिप्राय नहीं है कि भूतार्थ में याज्ञिक का, भिक्षु का जन्म हुआ है। इसी प्रकार किसी विशेष अवस्था की प्राप्ति के कारण हम कहते हैं कि जीर्ण हुआ है, व्याधित हुआ है। लोक में पुद्गल उत्पन्न हुआ है। इस वाक्य के इस अर्थ का भगवत् ने निषेध किया है। परमार्थशून्यता-सूत्र में[4]

---

१. एकतिलैकतण्डुलवद् एकराश्येकवचनवत्।—तिलबीज द्रव्याष्टक है, शब्द व्यञ्जन-समुदाय है।

२. स्कन्धान्तरोपादानात्—इसलिए हम मानते हैं कि इसका उत्पाद होता है; किन्तु इसलिए यह संस्कृत नहीं है।

३. यथा हि याज्ञिको जात इति विद्योपादानाद् उच्यते न चासौ भूतार्थेन जातस् तद्वत्।

४. संयुत्त, १३, २१ में परमार्थशून्यतासूत्र—"हे भिक्षुओ! उत्पद्यमान चक्षु किसी स्थान से नहीं आता, निरुद्धमान चक्षु किसी स्थान नहीं जाता। इस प्रकार चक्षु द्रव्यसत् नहीं है, किन्तु उत्पन्न होता है और उत्पन्न होकर निरुद्ध होता है। कर्म विपाक है, किन्तु कारक नहीं है। यह स्कन्ध विनष्ट होते हैं, अन्य स्कन्धों की प्रतिसन्धि होती है—धर्म-संकेत से अन्यत्र। श्रोत्र······धर्म-संकेत से श्रवण होता है—इससे होने पर वह होता है···अविद्या प्रत्ययवश संस्कार होते हैं···।"

विविध उद्धृत अंशों को एकत्र कर हम सूत्र के एक भाग का उद्धार करते हैं—चक्षुर् भिक्षव उत्पद्यमानं न कुतश्चित आगच्छति। निरुद्ध्यमानं च न कचित संनिचयं गच्छति। इति हि भिक्षवश्चक्षुर् अभूत्वा भवति भूत्वा वा प्रतिविगच्छति (कोश, ५,२७, अनुवाद पृ० ५९)। अस्ति कर्म अस्ति विपाकः। कारकस्तु नोपलभ्यते य इमांश्च स्कन्धान् निक्षिपति अन्यांश्च स्कन्धान् प्रतिसंदधाति अन्यत्र धर्मसंकेतात्। (यह एक पाद है, देखिये कोश, ३·१८ सूत्रालंकार, १८.१०१, बोधिचर्यावतार, ९·७३ में पाठभेद है)। अत्रायं धर्मसंकेतो यद्

[२६०] भगवद् कहते हैं—"कर्म है; विपाक है;[1] किन्तु धर्मों के प्रतीत्य समुत्पाद से अन्यत्र [जो एक नित्य कारक का मान उत्पन्न करता है] किसी कारक का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता जो इन स्कन्धों का निक्षेप करता है और अन्य स्कन्धों का उपसंग्रहण करता है।"[2]—पुनः फाल्गुनसूत्र में "मैं नहीं कहता कि उपदाता हूँ।"[3]

[२६१] इसलिए कोई पुद्गल नहीं है जो स्कन्धों का निक्षेप्ता और उपदाता हो।

आइये हम आपके इस उदाहरण की परीक्षा करें—"एक याज्ञिक हुआ है।" उसका स्वभाव क्या है जो याज्ञिक होता है? क्या आप कहेंगे कि एक पुद्गल याज्ञिक होता है? किन्तु आपको पुद्गल के अस्तित्व को ही तो सिद्ध करना है। क्या आप कहेंगे

उतास्मिन् सतीदं भवति अस्योत्पादात् इदम् उत्पद्यते (कोश, ३.१८, बोधिचर्यावतार,···) अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः···।

१. अस्ति कर्म। अस्ति विपाकः। कारकवस्तु नोपलभ्यते। देखिये कोश, ५.२७, पृ० ५६; बुद्धघोष, विसुद्धि, ६०२ में पौराणों (पोराण) को उद्धृत करते हैं—कम्मस्स कारको नत्थि विपाकस्य च वेदको। [हम पृ० ५१३ में पाते हैं कि दुक्ख; कम्म निब्बुति, मग्ग हैं, किन्तु दुक्खित्, कारक, निब्बुत···नहीं हैं।]

आपके महायान के ग्रन्थों में यही सिद्धान्त या यही सूत्र-वचन पाया जाता है, मध्यमकावतार, ६.८४, शिक्षासमुच्चय, २४४, २६२, सूत्रालंकार (जो वसुबन्धु पर आश्रित है); १८.१०१।

२. अन्यत्र धर्मसंकेतात्—इस वाक्य का अर्थ संदिग्ध नहीं है। व्याख्या इसका अर्थ करती है—धर्मसंकेताद् इति प्रातीत्यसमुत्पादलक्षणात्—"धर्मों के संयोग से अन्यत्र अर्थात् धर्मों के अतीत्य समुत्पाद से अन्यत्र"; और अन्यत्र देखिये (३.१८ की व्याख्या)—संकेत= हेतुफल संबन्ध व्यवस्था।—किन्तु परामर्थ संकेत का अर्थ औपचारिक प्रज्ञप्ति देते हैं। इसलिए उनका अनुवाद इस प्रकार है—"कारक का अस्तित्व कोई सिद्ध नहीं करता अन्यत्र इसके, कि जब लोक व्यवहार के अनुसार धर्मों के लिए कहा जाता है कि वह पुद्गल है।"

३. संयुत्त, १५,५; संयुत्त, २.१४—परामर्थ—"मैं नहीं कहता कि धर्म सन्तान से अन्यत्र कोई सत्त्व स्कन्धों का उपादान करता है।" संस्कृत रूप इस प्रकार है—उपादत्त इति फाल्गुन न वदामि। अहं चेद् एवं वदेयम् उपादत्त इति अत्र ते कल्पः स्याद्, वचनाय को नु भदन्त उपादत्त इति। यह द्रष्टव्य है कि भगवत् उस सत्त्व के सम्बन्ध में कहते हैं कि "जो इस काय का निक्षेप करता है और दूसरे काय का उपादान करता है,—तं च कायं निक्खिपति अञ्ञं च कायम् उपादियति (संयुत्त, ४.६०)। [जिस प्रकार पीछे इंधन के बिना जलने वाली अग्नि का उपादान वायु है, उसी प्रकार तृष्णा उस सत्त्व का उपादान है, वही, ४०० जो इस काय का निक्षेप करती है और जिसने (अभी) दूसरी का उपादान नहीं किया है।] हम ऊपर पृष्ठ २२८, २४५, टि० ३ में पुद्गल का विवेचन देख चुके हैं—पुनः पुनः···।

कि यह चित्त सन्तान है ? किन्तु चित्त चैत्त की प्रतिक्षण अपूर्व उत्पत्ति होती है (प्रतिक्षणम् अपूर्वोत्पत्ति)[1] और वे निक्षेप और उपादान की सामर्थ्य नहीं रखते। क्या आप कहेंगे कि यह शरीर (इन्द्रिय-समुदाय) है; इसमें भी वही कठिनाई है (तस्यापि तथा)। आप यह भी कहते हैं कि जिस विद्या के उपादान से तथाकथित पुद्गल याज्ञिक होता है, वह विद्या उस पुद्गल से भिन्न है—उपमा की यथार्थता के लिए पुद्गल द्वारा उपादत्त स्कन्धों का पुद्गल से अन्य होना आवश्यक है। यह आपके पुद्गल के लक्षण के विरुद्ध है। जीर्ण और व्याधित के दृष्टान्तों में शरीरान्तर की परम्परा है। यह मत कि जीर्ण पुरुष युवा पुरुष का परिणाम है, सांख्य का परिणामवाद है। इसका प्रतिषेध हम पहले कर चुके हैं।[2] इसलिए आपके दृष्टान्त असिद्ध ठहरते हैं। यदि आप यह कहें कि स्कन्ध उत्पन्न होते हैं, पुद्गल नहीं उत्पन्न होता तो इसका यह फल होता है कि पुद्गल स्कन्ध से अन्य है और नित्य है। आप यह भी मानते हैं कि स्कन्धों की संख्या पाँच है और पुद्गल एक है—यह भी इसका समर्थन करता है कि पुद्गल स्कन्ध से अन्य है।

वात्सीपुत्रीय—आपकी स्थिति बहुत मिलती-जुलती है क्योंकि आप मानते हैं कि पृथिवी आदि महाभूत चार हैं; और

[२६२] उपादायरूप—उदाहरणार्थ रूप—एक है; किन्तु आप यह भी कहते हैं कि उपादायरूप महाभूतों से अन्य नहीं है।[3]

हमारे पक्ष में यह दोष वाद नहीं है, किन्तु यह केवल उन आचार्यों के पक्ष में है जो कहते हैं कि उपादानरूप चारभूत हैं (भूतमात्रिकपक्ष)[4]। किन्तु हम कहेंगे कि

---

१. किओकुशा साम्मितीय निकायशास्त्र, १.७ (आगे २बी) उद्धृत कर चुके हैं।

२. स एव हि धर्मो न संविद्यते यस्यावस्थितस्य धर्मान्तरविकल्पः परिकल्प्येत। तद् एव चेदं तथा इत्यपूर्वैषा वाचो युक्तिः। परिणन्तुम् का अर्थ है परिणत होना; अन्यथात्वम् आपत्तुम्।

परिणाम पर, ३.४३ए, ५०ए, १००ए-बी, ५.२६, पृ० ५४; सौत्रान्तिकों का संतति-परिणाम सर्वथा भिन्न है, २.३६ सी, ४.४ ए।

३. भूतानि चत्वारि रूपं चैकम् इति। व्याख्या—रूपं कतमत्। चत्वारि महाभूता-नीत्यादि।

महाभूत और उपादायरूप (भौतिक रूप) के वर्णन के लिए १.३५, २.२२, ६५ देखिये।

४. पाक्षिक एव दोष इति एकस्मिन् पक्षेऽयं दोषवाद इत्यर्थः। भूतमात्रिक पक्ष इति स्थविरबुद्धदेवपक्षो नास्मत्पक्ष इत्यर्थः।

विभाषा, १२७.३—"बुद्धदेव का मत है कि रूप महाभूत मात्र है और चित्त चैत्त मात्र है। वह कहते हैं कि उपादायरूप महाभूत का विशेष मात्र है, चैत्त केवल चित्त विशेष

भूतमात्रिकपक्ष में जिस प्रकार उपादायरूप चारभूत से अन्य नहीं है, उसी प्रकार यह उपगत होता है कि पंचस्कन्ध से पुद्‍गल अन्य नहीं है।

वात्सीपुत्रीय—यदि पुद्‍गल पंचस्कन्ध की प्रज्ञप्ति के लिए शब्द मात्र है तो भगवद् ने यह क्यों नहीं व्याकृत किया कि जीव शरीर है ?[१]

[२६३] क्योंकि भगवद् पूछने वाले के आशय को ध्यान में रखते हैं। इस सत्त्व का जीव से आशय सचेतन सत्त्व स्कन्ध प्रज्ञप्ति मात्र से नहीं है, किन्तु एक पुद्‍गल जीवित द्रव्य सत्त्व से है और इस पुद्‍गल की दृष्टि से वह पूछता है कि जीव शरीर से अनन्य है या अन्य। इस जीव की परमार्थ सत्ता नहीं है—प्रश्नकर्ता या तो तत्त्व या अन्यत्व-सम्बन्ध की बात करता है। भगवद् इसलिए इन दोनों उत्तरों का प्रतिषेध करते हैं। जिस प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि कूर्मरोप कर्कश होते हैं या मृदु।[२]

पूर्वकों ने (पूर्वाचार्यों ने) इस कठिनता को समझाया है। एक भदन्त नागसेन थे। वह तीन विद्या (७·४५), छह अभिज्ञा (७·४२), आठ विमोक्ष (८·३२) से समन्वागत थे। उस समय महाराज मिलिन्द उनके पास आये और कहा—"मेरी कुछ शंकायें हैं, उनके समाधान के लिए मैं आया हूँ, किन्तु श्रवण वाचाल होते हैं[३]—आप इसे स्वीकार करें कि

है······महाभूत देखते हैं [जब वे चक्षुरिन्द्रिय होते हैं]······महाभूतों से अन्यत्र उपादाय शब्द नहीं है [अर्थात् शब्द एक ऐसी वस्तु नहीं है जिसका अस्तित्व महाभूतों से स्वतन्त्र हो] यह महाभूत हैं जिन्हें उपादाय शब्द कहते हैं।"

विभाषा, १४२.७—बुद्धदेव कहते हैं—बाइस नाम [महाभूमिकादि] किन्तु केवल एक द्रव्यसत् मन—इन्द्रिय···संस्कृत धर्म दो स्वभाव के हैं—महाभूत और चित्त। महाभूत से अन्यत्र उपादायरूप नहीं है—चित्त से अन्यत्र चैत्त नहीं है। तुलना कीजिए—पृ०६४, टि०२; २, पृ० ११० ।

किओकुगा—"वसुबन्धु बुद्धदेव आदि के इस मत का उल्लेख करते हैं कि महाभूत और उपादायरूप भिन्न नहीं हैं, किन्तु क्योंकि सर्वास्तिवादियों का यह अविपरीत अर्थ नहीं है। उनका कहना है कि इसमें दोष है।"

१. यदि स्कन्धेषु पुद्‍गलोपचारः कस्माच्छरीरम् एव जीव इति नोक्तम्। वत्सगोत्र सूत्र, संयुक्त, ३४, ९६—भगवद् श्रमण वत्सगोत्र से कहते हैं—यदि किसी की यह दृष्टि हो कि —"लोक शाश्वत है, यह सत्य है; दूसरा वाद मिथ्या है" तो यह दृष्टि विपर्यास है (५·९ डी), यह (दृष्टि परामर्श, ५ पृ० १८) है। "लोक अशाश्वत है······तथागत का मरणान्तर न अस्तित्व है, न अस्तित्व नहीं है"—यह दृष्टि विपर्यास है।

२. स्थापनीय प्रश्नों पर कोश, ५.२२, निर्वाण, १९२५, पृ० १०८ देखिये। मैत्रांश की युक्ति वसुबन्धु की युक्ति से कुछ मिलती है।

३. दिव्य, ३५८ में है, बहुलोल्लक शाक्यपुत्रीय।

जो प्रश्न मैं आयुष्मान से पूछूंगा, उनका आप सीधा उत्तर देंगे।" नागसेन ने इस प्रार्थना को स्वीकार किया और राजा ने प्रश्न किया—"जीव शरीर से अनन्य है अथवा अन्य है?" "इस प्रश्न के उत्तर में नागसेन ने कहा कि उत्तर देने का कोई स्थान नहीं है।" "क्या हमारा यह संकेत नहीं है कि आप प्रश्न का सीधा उत्तर देंगे। आपका कथन अनुपपन्न है। आप उत्तर क्यों नहीं देते?" "मैं महाराज से एक संदेह के सम्बन्ध में प्रश्न करना चाहता हूँ। किन्तु राजा लोग वाचाल होते हैं। हमारा-आपका यह संकेत हो जाय कि जो प्रश्न मैं पूछूंगा, महाराज उसका सीधा उत्तर देंगे?" महाराज ने इसे स्वीकार किया और नागसेन ने पूछना आरम्भ किया—"राजप्रासाद के आम्र वृक्षों के फल मीठे होते हैं या खट्टे?" राजा ने उत्तर दिया—"मेरे प्रासाद में आम्रवृक्ष नहीं हैं।" नागसेन ने उसी प्रकार अपनी असम्मति प्रकट की जैसे महाराज ने किया था। नागसेन ने कहा—"क्या हमारा संकेत नहीं है? आपका कथन अप्रस्तुत क्यों है? आप मेरे प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं देते?" किन्तु महाराज ने कहा कि "मेरे प्रासाद में जब आम्र वृक्ष नहीं हैं तो उनका फल मीठा या खट्टा कैसे होगा?" "इसी प्रकार महाराज जीव का अस्तित्व नहीं है—इसलिए आपके प्रश्न का उत्तर नहीं दिया जा सकता कि यह शरीर से अनन्य है या शरीर से अन्य है।"[१]

[२६४] जीव और शरीर के तत्त्व अन्यत्व के प्रश्न का व्याकरण भगवत् ने क्यों नहीं किया, इसका कारण स्पष्ट है।

वात्सीपुत्रीय—किन्तु यदि अवक्तव्य पुद्गल नहीं है तो भगवत् क्यों नहीं कहते कि जीव सर्वशः नहीं है?

क्योंकि भगवत् चोदक के आशय को जानकर प्रश्न का उत्तर देते हैं। यह सत्त्व कदाचित् इस विचार से कि जीव स्कन्ध सन्तान है, जीव के सम्बन्ध में प्रश्न करता है; यदि भगवत् यह उत्तर देते हैं कि जीव सर्वशः नहीं है तो चोदक मिथ्यादृष्टि में (५.७) अनुपतित होता है। इसके अतिरिक्त चोदक प्रतीत्यसमुत्पाद (३.१८) के सिद्धान्त को समझने में

---

३. एस० लेवी, ए आई बी एल, १८९३, २३२ में कोश के इस परिच्छेद का उल्लेख है—

शवान्नेस मिलती-जुलती दृष्टियों से अनुवाद देते हैं (नन्जिओ, १३२९ के अनुसार रत्नकरण्ड सूत्र (?), टोकियो, १४.१०, आगे ३९)। तककुसु ने बहुत मिलती-जुलती आवृत्ति का अनुवाद दिया है। यही आवृत्ति मिलिन्दपञ्हो, जे आर ए एम, १८९६, पृ० १७ के चीनी अनुवादों में है। मिलिन्द, जे ए एस, १९१४, २.३८०-३८१ पिलिएट के लेख में देखिये। [ऐसा प्रतीत होता है कि अवदानकल्पलता के तिब्बती भाषान्तर का मिलिन्द सम्पादक का साहसिक शोध है।] अन्त में पाल डेमोविले का मिलिन्द के चीनी भाषान्तर पर एक अच्छा प्रबन्ध है, बी ई एफ ई ओ, १९२४, पृ० ६४—इससे हमारी सूचना पूरी होती है।

असमर्थ है, वह भगवद्देशना के अयोग्य है[1]—भगवत् इसलिए उसे नहीं कहते कि जीव प्रज्ञप्ति सत् है।

जो अर्थ हम यहाँ देते हैं, वह वही है जिसे भगवत् उपन्यस्त करते हैं—"आनन्द, अन्य तीर्थिक श्रमण वत्सगोत्र इस प्रश्न को मुझसे पूछने आये हैं कि क्या आत्मा नहीं है? मैंने उनको उत्तर नहीं दिया है। वास्तव में यदि मैं यह उत्तर देता कि आत्मा है तो यह धर्मता को बाधित करता, क्योंकि कोई धर्म न आत्मा है न आत्मीय, और यदि मैं यह उत्तर दिये होता कि आत्मा नहीं है तो मैं वत्सगोत्र के मोह को और बढ़ाता क्योंकि वह यह विचार करते कि मेरे आत्मार्थ और अब वह नहीं है।"[2]

[२६५] सत्कायदृष्टि सहगत मोह की अपेक्षा यह दूसरा सम्मोह अधिक गुरु है। जो आत्मा में प्रतिपन्न है, वह शाश्वतान्त में अनुपतित होता है; जो आत्मा के अस्तित्व को नहीं मानता, वह उच्छेदान्त में अनुपतित होता है। लघु विपर्यय, गुरु विपर्यय[3] और शेष।

---

१. भाष्य में है—स च तद्देशनाया अक्षमः=नैरात्म्यदेशनाया अयोग्यः।

२. पूर्वम् एव संमूढ इति सत्कायदृष्टिसहगतेन मोहेन भूयस्या मात्रया सम्मोहम् आपद्येतेति उच्छेददृष्टिसहगतं दृष्ट्यन्तरम् उत्पादयेद् इत्यभिप्रायः। अत एवाह। अभून मे आत्मा स मे एतर्हि नास्तीति।

तुलना कीजिए संयुत्त, ४.४००—संयुत्त, ३४·१५—वत्सगोत्र ने पूछा—"गौतम! क्या आत्मा है?" भगवत् ने उत्तर नहीं दिया। उन्होंने दूसरी बार, तीसरी बार पूछा, किन्तु भगवत् ने दूसरी बार भी, तीसरी बार भी उत्तर नहीं दिया···।

श्रमण वत्सगोत्र ने अपनी पापिका मिथ्यादृष्टि में कहा, "श्रमण मेरे प्रश्न का उत्तर देना नहीं जानते।" भगवत् आनन्द से कहते हैं कि—"यदि मैं यह उत्तर दिये होता कि आत्मा है तो मैं उनकी मिथ्यादृष्टि को और बढ़ाता; यदि मैं यह उत्तर दिये होता कि आत्मा नहीं है तो क्या उनके पूर्व के सम्मोह और विचिकित्सा और न बढ़ गये होते। विक्षिप्त होकर वह कहते—जो आत्मा पहले थी, वह अब व्युच्छिन्न हो गई है। आत्मवाद शाश्वतवाद है। यह सोचना कि यह आत्मा नष्ट हो गया है, उच्छेदवाद है। तथागत इन दो अन्तों का परिहार कर मध्यमा प्रतिपत्ति से धर्म की देशना करते हैं: इसके होने पर वह होता है···अविद्या के होने पर संस्कार होते हैं···"।

३. यह परमार्थ में नहीं है।

विभाषा, ८,८—ब्रह्मजालसूत्र में कहा है कि बासठ दृष्टिगतों का मूल सत्कायदृष्टि है। व्याघ्रो पोतगर्जन सूत्र में कहा है कि ब्राह्मण और श्रमणों के विविध दृष्टिगतों का मूल दो दृष्टियाँ हैं—भव दृष्टि और विभव दृष्टि। इन दो सूत्रों की प्रतिज्ञाओं में क्या भेद है? समुत्पाद के विचार से यह कहा जाता है कि सत्काय दृष्टिगतों का मूल है (अलेषण) के विचार से यह कहा जाता है कि विविध दृष्टियाँ भव दृष्टि और विभव दृष्टि पर आश्रित

इस पर नीचे (आचार्य) कहते हैं[1] -

१. दृष्टि से जो क्षत होता है, उसको विचार कर और दूसरी ओर कुशल कर्म का विप्रणाश देखकर बुद्ध धर्म की देशना उसी प्रकार करते हैं जैसे व्याघ्री अपने बच्चे को दाँत से पकड़ कर ले जाती है।[2]

[२६६] २. जो आत्मा के अस्तित्व में प्रतिपन्न है, वह दृष्टि दंष्ट्रा से विदीर्ण होता है—जो संवृतिसत् पुद्गल को नहीं मानता, वह क्षुद्र पुरुष कुशल कर्म का भ्रंश करता है।[3]

यह कहा जाता है—

१. क्योंकि कोई द्रव्यसत् जीव नहीं है, इसलिए बुद्ध नहीं कहते कि जीव अनन्य है या अन्य। वह यह भी नहीं कहते कि जीव का वास्तव में अस्तित्व नहीं है, इस भय से कि कहीं ऐसा कहने से लोग यह न समझने लगें कि प्राज्ञप्तिक जीव भी नहीं है।[4]

हैं। नीचे पृ० २७० देखिये। विभाषा, २००,१३—भव दृष्टि शाश्वत दृष्टि है, विभव दृष्टि उच्छेद दृष्टि है। यद्यपि कुदृष्टिगत अनेक प्रकार के हैं, तथापि ऐसा कोई कुदृष्टिगत नहीं है जो इन दो दृष्टियों में संगृहीत न हो।

१. आह चात्र।—व्याख्या—भदन्तकुमारलाभः। कुमारलाभ पर, पेरी, वसुबन्धु का समय, पृ० २२।

२. प्रथम श्लोक का रूप बिना कठिनाई के स्थिर किया जा सकता है—

दृष्टिदंष्ट्रावभेदं चापेक्ष्य भ्रंशं च कर्मणाम्।
देशयन्ति बुद्धा धर्मं व्याघ्रीपोतापहारवत्॥

व्याख्या—दष्टिर् एव दंष्ट्रा। तयावभेदम् अपेक्ष्य देशयन्ति बुद्धा धर्मं नैरात्म्यं तत्प्रतिपक्षेण। भ्रंशं च कर्मणाम् अपेक्ष्य कृतविप्रणाशम् अपेक्ष्य पुद्गलास्तित्वम् इव दर्शयन्तोऽन्यथा देशयन्ति। व्याघ्रीपोतापहारवत् इति। यथा व्याघ्री नातिनिष्ठुरेण दन्तग्रहणेन स्वपोतम् अपहरति। नयति। मास्य दंष्ट्रया शरीर [······] कृतं भूद् इति। नाप्य अतिशिथिलेन दन्तग्रहणेन तम् अपहरति। मास्य भ्रंशः पातोऽस्मिन् विषये भूद् इति युक्तेनैव ग्रहणेनापहरतीत्यर्थः।···तथार्थदर्शने कारणं दर्शयन्नाह। आत्मास्तित्वम् इति विस्तरः।

३. दूसरे श्लोक के बारे में व्याख्या इतनी स्पष्ट नहीं है—आत्मास्तित्वं प्रतिपन्नश्चेत् कश्चिद् दृष्टिदंष्ट्रया सत्कायदृष्टिलक्षणया भिन्नः स विनेयजनः स्याद् अप्राप्य संवृतीति (?) (संवृतिनीतिम् ?, धर्मसंकेतम् अजानानः कुशलपोतस्य कुशलकर्मणो व्याघ्रीपोतभूतस्य भ्रंशं कुर्यान् नास्ति कर्मणः फलम् इति।

४. इस पर व्याख्या में हैं—प्राज्ञप्तिक इति प्रज्ञप्तौ भवः प्राज्ञप्तिकः संवृतिसन्नपि पुद्गलो नास्तीति कश्चिद् गृह्णीयाद् इत्यतो नास्तीति नावोचत्।

इसलिए ऐसा पाठ हो सकता है—प्राज्ञप्तिकोऽपि नास्तीति [भयान्] नास्तीति नावोचत्।

२. स्कन्ध संतान कर्मफल को जीव कहते हैं। यदि बुद्ध जीव का प्रतिषेध करते तो लोग कर्म और फल का भी प्रतिषेध करते।

३. और यदि बुद्ध यह नहीं कहते कि स्कन्ध तथाकथित जीव है तो इसका कारण यह है कि वह जानते हैं कि चोदक नैरात्म्य देशना को धारण करने में असमर्थ है।

४. इसलिए वत्स की चित्त-अवस्था को देखकर बुद्ध ने यह पूछे जाने पर कि आत्मा है या नहीं, विधेयात्मक या निषेधात्मक कोई उत्तर नहीं दिया। किन्तु यदि आत्मा होता तो वह क्यों न कहते कि आत्मा का अस्तित्व है।[1]

[२६७] भगवान् लोक की शाश्वतता के सम्बन्ध में चार प्रश्नों का व्याकरण नहीं करते[2] : इसका भी यही कारण है कि वह प्रचोदक के आशय का विचार करते हैं। यदि प्रचोदक लोक से आत्मा का ग्रहण करता है तो प्रश्न की चतुष्कोटि अयथार्थ हो जाती है, क्योंकि आत्मा का अस्तित्व परमार्थतः नहीं है। यदि वह लोक से संसार का ग्रहण करता है, तो भी चतुष्कोटि अयथार्थ है : यदि संसार नित्य है तो मनुष्य उसकी प्राप्ति नहीं कर सकता; यदि वह नित्य नहीं है, तो सब आकस्मिक विरोध से, प्रयत्न से नहीं, निर्वाण का का लाभ करेंगे; यदि यह आकस्मिक नित्य-अनित्य दोनों है, तो कुछ निर्वाण प्राप्त नहीं करेंगे, और अन्य अकस्मात् निर्वाण प्राप्त करेंगे; यह कहना कि लोक, संसार के अर्थ में, न शाश्वत है, न अशाश्वत, इस कहने के बराबर है कि सत्त्व निर्वाण की प्राप्ति नहीं करते और करते हैं : यह विरोधोक्ति है। वास्तव में निर्वाण मार्ग द्वारा पाया जाता है; इसलिए कोई निश्चित उत्तर स्वीकार नहीं किया जा सकता।—इसी प्रकार जब निर्ग्रन्थश्रावक ने हाथ में जीवित पक्षी को लेकर भगवान् से पूछा कि यह पक्षी जीवित है या मृत, तो भगवान् ने उत्तर नहीं दिया।[3]

१. व्याख्या में अन्तिम पाद दिया है—सति त्वस्तीति नाह किम्; शुआन-चाङ् में नहीं है। परमार्थ—३. यह सत्त्व वस्तु शून्यता की यथार्थ देशना को धारण करने में असमर्थ नहीं है। इसलिए जब वह पूछता है कि आत्मा है या नहीं, तो बुद्ध यह उत्तर नहीं देते कि आत्मा नहीं है।—४. और क्योंकि वह चोदक के आशय का विचार करते हैं, इसलिए यदि आत्मा है तो वह यह क्यों नहीं कहते कि आत्मा है। निर्वाण में विषय के प्रश्न पर ऐसा ही है; कोई व्याकरण नहीं है क्योंकि उससे कठिनाई में पड़ेंगे।

२. संयुत्त, ३४, १८—वत्स पूछते हैं : "किस धर्म के ज्ञानवश आपका मत है कि संसार शाश्वत नहीं है···तथागत का अस्तित्व निर्वाण के पश्चात् न है, न नहीं है?"—"रूप वेदना आदि के ज्ञान से"।

३. व्याख्या : निर्ग्रन्थश्रावकचटकवद् इति। निर्ग्रन्थश्रावकेण चटकं जीवंतं गृहीत्वा भगवान् पृष्टः किम् अयं चटको जीवति न वेति, तस्यायम् अभिप्रायः। यदि श्रमणो गौतम आदिशेज्जीवतीति स तं निपीडनेन मारयित्वा दर्शयेत्। यदि पुनर्भगवान् एवम् आदिशेन् मृत इदि स तं जीवन्तम् एव दर्शयेत्। कथं नामायम् अज्ञ इति लोको जानीयाद् इति

लोक अनन्तवान् है, इत्यादि चार प्रश्नों का अर्थात् इसका उत्तर है या नहीं, वही अर्थ है जो शाश्वत लोक के सम्बन्ध में चार प्रश्नों का है,[1] और इसलिए इनमें भी वही दोष पाया जाता है।

[२६८] हम यह कैसे जानते हैं कि अनन्तवान् लोक का यही अर्थ होना चाहिए ? —तीर्थिक उक्तिक[2] ने भगवान् से अनन्तत्व पर प्रश्न पूछकर अपने प्रश्न को फिर से दुहराने के लिए एक युक्ति की और पूछा : "क्या सर्वलोक मार्ग से निर्वाण प्राप्त करता

तस्याभिनिवेशः। भगवता त्वस्याशयं ज्ञात्वा न व्याकृतम्। त्वच्चित्तप्रतिबद्धम् एवैतज्जीवति वा न वेति···नाभिहितम्। तद्वद् एतन्न व्याकृतम्। —कदाचित् टोकियो, २४.६, जे. ए. एस. १९२५, १.३८ के अनुसार है।

१. तुल्यार्थो ह्येष चतुष्क इति—"क्या लोक अनन्तवान् है ? इत्यादि", चतुष्क (चार प्रश्नों का समूह) का वही अर्थ है जो "क्या लोक शाश्वत है ?"······यह चतुष्क कोटि है। यदि ऐसा है तो १४ अव्याकृत वस्तु अर्थात् तीन चतुष्क और एक द्विक (जीव शरीर है···?) कैसे है ? इस प्रश्न के उत्तर में व्याख्या (७.४, ३१) कहती है : पर्यायरूपत्वव्यवस्थानेऽपि चतुर्दशत्वं भवतीत्यदोषः।

२. चीनी रूप U-ti-ka—श्चेरबात्स्की : वत्स।

तिब्बती भाषान्तर में उक्तिक है।

यह अंगुत्तर, ५.१९३-१९५ [कदाचित् संयुत्त ५.२२, १६६ के उत्तिय से यह भिन्न है] का परिव्राजक उत्तिय है जो भगवत् से चौदह वस्तु के विषय में (शाश्वत लोक से आरम्भ कर) प्रश्न पूछता; भगवत् कहते हैं कि "मैंने इसका व्याकरण नहीं किया है।" उत्तिय कहता है, "यह क्या है जिसका आप व्यारकण करते हैं।" भगवान् कहते हैं : "मैं धर्म का व्याकरण करता हूँ···निर्वाण के लिए ।"—इस पर उत्तिय पूछते हैं : "क्या सकल लोक, अर्धलोक, लोक का तृतीयांश इस धम्म से निर्वाण का अधिगम करेगा ?"—भगवत् चुप रहते हैं। तब आनन्द बीच में पड़ते हैं और उत्तिय को बताते हैं कि वह इस प्रश्न को पूछ चुका है [क्या सर्वलोक निर्वाण का अधिगम करेगा, इस प्रश्न से यह प्रश्न भी पूछ लिया गया कि क्या लोक शाश्वत है]। निर्वाण की प्राप्ति कैसे होती है : इसका उपदेश भगवत् देते हैं, वह सब जो निर्यात हुए, जो निर्यात हो रहे हैं, जो निर्यात होंगे, वह मार्ग से ही है।

संयुत्त, ३४, २३ में उक्तिक का पहला प्रश्न अनन्त लोक पर है—क्या सब सत्त्व निर्वाण प्राप्त करेंगे, दीघ, २.१४७ (हाँ), महावस्तु, १.१२६ (हाँ), मिलिन्द, ६९ (नहीं)। —यह यथार्थ उत्तर है।

ब्रह्मजाल के संस्कर्ता के अनुसार अनन्त लोक का अर्थ "अनन्त आकाश" (दीघ, १.२३ : तिर्यक् अनन्त, पराकाष्ठा या निम्नकाष्ठा की ओर नहीं; इस पर कोश, ३.३ डी के अन्त में देखिये); वह अपने वाक्यों को पर्याय रूप देते हैं : वह परीक्षा करते हैं कि क्या आत्मा और लोक शाश्वत है, क्या लोक अनन्त है।

है या केवल लोक का एक देश ?"[1] आनन्द ने उससे कहा "तुम इस प्रश्न को पूछ चुके हो। शब्द बदलकर तुम उसे फिर क्यों पूछते हो ?"

निर्वाण के अनन्तर तथागत होते हैं या नहीं—इस सम्बन्ध के चार प्रश्नों का व्याकरण यदि भगवान् नहीं करते तो इसका भी यही कारण है कि वह प्रचोदक के आशय को जानकर ऐसा करते हैं। प्रचोदक तथागत से क्लेश-विमुक्त आत्मा समझता है।

[२६६] अब हम पुद्गलवादी से पूछते हैं—आपके अनुसार भगवत् जीवित पुद्गल का व्याकरण करते हैं और कहते हैं कि पुद्गल है, पुद्गल अव्यक्त है[2] : वह क्यों नहीं व्याकरण करते कि मरणान्तर तथागत का अस्तित्व होता है ?

यदि वात्सीपुत्रीय का यह उत्तर है कि भगवत् इस विषय में चुप हैं क्योंकि उनको भय है कि तथागत नाम के पुद्गल के मरणोत्तर अवस्थान को स्वीकार कर कहीं श्रावक शाश्वत अथवा नित्यता दृष्टि में न अनुपतित हो तो, हम पूछेंगे कि भगवत् अन्य व्याकरण क्यों करते हैं। वह मैत्रेय से यह व्याकरण करते हैं : "अनागत काल में तुम तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध होगे"[3] और अपने एक मृत श्रावक के नियम में कहते हैं : "अमुक इस समय अमुक स्थान में निगृहीत है"[4]। क्या यह सूत्रान्त शाश्वत दृष्टि से दूषित नहीं है ?

---

१. उक्तिक पूछता है : किं तु सर्वो लोकोऽनेन मार्गेण निर्यास्यति। अहोस्विद् एकदेशो लोकस्य।

पालि पाठ—सब्बो च तेन [धम्मेन] लोको निय्यिस्सति उपड्ढो वा तिभागो वा।

२. जीवन्तं पुद्गलम् अस्तीति व्याकरोतीति तत्त्वान्यत्वेनावक्तव्यम्। सन्तम् एव पुद्गलं व्याकरोतीत्यभिप्रायः।

३. मैत्रेय पर, पेरी, बी ई एफ ई ओ. ६.४५५, प्रिशिलुस्की, अशोक, १६६, १७१, ३३२—मध्यम, १३, १५ (६६वां सूत्र : जब आयु ८०००० वर्ष की होगी, उस काल में आविर्भाव होगा), दीघ, छठा सूत्र, और दीघ, ३.७६, शालिस्तम्बसूत्र (कोश, ३.२८ ए-बी) —सुत्तनिपात, १०३२, १०४० के अजित और तिस्समेत्तेय का स्मरण होता है।—मिलिन्द १५६; वारेन, ४८२ में अनागतवंश; श्रीमती रीज़ डेविड्स, हेस्टिंग्स, १.४१४—अजित मैत्रेय और मित्रा इन्विक्टू।

४. किओकुगा संयुत्त, ३४, १० उद्धृत करते हैं : "गौतम, क्या जीव शरीर है ?—यह अव्याकृत है।—आश्चर्य है कि श्रमण गौतम मृत श्रावक के सम्बन्ध में यह व्याकरण करते हैं कि : "अमुक अमुक स्थान में निगृहीत है" ····किन्तु श्रमण गौतम यह व्याकरण नहीं करते कि जीव अन्य है, शरीर अन्य है।"

संयुत्त, ३०, ४, नन्द को उपदेश : निश्चल श्रद्धा से समन्वागत श्रावक यदि दीर्घायु और मनोज्ञ रूप की कामना करता है तो वह उनका प्रतिलाभ करता है। अवेत्यप्रसाद से समन्वागत श्रावक यदि दीर्घायु और मनोज्ञ रूप की कामना करता है तो वह प्रतिलाभ करता है। अवेत्यप्रसाद से समन्वागत श्रावक अपने जीवन के अन्त में देवों में उत्पन्न होता है और दस गुणों का लाभ करता है (संयुत्त ३०,१०, १६, मध्यम, १८, २१)।

यदि वात्सीपुत्रीय का यह उत्तर है कि भगवत् परिनिर्वृत्त तथागत के सम्बन्ध में व्याकरण नहीं करते, क्योंकि पहले पुद्गल को देखकर, वह अन्य पुद्गल को नहीं देखते; क्योंकि तथागत का परिनिर्वाण हो गया है, इसलिए अज्ञानवश तथागत परिनिर्वृत्त तथागत के सम्बन्ध में कोई व्याकरण नहीं करते तो हम कहेंगे कि ऐसा कहना शास्ता की सर्वज्ञता[1] में अप्रतिपन्न होना है। इसके स्थान में हमको यह मानना चाहिए कि यदि भगवत् कोई व्याकरण नहीं करते तो इसका कारण यह है कि चोदक को तथागत शब्द से जो आत्मा अभिप्रेत है, उसका अस्तित्व परमार्थतः नहीं है।

[२७०] यदि वात्सीपुत्रीय का यह कथन है कि यद्यपि भगवत् परिनिर्वृत्त पुद्गल को देखते हैं, तथापि वह इस वस्तु का व्याकरण नहीं करते; यह कि पुद्गल का अस्तित्व है यद्यपि भगवान् की यह व्याकृत वस्तु नहीं है—तो हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि वात्सीपुत्रीय यह स्वीकार करते हैं कि पुद्गल शाश्वत है।

यदि वात्सीपुत्रीय का यह कथन है कि "भगवान् पुद्गल को देखते हैं या नहीं देखते हैं", अव्यक्त है तो वह शनैः-शनैः सबको अव्यक्त कर देंगे, यहाँ तक कि यह भी अव्यक्त हो जायेगा कि भगवान् सर्वज्ञ हैं या नहीं।[2]

वात्सीपुत्रीय—पुद्गल वस्तु सत् है क्योंकि यह वचन है कि: "यह कहना कि आत्मा सप्ततः, स्थितितः[3] नहीं है, दृष्टिस्थान है।"

यह इसका प्रमाण नहीं है क्योंकि आत्मा है—यह कहना भी दृष्टिस्थान कहा गया है।[4] अभिधार्मिकों का मत है—आत्मवाद और अनात्मवाद दोनों अन्त दृष्टि हैं क्योंकि वे अन्तग्राह दृष्टि (६.६) के दो भागों से सम्मिश्रित हैं। यह सिद्धान्त निश्चित है क्योंकि यह वत्सगोत्र सूत्र में उपन्यस्त है: "हे आनन्द ! जो कहता है कि आत्मा है, वह शाश्वत दृष्टि के दूसरे अन्त में अनुपतित होता है; जो कहता है कि आत्मा नहीं है, वह उच्छेद दृष्टि के दूसरे अन्त में अनुपतित होता है।"[5]

---

१. सर्वज्ञम् इति भावप्रत्ययो यौवनम् इति यथा।

२. वक्तव्यं पश्यति वा न वेति पश्यति न पश्यतीति न वक्तव्यम् इत्यर्थः। शनैः शनैरवक्तव्यं क्रियताम् इति। स सर्वज्ञो वा भगवान् न वेति न वक्तव्यम् इति शनैः शनैर्ग्रहणम्……शाक्यपुत्रीयप्रकोपपरिहारार्थम्।

३. सत्यतः स्थिततः—शुआन-चाङ्: ति काव तेहाव काव (ti kou tehou kou)—जापानी सम्पादक की टीका = "स्थिति के योग्य"।—परमार्थः

४. अस्तीत्यपि दृष्टिस्थानम् उक्तम्—शुआन-चाङ्=कुदृष्टिस्थान
यह विवाद साम्मितीय निकायशास्त्र के अनुसार है।

५. विभाषा, ४६, १३—भगवान् कहते हैं: "आप कहते हैं कि हेतु है, मैं भी यही कहता हूं; आप कहते हैं कि फल नहीं है, यह मूढ़ वाद है।" दो वाद हैं, दो अन्त हैं:

[२७१] वात्सीपुत्रीय—यदि पुद्गल का अस्तित्व नहीं है, तो संसार में संसरण कौन करता है ? वास्तव में, यह नहीं माना जा सकता कि संसार स्वयं संसरण करता है। इसके अतिरिक्त भगवद्वचन है कि : "अविद्या से उन्मार्ग में प्रवृत्त, तृष्णा से प्रतिसंयुक्त सत्त्व निरय, तिर्यक् प्रेत विषय देव मनुष्य गतियोग में संसरण करते हैं, इस प्रकार वह दीर्घ काल तक दुःखराशि का अनुभव करते हैं।"[1]

हम पूछते हैं कि पुद्गल संसार में कैसे संसरण करता है। आप कहेंगे कि यह संसरण पूर्व स्कन्धों के प्रहाण और नवीन स्कन्धों के उपादान के रूप में होता है : किन्तु हम दिखा चुके हैं कि यह पक्ष अग्राह्य है (ऊपर पृ० २५६ देखिये)। यथार्थ पक्ष बहुत सीधा है : यथा जो अग्नि वन का दाह करता है, उसके विषय में लोक में कहते हैं, यह संसरण करता है, यद्यपि वह अग्नि के क्षण हैं, क्योंकि इनका एक सन्तान होता है; इसी प्रकार स्कन्ध-समुदाय निरन्तर नवीन होकर उपचार से सत्त्व की आख्या प्राप्त करता है; तृष्णा का उपादान लेकर स्कन्ध-सन्तति संसार में संसरण करती है (३.१८ से तुलना कीजिए, ऊपर पृ० २६०, टि० ३)।

वात्सीपुत्रीय—यदि केवल स्कन्धों का अस्तित्व है तो हम नहीं समझते कि भगवान् के इस वचन का कैसे प्रतिपादन हो सकता है : "अतीत काल में सुनेत्र नाम का शास्ता मैं ही था।"[2]

भगवान् उच्छेदान्त और शाश्वतान्त का परिहार करते हैं और मध्यम प्रतिपत्ति की देशना करते हैं। वह यह भी कहते हैं : "मैं लोक से विरुद्ध नहीं हूँ, किन्तु लोक मुझसे विरुद्ध है"।

विभाषा, ७७, १७ : "......जो कहता है कि (जीव) शरीर से अन्य है, शरीर नहीं है, वह शाश्वत दृष्टि में अनुपतित होता है। जो उच्छेद दृष्टि या शाश्वत दृष्टि में अनुपतित नहीं होता, वह बाह्य मार्ग का नहीं है, वह कुदृष्टिगत नहीं है। सब तथागत इनको प्रतिपक्ष-स्वरूप मध्यमा प्रतिपत्ति की देशना करते हैं, अर्थात् रूप और चित्त का उच्छेद नहीं होता, यह शाश्वत नहीं है।" ऊपर पृ० २६५, टि० १ देखिये।

१. संयुत्त, ६, १५—केवल परमार्थ सूत्र को विस्तृत रूप से उद्धृत करते हैं; शुआन-चाङ् और तिब्बती भाषान्तर में केवल प्रथम वाक्य है।—संयुत्त, २.७८, ३.१४६ से तुलना कीजिए : अनमतग्गायं संसारो पुब्बकोटि न पञ्ञायति अविज्जानीवरणानं सत्तानं तण्हा-संयोजनानं सन्धावतं संसरतम्।

साम्मितीय निकायशास्त्र की यही उक्ति है।

माध्यमिकों की दृष्टि से न नित्य, न अनित्य संसरण कर सकता है : नित्यस्य संसृतिर्नास्ति नैवानित्यस्य संसृतिः। स्वप्नवत् संसृतिर्प्रोक्ता त्वया तत्त्वविदां वर (चतुस्तव, बोधिचर्यावतारपञ्जिका, ९.१०८ में उद्धृत)।

२. विभाषा, ८२, ११-सुनेत्रो नाम शास्तेति सप्तसूर्योदयसूत्रेऽयम् एव भगवान् ऋषिः सुनेत्रो नाम बभूवेति।

[२७२] वास्तव में यदि यह पक्ष ठीक है कि केवल स्कन्धों का अस्तित्व है, उपचार से उसकी पुद्गल संज्ञा है तथा अतीत स्कन्ध प्रत्युत्पन्न स्कन्ध से अन्य है, तो भगवत् की युक्ति इस प्रकार की नहीं हो सकती।

किन्तु यह वस्तु क्या है जिसे भगवत् "आत्मा" कहते हैं? आप कहेंगे—वह पुद्गल है : उस अवस्था में अतीत की आत्मा प्रत्युत्पन्न की आत्मा से अनन्य होने के कारण "आत्मा" शाश्वत है। हमारे मत में जब भगवत् कहते हैं कि "शास्ता सुनेत्र मैं ही था" तो यह सूचित करते हैं कि उनकी प्रत्युत्पन्न आत्मा के स्कन्ध उसी सन्तान के हैं जिस सन्तान के सुनेत्र थे। यथा लोक में कहते हैं कि "यह वही अग्नि है जिसे पहले देखा था, वह जलाती हुई यहाँ आ गई है।"[1]

आपकी प्रतिज्ञा है कि आत्मा एक वस्तु सत् है। मान लीजिए कि केवल बुद्ध तथागत इस आत्मा को देखते हैं, [क्योंकि यह संज्ञा है]। किन्तु यदि बुद्ध आत्मा को देखते हैं तो उनमें दृढ़ आत्मग्राह का उत्पाद होगा, इस आत्मदृष्टि से उनमें आत्मीय दृष्टि उत्पन्न होगी, इन दो दृष्टियों के होने से उनमें आत्मस्नेह और आत्मीय स्नेह होगा।—भगवत् ने यथार्थ कहा है कि "जो आत्मदृष्टि रखता है, वह आत्मीय दृष्टि रखता है; आत्मीय दृष्टि होने से वह स्कन्धों में अनुरक्त होता है, मानो यह स्कन्ध आत्मा और आत्मीय है।—इसलिए बुद्धों में सत्कायदृष्टि होगी (५.७); वह आत्म-स्नेह और आत्मीय स्नेह के बन्धन से आबद्ध होंगे; वह मोक्ष से अति दूर होंगे।[2]

वासीपुत्रीय—आत्मस्नेह आत्मा के लिए नहीं उत्पन्न होता।

अंगुत्तर, ४.१०३ का सप्तसूर्यसूत्र, इस सूत्र में यह नहीं कहा है कि सुनेत्र और भगवान् एक हैं: भूतपुब्बं भिक्खवे सुनेत्तो नाम सत्था अहोसि तित्थकरो कामेसु वीतरागो ......(अंगुत्तर ३.३७१, ३७३ से तुलना कीजिए)। आगे सुनेत्र के शिष्यों की गति तथा सुनेत्र की प्रतिसन्धियों का विवरण है। यह विवरण विभाषा, ८२, ११, में भी पाया जाता है।—शिक्षासमुच्चय, पृ० २४७ और कर्मप्रज्ञप्ति, मदो, ६२, आगे ६६ ए में सत्यसूर्य के जो अंश मिलते हैं, उनमें सुनेत्र का उल्लेख नहीं है।—सौन्दरनन्द, ११.५७ में भी नहीं है कि सुनेत्र भगवत् हैं।

१. (व्या० ७१०, २२) एकसन्तानतां दर्शयतीति यस्मात् सुनेत्रो बुद्धसन्तान एवासिद् अतः स एवाहम् इत्यभेदोपचारः। यदा स एवाग्निर्यः पूर्वं दृष्टो दहन्नागत इति सन्तानवृत्त्या स एवेत्युच्यते।

२. तेषां स्यात् सत्कायदृष्टिरिति। तेषां तथागतानाम् आत्मात्मीयाकारा सत्कायदृष्टिः स्यात्। दृढतरात्मात्मीयस्नेहपरिग्राहितबन्धनानाम् इति। आत्मदृष्टाव् आत्मीयदृष्टौ च सत्याम् आत्मस्नेह आत्मीयस्नेहश्च भवतीत्यतो रागो बन्धनम् (५.४५ डी) इति कृत्वा दृढीकृतबन्धनानाम्।

[२७३] हम विवेचन करते हैं कि : जब कोई अनात्म में आत्मा को देखता है, जैसा तीर्थिक करते हैं, तो वह उस परिकल्पित आत्मा के लिए स्नेह का अनुभव करता है; किंतु, जब वह यथार्थ आत्मा में अर्थात् अव्यक्त पुद्गल में आत्मा को देखता है, जैसा बुद्ध करते हैं, तो आत्मा के लिए स्नेह नहीं होता।

इस व्याख्यान का कोई आधार नहीं है। वात्सीपुत्रीय किंचिन्मात्र युक्ति के बिना शास्ता की देशना में तीर्थिक दृष्टिव्याधि का सन्निवेश करते हैं।—इस प्रकार, एक पुद्गल को अव्यक्त मानते हैं, तो दूसरे सर्व धर्म के अस्तित्व में अप्रतिपन्न हैं;[1] तीर्थिक स्कन्धों से अन्य एक आत्मा को मानते हैं। यह सब वाद दृष्टिस्थान है और सब समान रूप से मोक्षप्रवण न होने के दोषी हैं। यदि आत्मा का परमार्थतः अस्तित्व नहीं है,[2] तो चित्त—जो उत्पन्न होते ही निरुद्ध हो जाता है—बहुत पहले अनुभूत विषय का स्मरण कैसे कर सकता है?

---

१. व्याख्या (७१०, ३१) : य एकेषां पुद्गलग्राह इति वात्सीपुत्रीयाणाम्। एकेषां सर्वनास्तिग्राह इति मध्यमकचित्तानाम्।—वसुबन्धु के ग्रन्थ में मध्यमक सिद्धान्त का यही एक उल्लेख है।

हमारा अनुवाद शुआन-चाङ् के अनुसार है।—परमार्थ : 'इसलिए, बिना हेतु या युक्ति के तथागत के सद्धर्म में दृष्टिदोष का सन्निवेश होता है : कुछ आचार्य ऐसे हैं जो नैरात्म्य में अप्रतिपन्न हैं और आत्मदृष्टि रखते हैं। इनके अतिरिक्त ऐसे भी आचार्य हैं जो सबके अस्तित्व में अप्रतिपन्न हैं और जो सर्वनास्तिता का प्रतिपादन करते हैं। तीर्थिक आत्मा को एक पृथक् वस्तु सत् मानते हैं। सद्धर्म में कुछ आचार्य आत्मदृष्टि रखते हैं और कुछ का सर्वनास्तिग्राह है। इन सब आचार्यों का समान रूप से मोक्ष नहीं है क्योंकि इनमें भेद नहीं है।"

२. किओकुगा विज्ञप्तिमात्र की एक टीका से उद्धृत करते हैं : 'यदि आत्मा द्रव्य सत् नहीं है तो कौन स्मरण करता है, कौन वस्तुओं का प्रत्यभिज्ञान करता है, कौन ग्रन्थों का पाठ और धारण करता है, कौन सूत्रों को आवृत्ति करता है, कौन किसी से राग और किसी से द्वेष करता है, कौन कुछ से राग और अन्य से विद्वेष करता है?······वात्सीपुत्रीय की यह युक्ति है : "(हमारे विपक्षियों के सिद्धान्त में) सत्त्वों का स्मरण नहीं होता, क्योंकि वह आकाश के तुल्य आत्मा नहीं है।"

स्मरण हेतु के विवेचन, विभाषा, ११, १५ में आठ भिन्न विवेचन : ऐसे आचार्य हैं जो इस मत का प्रतिपादन करते हैं कि आत्मा अपने स्वभाव में वस्तु सत् है। यह वात्सीपुत्रीय हैं जो कहते हैं कि हमारा कथन है कि एक आत्मा है जो पूर्वकृत को स्मरण करता है। यदि कोई आत्मा नहीं है तो पूर्वकृत का स्मरण कैसे हो? ऐसे भी आचार्य हैं जो कहते हैं कि पूर्व-चित्त निरुद्ध होता है···और परचित्त से कहता है कि मैंने यह किया है, तुम इसको धारण और स्मरण करो···इस प्रकार किये हुए की स्मृति होती है।

[२७४] पूर्वानुभूत विषय के सदृश विषय का यह प्रत्यभिज्ञान कैसे कर सकता है ?

जब चित्तविशेष उस पूर्वानुभूत अर्थ की संज्ञा से प्रवृत्त होता है जिसे स्मृति विषय कहते हैं (स्मृतिविषयसंज्ञान्वयचित्तविशेषात्), तो उस चित्तविशेष की सन्तति में स्मृति (या स्मरण) और प्रत्यभिज्ञान तत्काल उत्पन्न होते हैं।

यह पहले स्मृति की परीक्षा करते हैं।

वह कैसा चित्तविशेष है जिससे स्मृति तत्काल निःसृत होती है ?

हम उत्तर देते हैं : तदाभोगसदृशसंबन्धिसंज्ञादिमांश्चित्तविशेषः आश्रयविशेषशोक व्याक्षेपाद्यनुपहतप्रभावः ।[1]

विभाषा, १२, १, सर्वास्तिवादियों के यथार्थ सिद्धान्त का निरूपण करती है। मध्यमक निकाय में स्मृति का विवेचन विशेषकर बोधिचर्यावतार, ९.२४ (विज्ञानवाद के विपक्ष में), ९.७३ (पुद्गलवाद के विपक्ष में), ९.१०१।

मिलिन्द, ७८-८०; दमियेविल (Demieville), १६१; कम्पेंडियम, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ४२ (पद्वान के अनुसार)। स्मृति पर, कोश, १.३३, पृ० ६०-६१, २.२४, पृ० १५४, २६ ए, पृ० १६२, ६.१५, पृ० १६०।

१. व्याख्या के अनुसार हम भाष्य के पाठ को स्थिर कर सकते हैं : स्मृतिविषयसंज्ञान्वयाच् चित्तविशेषात् स्मरणं भवति प्रत्यभिज्ञानं वा। कीदृशाच् चित्तविशेषात्। तदाभोगसदृशसंबन्धिसंज्ञादिमतस् चित्तविशेषाद् आश्रयविशेषशोकव्याक्षेपाद्यनुपहतप्रभावात्। तादृशोप्य अतदन्वयः [स्मरणं] भावयितुम् [असमर्थः]। [नाप्य] अन्यादृशोऽपि [तदन्वयः]।

व्याख्या : स्मृतिविषयसंज्ञान्वयाच्चित्तविशेषाद् इति। स्मृतिविषयोऽनुभूतोऽर्थः। तत्र संज्ञा सान्वयो हेतुरस्येति स्मृतिविषयसंज्ञान्वयः। चित्तविशेषः किंचिद् एव चित्तं न सर्वम् इति अर्थः। तस्मात् स्मरणं भवति प्रत्यभिज्ञानं वा॥ एवम् उभयविशेषणे कृते पृच्छति कीदृशाच्चित्तविशेषाद् इति। आह। तदाभोग इति विस्तरः। यस्मिन् स्मर्तव्य आभोगस् तदाभोगः। स च तेन सदृशः संबन्धिनश्च संज्ञादयो ये ते विद्यन्तेऽस्येति तदाभोगसदृशसंबन्धिसंज्ञादिमांश्चित्तविशेषः। आदिग्रहणेन प्रणिधाननिबन्धाभ्यासादिग्रहणम्। आश्रयविशेषश्च शोकश्च व्याक्षेपश्चादिरेषाम् इति आश्रयविशेषशोकव्याक्षेपादीनि। तैरनुपहतप्रभावश्चित्तविशेषात् स्मृतिर्भवति।

तद् इदम् उक्तं भवति। तदाभोगवतः : यदि तत्राभोगः क्रियते। सदृशसंज्ञादिमतः : यत्र सादृश्यात् स्मृतिर्भवति। सम्बन्धिसंज्ञादिमतः : यत्रान्तरेणापि सादृश्यं धूमादिदर्शनात् स्मृतिर्भवति। प्रणिधाननिबन्धाभ्यासादिमतश्च : यत्र प्रणिधानम् अत्र काले स्मर्तव्यम् अभ्यासोऽवास्य स्मरणे॥ आश्रयविशेषादिभिरनुपहतप्रभावाद् इति। व्याधिलक्षणेन आश्रयविशेषेण शोकेन व्याक्षेपेण अन्यत्र कार्ये। आदिशब्दगृहीतैश्च कर्मविद्यादिभिः।

तादृशोऽपीति विस्तरः। तदाभोगवाद् [सत्सदृश] संज्ञादिमान् अनुपहतप्रभावोऽपीत्यर्थः।

[२७५] एक चित्तविशेष स्मृति होती है जो स्मृति विषय (तद्-) में आभोग करती है जिसमें उस विषय के सम्बन्ध में (सम्बन्धिन्) या तत्सदृश संज्ञा होती है (–मान) या प्रणिधानविशेष आदि होते हैं। इस चित्तविशेष से स्मृति होती है। यदि इस चित्त का स्मृति-उत्पादन का प्रभाव व्याधिलक्षित आश्रयविशेष से, शोक से, चित्तव्याक्षेप से, कर्म विद्यादि के क्षुब्ध करने वाले प्रभाव से उपहृत न हो।

१. विषय में आभोग करना, मनस्कार करना आवश्यक है (यदि तत्राभोग क्रियते); २. यह आवश्यक है कि चित्त में विषय-सदृश संज्ञा हो, यदि सादृश्य से स्मृति होती है [उदाहरणार्थ, पूर्वानुभूत अग्नि की मुझे स्मृति होती है क्योंकि इस अग्नि के दर्शन से अग्नि संज्ञा मेरे चित्त में आहित होती है]; ३. अथवा यह आवश्यक है कि चित्त में विषय-सम्बन्धी संज्ञा हो यदि सदृश के बिना स्मृति होती है क्योंकि धूम-दर्शन से धूम की संज्ञा मेरे चित्त में आहित होती है; ४. अथवा चित्त में प्रणिधान अभ्यास का होना आवश्यक है [उदाहरणार्थ, इस प्रणिधान का चित्त-सन्तति में आधान हुआ है कि मैं अमुक क्षण में इसका स्मरण करूँगा]; ५. यद्यपि चित्तविशेष इस स्वभाव का भी हो—अर्थात् अभोगवान हो तथा सादृश संज्ञा या सम्बन्धि संज्ञा या प्रणिधान अभ्यास, इनमें से किसी एक तथापि से युक्त हो;

[२७६] यदि चित्त स्मृति विषय की संज्ञा से प्रवृत्त नहीं होता (अतदन्वय=अ-स्मृतिविषयसंज्ञान्वय)—अर्थात् यदि वह चित्तविशेष सन्तान में उत्पन्न नहीं होता जहाँ विषयविशेष की संज्ञा का आधान हुआ है; यदि यह चित्त इस संज्ञा से प्रवृत्त नहीं होता तो—चित्तस्मृति का उत्पाद नहीं कर सकता (भावयितुम्=उत्पादयितुम्); ६. जब चित्त इस स्वभाव का नहीं होता, तब चाहे यह स्मृति विषय की संज्ञा से प्रवृत्त हो, यह स्मृति का उत्पाद नहीं कर सकता।

वात्सीपुत्रीय—यह कैसे सम्भव है कि एक चित्त देखता है और दूसरा स्मरण करता है? यह असम्बद्ध है कि यज्ञदत्त देवदत्त के देखे हुए विषय का स्मरण करे।

वास्तव में, देवदत्त और यज्ञदत्त में कोई सम्बन्ध नहीं है। उनके चित्तों में कार्य-कारण भाव नहीं है, जैसा कि एक सन्तान के चित्तों में होता है। निश्चित ही हम यह नहीं कहते कि एक चित्त एक विषय को देखता है और दूसरा चित्त उस विषय का स्मरण करता है, इसलिए कि यह दो चित्त एक ही सन्तान के हैं। हमारा कथन है कि एक अतीत

अतदन्वय इति अस्मृतिविषयसंज्ञान्वय इत्यर्थः। भावयितुम् उत्पादयितुम्॥ अन्यादृश इति अतदाभोगयावत्संज्ञादिमान् उपहतप्रभावो वा।

शुआन-चाङ् के टीकाकार इस पर विचार-विमर्श करते हैं। फुकुआङ् में स्मृति विषय संज्ञान्वय के तीन अर्थ हैं; सदृश के तीन अर्थ हैं जिनका फा-पावो (Fo-Pao) प्रतिषेध करते हैं; संबन्धिन् के दो अर्थ हैं, इत्यादि (किओकुगा, ३० आगे ७ बी)।

चित्त विषयविशेष को ग्रहण कर एक दूसरे चित्त, अर्थात् प्रत्युत्पन्न चित्त का उत्पाद करता है जो इस विषय का स्मरण कर सकता है। दूसरे शब्दों में स्मरणचित्त दर्शनचित्त (अनुभव-चित्त) से उत्पन्न होता है, जैसे फल बीज से सन्तति-विपरिणाम की अन्तिम अवस्था के बल से उत्पन्न होता है। इसका विवेचन (२.३६ सी, अनुवाद, पृ० १८५) में हो चुका है। अन्त में स्मरण से ही प्रत्यभिज्ञान होता है।

वात्सीपुत्रीय—आत्मा के अभाव में कौन स्मरण करता है?[1]

[२७७] वसुबन्धु—स्मरण से आपका क्या अर्थ है?

वात्सीपुत्रीय—स्मृति से विषय का ग्रहण।

वसुबन्धु—क्या ग्रहण स्मृति से भिन्न है?

वात्सीपुत्रीय—स्मृति ग्रहण कर्म का कर्ता है।[2]

वसुबन्धु—हम बता चुके हैं कि इस कर्म का कर्ता कौन है, कौन ग्रहण करता है, वह स्मृति का हेतु है, अर्थात् एक चित्तविशेष (देखिये पृ० २७४-७५)।

वात्सीपुत्रीय—किन्तु यदि केवल एक चित्तविशेष स्मृति में हेतु है, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि चैत्र स्मरण करता है?

वसुबन्धु—चैत्र सन्तान की आख्या है। इस सन्तान में दर्शनचित्त से स्मृतिचित्त उत्पन्न होता है, इसलिए कहा जाता जाता है कि चैत्र स्मरण करता है।

---

१. व्याख्या से भाष्य का पाठ मिल जाता है (नीचे पृ० २७८-८६)—आत्मा के अभाव में कौन जानता है? इस प्रश्न से सम्बन्ध रखने वाले विवाद का विवेचन देती है—एवं को विजानातीति विस्तरः। विजानाति के स्थान में 'स्मरति' और विज्ञान के स्थान में 'स्मरण' रखना पर्याप्त होगा।

भाष्य : असत्यात्मनि क एष विजानाति। विजानातीति कोऽर्थः। विज्ञानेन विषयं गृह्णाति। किं तद् ग्रहणम् अन्यद् विज्ञानात्। विज्ञानं तर्हि करोति। उक्तः स यस्तत् करोति विज्ञानहेतुरिन्द्रियार्थमनस्काराः ए।

ए. स्मृति के विचार में यह पाठ होगा : स्मरणहेतुः स्मृतिविषयसंज्ञान्वयः ········ (जैसा पृ० २७४, टि० १ में)।

यद् तर्हि चैत्रो विजानातीत्युच्यते। ततो हि चैत्राख्यात् सन्तानाद् विज्ञानोद्भवं दृष्ट्वोच्यते (?) सी।

सी. पोथी में सन्तानाद् भवदृष्ट्योच्यते—परमार्थ के अनुसार अर्थ स्पष्ट है : "चैत्राख्य सन्तान से उत्पन्न विज्ञान को देखकर कहा जाता है कि चैत्र जानता है।"

२. (व्या० ७१२, १५) परमार्थ : "यह स्मृति से भिन्न नहीं है क्योंकि स्मृति ग्रहण करती है"; शुआन-चाङ् : "यह स्मृति से भिन्न नहीं है, केवल (ग्रहण) कारक से प्रवृत्त होता है।"

वात्सीपुत्रीय—आत्मा के अभाव में यह किसका (कस्य) स्मरण है ?[1]

वसुबन्धु—कस्य का इस षष्ठी का क्या अर्थ है ?

वात्सीपुत्रीय—इस षष्ठी का अर्थ स्वामी है ।

वसुबन्धु—आप एक उदाहरण देकर समझाइये कि आपके इस कहने का क्या अर्थ है कि अमुख स्मृति का स्वामी है ।

[२७८] वात्सीपुत्रीय—यथा चैत्र गऊ का स्वामी है ।

वसुबन्धु—चैत्र गऊ का स्वामी कैसे है ?

वात्सीपुत्रीय—क्योंकि वह उसके अधीन है और वह अपनी इच्छानुसार वहादि के लिए उनका विनियोग करता है ।

वसुबन्धु—स्मृति का पुनः विनियोग कहाँ करना है जो आप उसके लिए स्वामी का कष्ट उठाते हैं ?

वात्सीपुत्रीय—स्मर्तव्य विषय में इसका विनियोग होता है, [अर्थात् इसका उपभोग स्मरण में होता है ।]

वसुबन्धु —किस प्रयोजन से ?

वात्सीपुत्रीय—जिससे स्मृति की उत्पत्ति हो ।

वसुबन्धु—वाह रे ! आलसी की सूक्ष-सूक्ति ! यह भी विचित्र है कि मैं किसी वस्तु का विनियोग उसी के लिए करता हूँ, किन्तु आप बतलायें कि स्मृति का विनियोग कैसे होता है ? क्या आप यह कहना चाहते हैं कि उसका किसी स्थान में संप्रेक्षण होता है ? या यह कि उसका उत्पादन करते हैं ?

---

१. (व्या० ७१२, १६) असत्यात्मनि कस्येदं विज्ञानम् । किमर्थैषा षष्ठी । स्वाम्यर्था । यथा कः कस्य स्वामी । यथा गोश्चैत्रः । कथम् असौ तस्याः स्वामी । तदधीनो हि तस्या वाहदोहादिषु विनियोगः । क्व च पुनर्विज्ञानं विनियोक्तव्यं यत एतस्य स्वामी मृग्यते । विज्ञातव्यार्थे । किमर्थं विनियोक्तव्यम् । विज्ञानार्थम् । अहो सूक्तानि सुखैधितानाम् । तद् एव हि नाम तदर्थं विनियोक्तव्यम् इति । कथं च विनियोक्तव्यम् उत्पादनत आहोस्वित् संप्रेषणतः । विज्ञानगत्ययोगाद् उत्पादनतः । हेतुरेव तर्हि स्वामी प्राप्नोति । फलम् एव च स्वम् । यस्माद् घेतोराधिपत्यं फले फलेन च तद्वान् हेतुरिति य एवास्य हेतुर्विज्ञानस्य तस्यवासौ । यश्चापि स चैत्राभिधानः संस्कारसमूह-सन्तानस्तस्य गवाख्यस्य देशान्तरविकारोत्पत्तौ च कारणभावं चेतसिकृत्व [स्वामित्वम् उच्यते] न तु कश्चित् [अत्र द्रव्यसत्पुद्गलः] । न तत्रापि हेतुभावं व्यतीत्यास्ति स्वामिभावः ।

वात्सीपुत्रीय—स्मृति में गति का योग नहीं है, इसलिए उसका संप्रेषण नहीं होता है, इसका उत्पादन होता है ।

वसुबन्धु—जिसे आप स्वामी कहते हैं, वह इसलिए हेतु ही है । जिसे आप स्वं कहते हैं, वह फलमात्र है । वास्तव में हेतु अपने आधिपत्य से फल का उत्पाद करता है, इसलिए वह स्वामी है और फल स्वं कहलाता है क्योंकि अपने उत्पाद के क्षण में यह हेतु के अधीन है । जब हेतु स्वामित्व के लिए पर्याप्त है तो एक आत्मा की क्या आवश्यकता है जिसमें स्मरण लक्षित किया जाये । जो स्मरण का हेतु है, उसी का यह स्मरण है । संस्कार समसन्तान या स्कन्धसन्तान को चैत्र और गऊ की आख्या की जाती है । लोक में कहते हैं कि चैत्राभिधान-सन्तान गवाख्यसन्तान का स्वामी है क्योंकि चैत्राख्यसन्तान गवाख्यासन्तान के देशान्तर-गमन में तथा विविध विकार की उत्पत्ति में कारण है । कोई द्रव्यसत् 'चैत्र' नाम का पुद्गल या गऊ नाम का दूसरा द्रव्यसत् नहीं है । चैत्राख्यसन्तान का हेतुभाव के अतिरिक्त स्वामि-भाव नहीं है ।

जैसे स्मृति वैसे प्रत्यभिज्ञान को समझना चाहिए ।

[२७६] अब हम इन प्रश्नों का उत्तर देंगे : "कौन जानता है (विजानाति) कि किसका विज्ञान है (कस्य विज्ञानम्) ?" एतत्सदृश अन्य प्रश्न—जैसे कौन वेदना का अनुभव करता है, किसकी वेदना है, कौन संज्ञा का उत्पाद करता है, किसकी संज्ञा है, किसकी स्मृति और प्रत्यभिज्ञान है ?"

कुछ आचार्यों[1] का मत है कि आत्मा का अस्तित्व है क्योंकि भाव को भविता[2] की अपेक्षा है, जैसे देवदत्त का गमन देवदत्त की अपेक्षा करता है । गमन भाव है, देवदत्त भविता है । इसी प्रकार विज्ञान एक प्रकार का भाव है । वह एक आश्रय की, एक विज्ञाता की, कारक भविता[3] की अपेक्षा करता है ।

हम इन आचार्यों से पूछते हैं कि देवदत्त से वे क्या समझते हैं ? यदि देवदत्त को द्रव्यसत् पुद्गल समझते हैं तो हम इस वाद का विचार और प्रतिषेध कर चुके हैं । अब इतना ही शेष रह जाता है कि देवदत्त एक द्रव्य सत्त्व नहीं, किन्तु एक कल्पित वस्तु हो,

---

१. "शुआन-चाङ् के टीकाकारों के अनुसार यह आचार्य सांख्य के हैं; व्याख्या के अनुसार यह वाक्य वैयाकरण का है; श्चेवात्स्की के अनुसार वसुबन्धु वात्सीपुत्रीयों से अपना शास्त्रार्थ जारी रखते हैं; और वास्तव में व्याख्या का कथन है कि यह युक्ति पुद्गल के अस्तित्व को सिद्ध करती है ।—कोश, ३.२८ ए, देखिये प्रतीत्यसमुत्पाद का विवाद, वैयाकरणचोद्य (वैयाकरण का आक्षेप) का प्रतिषेध : कोई क्रिया अकर्तृक नहीं है ।" भूति भवितृ से भिन्न नहीं है ।

२. (व्या० ७१२, २६) योऽप्याह । भावस्य भवित्रपेक्षत्वाद् आत्मास्ति··· ।

३. (व्या० ७१२, २७) विज्ञात्रा भवितव्यम् । पुद्गलेनेत्यभिप्रायः ।

देवदत्त संस्कार-समूह सन्तान की प्रज्ञप्ति मात्र हो। जिस अर्थ में हम कह सकते हैं कि यह देवदत्त जाता है, उसी अर्थ में हम यह भी कह सकते हैं कि देवदत्त जानता है।

देवदत्त कैसे जाता है ?—'देवदत्त' संस्कार-सन्तान मात्र है, यह भावक्षण हैं जो निरन्तर नवीन होते रहते हैं और साकल्येन सभाग होते हैं। मूढ़ पुरुष इस सन्तान में अथवा इस सन्तान के अधस्तात् एक द्रव्य-सत् देख सकते हैं जो इस सन्तान की देशान्तरोत्पत्ति में हेतु हो—वह हेतु जिसके बल से देवदत्त के शरीर के समनन्तर भावक्षण विभिन्न देशों में उत्पन्न होते हैं। वास्तव में देवदत्त का गमन शरीर-सन्तान का देशान्तरों में उत्पाद मात्र है; इस उत्पाद का हेतु—अर्थात् सन्तान का पूर्वक्षण गमन कहलाता है।

[२८०] इस अर्थ में हम कहते हैं कि देवदत्त जाता है। जैसे ज्वाला या शब्द के गमन को कहते हैं कि ज्वाला जाती है, शब्द जाता है, उसी प्रकार देवदत्त के गमन को कहते हैं कि देवदत्त जाता है, ज्वाला जाती है, शब्द जाता है, अर्थात् ज्वालासन्तान और शब्दसन्तान उत्पन्न होकर एक देश से दूसरे देश को जाते हैं।[1] इसी प्रकार लोक में कहते हैं कि देवदत्त जानता है (विजानाति), क्योंकि यह समुदाय जिसे देवदत्त कहते हैं, विज्ञान का हेतु है और लोक-व्यवहार का अनुवर्तन कर स्वयं आर्य इस भाषा का प्रयोग करते हैं जो विपरीत है।

किन्तु सूत्र का वचन है कि विज्ञान विषय को जानता है। विषय के सम्बन्ध में विज्ञान क्या करता है ?

कुछ भी नहीं; केवल विषय के सदृश उत्पन्न होता है जिस प्रकार फल यद्यपि कुछ नहीं करता[2], तथापि यह कहा जाता है कि वह बीज के अनुरूप होता है। बीज को पुनरुत्पन्न करता है क्योंकि बीज के सादृश्य से इसका आत्मलाभ होता है।[3] उसी प्रकार चाहे विषय के सम्बन्ध में विज्ञान कोई एक भी क्रिया सम्पन्न न करे, तथापि यह कहा जाता है कि विज्ञान विषय को जानता है, क्योंकि विषय-सादृश्य से इसका आत्मलाभ होता है।

---

१. गच्छतिगमनाभिधानवद् इति। यथा ज्वाला गच्छति शब्दो गच्छतीति गच्छति-शब्दाभिधानम्। यथा ज्वालायाः शब्दस्य वा गमनम् एवं देवदत्तो गच्छति देवदत्तस्य गमनम्। अनेन दृष्टान्तेन विजानाति देवदत्त इति सिध्यति।

सर्वास्तिवादियों का मत है कि गति (या गमन) असम्भव है, ४.२ बी, पृ० ४-५।

२. अकुर्वद् अपि किंचिद् इति—व्याख्या : परिस्पन्दम् अकुर्वद् अपीत्यर्थः।

३. सादृश्येनात्मलाभाद् इति—व्याख्या : कारणसादृश्येन कार्यात्मलाभात्।

'बीज के अनुरूप होना", "बीज का पुनरुत्पाद करना" ? शुआन-चाङ्—सादृश्य वासना = अनुरूप होना।

विभाषा, ६३, ३, इसका निरूपण करती है कि संयोग, समन्वागम (रोजेनबर्ग, २०४—नीचे पृ० २८५, संयोग) की क्रिया न हम पुद्गल में बता सकते हैं, न धर्मों में प्रथमक

[२८१] विज्ञान का सादृश्य इसमें है कि यह विषयाकार होता है ।[१] इस सादृश्य के कारण यह कहा जाता है कि विज्ञान विषय को, जो उसके हेतुओं में से एक है, जानता है : इन्द्रिय भी विज्ञान का कारण है, किन्तु यह नहीं कहा जाता कि विज्ञान इन्द्रियों को जानता है क्योंकि विज्ञान इन्द्रिय का आकार नहीं लेता । 'विज्ञान जानता है' कहने का यह प्रकार एक दूसरी दृष्टि से भी ठीक है । विज्ञान के समनन्तर क्षण विषय के सम्बन्ध में उत्पन्न होते हैं, पूर्व क्षण अपर क्षण का कारण है, इसलिए विज्ञान विज्ञानान्तर[२] का कारण है; इसलिए उसे कर्ता (कर्तृ) कहते हैं क्योंकि यह कारण है ।[३] विज्ञान में विज्ञान की क्रिया विनिष्ट करते हैं, जैसे घंटे में नाद की क्रिया या प्रदीप में गमन-क्रिया विनिष्ट की जाती है ।

लोक में कहते हैं कि प्रदीप जाता है । प्रदीप का गमन है । अर्चिक्षण की अव्युछिन्न सन्तान में जिसे विपर्ययवश एक करके ग्रहण करते हैं; प्रदीप का उपचार होता है; जब इस समनन्तर क्षणों में से एक पूर्व क्षण से अन्यत्र देशान्तर में उत्पद्यमान होता है तो कहा जाता है कि प्रदीप जाता है; किन्तु अर्चिसन्तान से पृथक् और कोई गन्ता नहीं है । इसी प्रकार चित्तसन्तान में विज्ञान का उपचार होता है । जब एक चित्तक्षण विषयान्तर से उत्पद्यमान होता है, तब कहते हैं विज्ञान इस विषय को जानता है ।[४] हम कहते हैं कि विज्ञान जानता है, जैसे कहा जाता है कि रूप है (भवति), उत्पन्न होता है, अवस्थान करता है (तिष्ठति) यद्यपि भाव जाति स्थिति से भिन्न भविता (भवितृ) जनिता स्थाता नहीं है ।[५]

अस्तित्व नहीं है, दूसरे क्रिया से सर्वथा विहीन हैं । कोई धर्म न कारक है, न संयोग की क्रिया का विषय है, किन्तु जिस प्रकार हेतुफल संक्लेश-व्यवदान, बन्धन-मोक्ष, प्रवृत्ति-निवृत्ति है, उसी प्रकार संयुक्त-असंयुक्त भाव है ।

१. (व्या० ७१२,३३) तदाकारता=नीलादिविषयाकारता—नील विज्ञान नीलाकार है ।

२. (व्या० ७१२,३३) विज्ञानकारणभावाद्=विज्ञानं विज्ञानान्तरस्य कारणम्......

३. (व्या० ७१३,२३) कारणे कर्तृशब्दनिवेशाद् इति—व्याख्या : कारणं कर्तृभूतम् इति कृत्वा । तद् यथा नादस्य कारणं घण्ट इति घण्टो रौतीत्युच्यते ।

४. (व्या० ७१३,४) अर्चिषां सन्ताने प्रदीप इत्युपचर्यंत एक इवेति कृत्वा । स सन्तानरूपः प्रदीपो देशान्तरेषूत्पद्यमानस्तं तं देशं गच्छतीत्युच्यते । एवं चित्तानां सन्ताने विज्ञानम् इत्युपचर्यंत एकम् इवेति कृत्वा । तत् सन्तानरूपं विज्ञानं विषयान्तरेषूत्पद्यमानं तं तं तं विषयं विजानातीत्युच्यते । सन्तानेन विज्ञानोत्पत्त्या विजानातीत्यभिप्रायः ।

५. यथा च भवितुः रूपस्य भावाज्जनितुर्जातिः स्थातुः स्थितेरनर्थान्तरत्वम् एवं विज्ञानेऽपि स्याद् विज्ञातुर्विज्ञानस्य विज्ञानाद् भावाद् अनर्थान्तरत्वम् । (जाति पर सर्वास्तिवादियों का मत देखिये, ४. पृ० २३०)

परमार्थ—"भविता"; शुआन-चाङ्, येओव-त्चे (Yeou-tche) ।

परमार्थ—जैसा लोक में कहते हैं, रूप वही है, उत्पन्न होता है, अवस्थान करता है,

[२८२] [सांख्य][1]—यदि अपरविज्ञान पूर्वविज्ञान से उत्पन्न होता है, आत्मा से नहीं, तो अपरविज्ञान पूर्वविज्ञान के सदृश नित्य क्यों नहीं होता? विज्ञानों का क्रम नियम से उत्तरोत्तर उत्पाद्य क्यों नहीं होता, जैसे अंकुर काण्ड पत्रादि का होता है?[2]

हम पहले प्रश्न का उत्तर देते हैं। —क्योंकि जो हेतु प्रत्ययार्थजनित (संस्कृत) है, उसका लक्षण अन्यथात्व (स्थित्यन्यथात्व, २.४५ सी, पृ० २२६) है। संस्कृत का ऐसा स्वभाव है, कि उसकी सन्तान में अपर पूर्व से भिन्न होगा। यदि इसके विपरीत होता तो ध्यान-समाहित योगी का स्वयं व्युत्थान नहीं होता, क्योंकि काय और चित्त की उत्पत्ति नित्य सदृश होती और सन्तान के उत्तरोत्तर क्षण अनन्य होते।[3]

दूसरी कठिनाई के सम्बन्ध में यह कहना है कि चित्तों के उत्पाद का क्रम भी नियत है।[4] यदि किसी चित्त को किसी दूसरे चित्त के अनन्तर उत्पन्न होना है, तो वह उस चित्त के अनन्तर उत्पन्न होगा।[5] दूसरी ओर कुछ चित्तों में आंशिक सादृश्य होता है जिसके कारण वे अपने गोत्र के विशेष लक्षणवश एक-दूसरे के अनन्तर उत्पन्न होते हैं।[6]

[२८३] उदाहरण के लिए "योगी"[7] में स्त्रीचित्त के अनन्तर तत्कायविदूषण चित्त

किन्तु भविता आदि भाव से भिन्न नहीं है, तथापि दो शब्द का व्यवहार होता है। इसी प्रकार विज्ञान के लिए दो शब्द प्रयुक्त होते हैं।

१. किओकुशा के अनुसार—वैशेषिक, व्याख्या के अनुसार—वैशेषिकमतानुसाराद् वा......।

२. कस्मान्न नित्यं सदृशम् इवोत्पद्यते न च क्रमनियमेन।

गोबुद्धि, स्त्रीबुद्धि, महिषबुद्धि एक-दूसरे के अनन्तर क्यों उत्पन्न होती हैं?

गोबुद्धि के अनन्तर महिषबुद्धि क्यों नहीं उत्पन्न होती?

जापानी सम्पादक यह अर्थ करते हैं: अपरचित्त पूर्व कुशल क्लिष्ट आदि चित्त के सदृश क्यों नहीं है।

३. निकामध्यानसमाधितानां सदृशकार्यचित्तोत्पत्तौ [कथं] स्वयं व्युत्थानम्—व्याख्या: निकामेन पर्याप्तेन समाप्तेन ध्यानेन समाहितानाम्......

४. क्रमोऽपि हि चित्तानां नियत एव।

५. उदाहरणार्थ, कोश, २.७१ बी।

६. गोत्रविशेषाद् इति भावनाविशेषात्—नीचे गोत्र का अर्थ बीज किया है। व्याख्या का अर्थ भावनाविशेषात् है, अर्थात् उस विशेष प्रकार के कारण जिससे वह सन्तान को वासित करते हैं।

७. स्त्रीचित्ताद् इति विस्तरः। स्त्रीचित्ताद् (=स्त्र्यालम्बनाच्चित्ताद्) अनन्तरं तत्कायविदूषणाचित्तम् (=तस्याः स्त्रियाः कायस्य विदूषणार्थं यदि परिव्राजकस्य अन्यस्य वा साधोश्चित्तम् उत्पन्नं भवति) तत्पतिपुत्रादिचित्तं वा (=तस्याः पतिपुत्रादयः। आदिशब्देन दुहित्रादयो गृह्यन्ते। तदालम्बनं चित्तम् तत्पतिपुत्रादिचित्तम्)—शुआन-चाङ्: "......साश्रव काय का चित्त"।

उत्पन्न होता है और जो योगी नहीं है, उसमें उस स्त्री के पति या पुत्र-दुहिता का चित्त उत्पन्न होगा। कालान्तर में चित्तसन्तान के परिणामवश स्त्रीचित्त फिर उत्पन्न होगा।[1] यह दूसरा स्त्री-चित्त कार्यविदूषण-चित्त या पति-पुत्र-दुहिता-चित्त के उत्पादन में समर्थ होगा, जिस चित्त का इन चित्तों में से, जो गोत्र अर्थात् बीज होगा, उसके अनुसार यह दूसरा चित्त होगा, अन्यथा जब वह सदृश गोत्र नहीं होगा, तब नहीं होगा।[2] पुनश्च, विविध हेतुवश स्त्रीचित्त के अनन्तर के विविध चित्त पर्याय हो सकते हैं। इन सब चित्तों में जो बहुतर हैं, जो अतीत के प्रवाह में रह चुके हैं, जो पटुतर हैं, जो उत्पाद्य चित्त के आसन्नतर हैं; वह पहले उत्पन्न होते हैं, क्योंकि इन चित्तों से चित्तसन्तान प्रबल रूप से वासित होता है।[3] उस अवस्था में अवश्य ऐसा नहीं होता जब काय प्रत्ययविशेषवश उस समय अन्य चित्त उत्पन्न होते हैं।[4]

[२८४] किन्तु आप पूछेंगे कि वह चित्त जो चित्त-सन्तान को प्रबल रूप से वासित करता है, नित्य फल क्यों नहीं देता? क्योंकि जैसा हमने कहा है—"स्थित्यन्यथात्व चित्त-सन्तान का लक्षण है।" यह लक्षण मध्य या अल्प बल की भावना के फल की उत्पत्ति के अत्यन्त अनुकूल है।

हमने यहाँ अति संक्षेप में विविध आकार के चित्तों के अन्योन्योत्पाद के क्रम के हेतु प्रत्ययों का विवेचन किया है। इन हेतुओं का पूर्णज्ञान केवल बुद्धि को है। यहाँ उद्धृत करते हैं कि एक मयूरचन्द्रक का भी सर्वाकार कारण सर्वज्ञों को छोड़कर दूसरा नहीं जान

---

१. पुनश्च सन्ततिपरिणामेन स्त्रीचित्तम् उत्पद्यते—देखिये, २.३६, पृ० १८५।

२. व्याख्या—तत् पश्चाद् उत्पन्नं स्त्रीचित्तं समर्थं भवति तत्कायविदूषणाचित्तोत्पादने तत्पतिपुत्रचित्तोत्पादने वा। कस्मात्। तत्गोत्रत्वाद् इति। तत्कायविदूषणाचित्तं तत्पतिपुत्रादिचित्तं वा गोत्रं बीजम् अस्येति तद्गोत्रम् ·····। अन्यथेत्यतद्गोत्रम्।

३. अथ पुनः पर्यायेणेति विस्तरः। पर्यायेण अयुगपत्। स्त्रीचित्तात् तत्कायविदूषणाचित्तम्। ततस्तत्पतिचित्तम्। ततस्तत्पुत्रचित्तम्। तत एव च तद्दुहितृचित्तम्। तत एव च तदुपकरणादिचित्तम् उत्पन्नं भवति। ततः स्त्रीचित्ताद् अनन्तरोत्पन्नेभ्यश्चित्तेभ्यो यद् बहुतरं प्रवाहतः पटुतरं शक्तित आसन्नतरं वास्योत्पाद्यस्य चित्तस्य तद् एव चित्तम् उत्पद्यते। तद् भावनाबलपटुत्वात् (पोथी—बलं यस्त्वात्) तस्य बहुतरस्य पटुतरस्यासन्नतरस्य वा भावनाया बलवत्तरत्वात्।

भावना या वासना पर, देखिये ४.२७ डी, १२३ सी, ७.२८ सी, ३० सी, ३२ डी, ८.३ डी।

४. अन्यत्र तत्कालप्रत्युपस्थितकायप्रत्ययविशेषात्—प्रत्यय=बाह्यप्रत्यय।

सकता। सर्वज्ञ के ज्ञान का यह बल है [किसी वस्तु को सर्वथा जानना]।[1] विविध रूपों का कारण जानना कठिन है। अरूपी चित्त-चैत्तों के विविध हेतुप्रत्ययों का प्रतिवेध करना तो और भी कठिन है।[2]

एक तीर्थिक (एकीयः तीर्थिकः)[3] का कथन है कि चित्त आत्मा से उत्पन्न होते हैं। हम उन आपत्तियों का सफलता के साथ विरोध कर सकते हैं जो हमारे विरुद्ध व्यर्थ ही उपन्यस्त होती हैं। अपर चित्त पूर्वचित्त के सदृश क्यों नहीं है? चित्त एक नियत क्रम में क्यों नहीं उत्पन्न होते?

इस तीर्थिक[4] का कथन है कि चित्त की विशिष्टता और उनके उत्पाद के क्रम-

---

१. एवं हि आहुरिति स्थविरराहुलः—व्याख्या (पेट्रोग्राद, १६१८), पृ० ६ देखिये—

> सर्वाकारं कारणम् एकस्य मयूरचन्द्रकस्यापि।
> नासर्वज्ञैर्ज्ञेयं सर्वज्ञज्ञानबलं हि तत्॥

२. प्रागेवारूपिणां चित्तभेदानाम्—अत्थसालिनी, १४२, मिलिन्द, ८७, कोश, २.२४, पृ० १५६ में यह युक्ति है।

३. व्याख्या : वैशेषिक।

४. शुआन-चाङ् का कथन मूल से कई बातों में भिन्न है : "यदि उनका कहना है कि विज्ञानों की विशिष्टता (आत्मा) और मनस् के संयोग-विशेष की अपेक्षा करती है, तो हमारा उत्तर है—नहीं; १. क्योंकि आत्मा का अन्य अर्थ से संयोग सिद्ध नहीं है; २. क्योंकि दो अर्थों का संयोग परिच्छिन्न होता है [अर्थात् दो अर्थ पार्श्व से ही संप्रयुक्त हो सकते हैं], उनका संयोग का लक्षण यह है : अप्राप्ति पूर्विका प्राप्ति, आत्मा पूर्विका और मन का संयोग परिच्छिन्न होना चाहिए; ३. क्योंकि मनस् के परिवर्तन से आत्मा को भी परिवर्तित होना चाहिए; ४. वा आत्मा को मनस् के साथ विनष्ट होना चाहिए—यदि उनका कहना है कि उनका संयोग प्रादेशिक है।—नहीं। क्योंकि एक आत्मा में विभिन्न प्रदेश नहीं हैं। मान लीजिए कि संयोग होता है तो संयोग विशेष प्रकार का हो सकता है क्योंकि आत्मा शाश्वत है और मनस् का परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि उनका उत्तर है कि (यही विशेषता) बुद्धि की ही विशेषता पर निर्भर है तो कठिनाई यही रह जाती है [जब वे कहते हैं कि विशेषता मन पर आधारित है]। हम उनसे पूछते हैं कि बुद्धि कैसे विभिन्न है? यदि उनका कहना है कि आत्मा और मनस् का संयोग संस्कारों पर आधारित होने के कारण विभिन्न है, तो संस्कारों की विविधता पर आधारित एक ही चित्त को विज्ञानों की विविधता का उत्पादन करना चाहिए। लेकिन सब आत्मा का क्या प्रयोजन?

नियम का अभाव और मन के संयोग विशेष के कारण होता है।[1] यह विवेचन ठीक नहीं है, संयोग-सिद्ध नहीं है।[2]

[२८५] इसके अतिरिक्त युक्ति बताती है कि दो संयोगी अर्थ परिच्छिन्न होंगे (संयोगिनोश्च परिच्छिन्नत्वात्),[3] अर्थात् भिन्न देशों में परिच्छिन्न होंगे। आप कहते हैं कि संयोग लक्षण का जो निर्देश करते हैं[4] : "अप्राप्ति पूर्विका प्राप्ति"[5], उसका वही परिणाम है जो तुम्हारी युक्ति का है, अर्थात् आत्म परिच्छिन्न है (आत्मनः परिच्छेदप्रसंगः)।[6]

[२८६] [परिणाम यही होगा कि आत्मा सर्वव्यापी नहीं है, लेकिन यह आपके सिद्धान्त के विरुद्ध है]।[7]

संयोग से आपकी लक्षणा से यह भी अर्थ निकलता है कि जब मनस् का संचरण होता है, अर्थात् जब मन किसी न किसी शरीर के देश की ओर संचरण करता है, तब आत्मा को भी उसको स्थान देने के लिए संचरण करना पड़ता है [इसीलिए वह निष्क्रिय नहीं है] या उसको नष्ट होना पड़ता है[8] और इसीलिए वह नित्य नहीं है। दूसरी ओर आप

---

१. मनःसंयोगविशेषापेक्षत्वाद् इति चेत्। स्यान् मतं तुल्येऽपि आत्मप्रभवत्वे चित्तोत्पत्तेर् आत्मा कदाचित् क[दा]चिन् मनःसंयोगविशेषम् अपेक्षत इत्यतो न नित्यं तादृशं चित्तम् उत्पद्यते न च क्रमनियमेण अंकुरकाण्डपत्रादिवत्।

२. न। अन्यसंयोगासिद्धेः। नैतद् एवम्। कस्मात्। ताभ्याम् आत्ममनोभ्याम् अन्यस्य संयोगस्यासिद्धेः। न हि संयोगो नाम भावः कश्चिद् अस्माकं सिद्धोऽस्ति।—बौद्ध संयोग नामक भाव का अस्तित्व नहीं मानते।

३. संयोगिनोश्चेति विस्तरः। अभ्युपगतेऽपि संयोगे संयोगिनोः लोकप्रसिद्धयोः काष्ठयोर् अन्ययोर् वा कयोश्चित् परिच्छिन्नत्वात् परिच्छिन्नदेशदृष्टत्वाद् इत्यर्थः।

४. लक्षणव्याख्यानाच्चेति। वैशेषिकतन्त्रे संयोगलक्षणनिर्देशात्।

५. यह दशपदार्थी का लक्षण है। हुई (H-Ui)—द वैशेषिक फिलासफी, १९१७, पृ० २५१। श्चेबात्स्की प्रशस्तपाद उद्धृत करते हैं : अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः—और कहते हैं कि वैशेषिकसूत्र, ७.२.९, इससे भिन्न है।

६. ततः किम्। आत्मनः परिच्छेदप्रसंगः। व्याख्या : परिच्छिन्नदेशत्वप्रसंगः। यत्रात्मा न तत्र मनः यत्र मनो न तत्रात्मेति। [जहाँ आत्मा है, वहाँ मनस् नहीं है]।

अनेनानुमानागमापत्तितो धर्मविशेषविपर्ययोऽस्य पक्षस्य संदर्शितो भवति। मनसा संयोग आत्मन इति। आत्मा धर्मी। तस्य विशेषः सर्वगत्वम्। तद्विपर्ययोऽसर्वगत्वम् इति।

७. परमार्थ ने जोड़ा है।

८. ततो मनःसंचाराद् आत्मनः संचारप्रसंगो विनाशाय वा।

व्याख्या : ततो लक्षणाद् अप्राप्तिपूर्विका प्राप्तिः संयोग इति मनःसंचाराद् यं यं शरीरदेशं मनः संचरति ततस्तत आत्मा संचरत्यपैतीति प्रसज्यते। तद्यथा यं यं पृथिवीप्रदेशं

स्वीकार नहीं कर सकते हैं कि आत्मा और मन का प्रादेशिक संयोग है क्योंकि आपके विचार में आत्मा अप्रादेशिक सत्त्व है।[१]

[२८७] यदि मान लिया जाय कि शाश्वत आत्मा और निर्विकार मनस् में संयोग की विशेषता की व्याख्या कैसे की जाय[२] [जो चित्तों की विशेषता के लिए आवश्यक है] ? क्या आप कहेंगे कि यही विशेषता बुद्धि की विशेषता का परिणाम है [जो आत्मा का एक गुण है] ? लेकिन मनस् जैसे बुद्धि की यही कठिनाई सामने आती है। क्योंकि यदि आत्मा

पुरुषः संचरति ततस्तत आतपोऽपसर्पति। तथा च सति निष्क्रियत्वम् अस्य बाधितं भवतीति स एव प्रतिज्ञादोषः।

विनाशस्य वा। प्रसंग इति वर्तते। आत्मन इति च॥ यत्र यत्र मनः संचरति तत्र तत्रात्मा विनश्यतीति स एव चात्र प्रतिज्ञादोष आत्मनो नित्यत्वनिवृत्तेः।

१. प्रदेशसंयोग इति चेत्। स्यान् मतम् आत्मना प्रदेशेन संयोगो मनसः। आत्मना वा प्रदेशेन मनसा सह संयोगः। यस्मिन् शरीरप्रदेशे मनोऽवस्थितं भवति तद्गतेनात्मप्रदेशेन मनो न संयुज्यते। प्रदेशान्तरेण तु पर्श्वतः (पोथी-त्तपाल्वतः) संयुज्यते। तस्माद् अप्राप्तिपूर्वकत्वेऽपि संयोगस्य अप्राप्तेनैव आत्मप्रदेशेन मनः संयुज्यत इति। तन् न। तस्यैव तत्प्रदेशत्वायोगात्। न ह्यात्मनोऽन्यप्रदेशा विद्यन्ते। न चैवात्मैव आत्मनः प्रदेशो युज्यते।

यह किसी का मत हो सकता कि जब मनस् किसी शरीरप्रदेश में अवस्थित होता है, तब तद्गत आत्मप्रदेश से उसका संयोग नहीं होता, किन्तु अन्य आत्मप्रदेश से होता है, अप्राप्तिपूर्वक संयोग होता है। मनस् अपना स्थान छोड़कर इस आत्मप्रदेश से संयुक्त होता है: मनस्, जिससे यह पहले संयुक्त नहीं था, अर्थात् उससे जो उस शरीरप्रदेश में अवस्थित है जिससे मनस् अपसर्पण करता है।

२. अस्तु वा संयोगस्तथापि निर्विकारत्वाद् अविशिष्टे मनसि कथं संयोगविशेषः। बुद्धिविशेषापेक्षत्वाद् इति चेत् कथं बुद्धिविशेषः। संस्कारविशेषापेक्षाद् आत्ममनः संयोगाद् इति चेत। चित्ताद् एवास्तु संस्कारविशेषापेक्षात्······

व्याख्या : अस्तु वा संयोग इति विस्तरः। अभ्युपेत्यापि संयोगं तथापि निर्विकारत्वाद् अविशिष्टे मनसि कथं संयोगविशेषः कथं विशिष्टः संयोगो भवति यत एवम् उक्तं मनःसंयोगविशेषापेक्षत्वाद् इति। बुद्धिविशेषापेक्षत्वाद् इति चेत् स एवोपरिचोद्यते कथं बुद्धिविशेष इति कथं न नित्यम् ईदृशम् एवोत्पद्यते चित्तम् अविशिष्टे आत्मनीति। कारणविशेषाद् हि कार्यविशेष इष्यते शंखपटहादिशब्दवत्।

संस्कारविशेषापेक्षाद् आत्ममनःसंयोगाद् इति चेत्। स्यान् मतम् नित्यम् अविशिष्टेऽप्यात्मनि मनसि च संस्कारविशेषापेक्षाद् आत्ममनसोः संयोगाद् बुद्धिविशेष इति। तद् उक्तं भवति संस्कारविशेषाद् भावनाविशेषलक्षणाद् आत्ममनःसंयोगविशेषस् तद् [विशेषाद् बुद्धि] विशेषः। अत्र ब्रूमः चित्ताद् एवास्त्विति विस्तरः।

विभिन्न नहीं है तो बुद्धि कैसे विभिन्न हो जायेगी ? क्या आप कहेंगे कि बुद्धि विशिष्ट है ? क्योंकि संस्कार-विशेष आत्मा और मनस् का संयोग-विशेषक होता है और इससे विशेष-बुद्धि विशेष होती है ?[१]—इस पक्ष में आत्मा निश्चयोजनीय हो जाता है; यह क्यों नहीं कहते कि संस्कार विशेषाक्षेपचित्त से ही चित्तविशेष होता है ? चित्तोत्पाद में आत्मा का सामर्थ्य नहीं है और यह कहना कि आत्मा से चित्त विनिर्गत होते हैं; एक कुहक वैद्य के समान आचरण करना है जो मन्त्रों से ओषधि को अभिमन्त्रित करता है। यद्यपि ओषधि में रोग के उपशम का सामर्थ्य है, 'फट् ! स्वाहा !'[२] मंत्र का उच्चारण करता है।

आप निस्सन्देह कहेंगे कि आत्मा के होने पर चित्त और संस्कार का होना सम्भव होता है : यह युक्तिशून्य वाङ्मात्र है।

[२८८] यदि आपका यह मत हो कि आत्मा उनका आश्रय है तो हम आपसे उदाहरण देकर इस आश्रय-आश्रित सम्बन्ध का विवेचन करने को कहते हैं। चित्त [जिसे संस्कार प्रभावित करते हैं] और चित्र या बदर फल नहीं है जिन्हें आत्मा का आधार चाहिए : जैसे भित्ति चित्र का आधार है या भाजन बदर फल का आधार है। वास्तव में, एक पक्ष में [आत्मा और चित्त संस्कार के बीज] प्रतिघातित्व स्वीकार करना पड़ेगा और दूसरे पक्ष में चित्र और बदर फल का भित्ति और भाजन से पृथग्देशत्व होगा।[३]

---

१. चित्ताद् एवास्तु संस्कारविशेषापेक्षात्। न हि किंचिद् आत्मन उपलभ्यते सामर्थ्यम् औषधकार्यसिद्धाविव कुहकवैद्यफुटस्वाहानाम्।

अयम् इहाचार्यस्याभिप्रायः। मम तव च चित्तम् अस्तीत्यविवादः। संस्कारविशेषोऽप्यस्ति भावनाविशेषलक्षणो योऽसौ वासनाबीजम् इति वास्माभिर् व्यस्थाप्यते। भावान्तरं [पोथी-भावनान्तरम्] न वेति तु विशेषः। तस्माच्चित्ताद् एव संस्कारविशेषापेक्षाद् बुद्धि-विशेषोऽस्तु। किम् आत्मना तत्संयोगेन वा कल्पितेनेति। न हि किंचिद् इति विस्तरः।

२. कुहकेनैकतरेण वैद्येन कस्मैचिद् ग्लानाय औषधं ददानेन चिन्तितम् इदम् औषधं सुलभं विदितं चास्य सपरिजनस्य ग्लानस्य। एतेन चौषधेनास्य ग्लानस्य ग्लान्योपशमो भवेत् तद् एवं माम् अवध्यान्येऽपि करिष्यन्ति। ततश्च ममार्थलाभो न भविष्यतीति चिन्तयित्वा तद् अभिमन्त्र्य फुट स्वाहा फुट स्वाहेति जनस्य दर्शितम् अनेन मन्त्रेणेदम् औषधं सिध्यतीति। तत्र यथा कुहकवैद्यफुटस्वाहानाम् औषधकार्यसिद्धौ सामर्थ्यं नास्त्यौषधस्यैव तु सामर्थ्यमेवम् आत्मनो बुद्धिविशेषोत्पत्तौ नास्ति सामर्थ्यं चित्तस्यैव सामर्थ्यमिति।

३. सत्यात्मनि तयोः संभाव इति चेत्। स्यान् मतं सत्यात्मनि तयोः संस्कारचित्तयोः संभाव इत्यतोऽस्त्यात्मेति। अत्र ब्रूमो वाङ्मात्रम्। नात्र काचिद् युक्तिरस्तीति।

आश्रयः स इति चेत्। स्यान् मतम् आत्माश्रयस्तयोरिति। यथा कः कस्याश्रय इति। आश्रयरूपेणोदाहरणं मृग्यते। तम् अस्याश्रयार्थम् अयुक्तं दर्शयन्नाह। न हि ते इति विस्तरः। ते संस्कारचित्ते चित्रबदरादिवत्। यथा कुड्ये चित्रम् आधार्यं बदरं च कुण्डे। आदिशब्देन

आप कहते हैं कि चित्त-संस्कार को आत्मा का जो आश्रय मिलता है, उसे आप उस प्रकार नहीं समझते। आप कहते हैं कि यथा पृथिवी गन्ध, रूप, रस, स्प्रष्टव्य का आश्रय है, उसी प्रकार आत्मा चित्त-संस्कार का आश्रय है। हम इस उदाहरण पर प्रसन्न हैं, क्योंकि यह आत्मा के अभाव को सिद्ध करता है। यथा गन्धादि से अन्यत्र पृथिवी की उपलब्धि नहीं होती (न उपलभ्यते)—जिसे लोक में पृथिवी कहते हैं, वह रूपादि का समुदाय मात्र है। उसी प्रकार चित्त-संस्कारों से अन्य आत्मा नहीं है। जिसे आत्मा कहते हैं, वह चित्त-संस्कार है, 'पृथिवी' गन्धादि से अन्य है, यह कौन निर्धारित कर सकता है?

किन्तु यदि गन्धादि से अन्य पृथिवी नहीं है तो यह व्यपदेश कैसे होता है कि यह गन्धादि पृथिवी के हैं: 'पृथिवी की गन्ध, पृथिवी की रस'? विशेषण के लिए ऐसा कहते हैं। दूसरे शब्दों में इससे यह सूचित किया जाता है कि अमुक गन्ध, रस आदि की पृथिवी आख्या है।

[२८६] यह वह गन्ध, रस आदि नहीं है जिनकी 'अपं' आख्या है; तथा लोक में जब वस्तु को काष्ठ-प्रतिमा का शरीर कहते हैं तो इससे यह सूचित किया जाता है कि यह वस्तु काष्ठ की है, मृण्मय नहीं है।[1]

भाजने भोजनम् इत्यादि। नैव ते संस्कारचित्ते तत्रात्मन्याधेये आधार्ये। नापि स कुड्यकुण्डादिवद आधारो युक्तः...। किं कारणम् इत्याह। प्रतिघातित्वयुतत्वादिदोषाद् इति प्रतिघातित्वदोषाद् युतत्वदोषाच्च। स-प्रतिघत्वप्रसंगात् पृथग्देशत्व प्रसंगाच्चेति अर्थः। यथा चित्रबदरयोः कुड्यकुण्डयोश्चाधार्याधारभावे प्रतिघातित्वं युतत्वं च दृष्टे एवम् एतेषाम् अपि स्याद् अनिष्टं चैतत् अतो नात्माश्रयः।

१. व्यपदेशस्तु विशेषणार्थम्। ते ह्येव पृथिव्याख्या यथा विज्ञायेरन नान्ये। काष्ठप्रतिमायाः शरीरव्यदेशवत्। परमार्थ: "यदि गन्धादि से व्यतिरिक्त कोई पृथिवी द्रव्य नहीं है, तो पृथिवी के लिए यह क्यों कहते हैं कि इसके चार गुण हैं?—विशेषण के लिए जिसमें दूसरा जाने कि गन्ध, रस आदि 'पृथिवी' आदि कहलाते हैं कि इनसे अन्य कोई पृथिवी आदि नहीं है। यथा लोक में कहते हैं: 'काष्ठ की प्रतिमा'।

यदि न गन्धादिभ्योऽन्या पृथिवी कथम् अयं व्यपदेशः पृथिव्या गन्धादय इति। अन्येन हि अन्यस्य व्यपदेशो दृष्टश्चैत्रस्य कम्बल इति। अत उच्यते व्यपदेशस्त्विति विस्तरः। विशेषणार्थम् इत्यपादिभ्यो विशेषणार्थम् इत्यर्थः। कथम् इति प्रतिपादयति ते हि एवेति विस्तरः। ते हि एवेति एवकारस्तद्व्यतिरिक्तपृथिवीद्रव्यनिवृत्त्यर्थः। त एव गन्धादयः पृथिव्याख्या यथा विज्ञायेरन। तथा विशेषणार्थं व्यपदेश इति अभिसम्बन्धः। नान्य इति नापाद्याख्याः पृथिव्याख्येभ्योऽन्ये विज्ञायेरन्न् इत्यर्थः। काष्ठप्रतिमायाः शरीरव्यपदेशवद् इति यथा काष्ठप्रतिमायाः शरीरम् इति व्यदिश्यतेऽन्याभ्यो मृन्मयादिभ्यो विशेषणार्थम्। न च काष्ठप्रतिमायाः शरीरम् अन्यद् एवम् इहापि व्यपदेशः स्यान् न च गन्धादिभ्योऽन्या पृथिवीति।

यदि आत्म-संस्करण विशेष की अपेक्षा चित्त का उत्पाद करता है, तो यह सब चित्तों का युगपद् उत्पाद क्यों नहीं करता ?

वैशेषिक—क्योंकि बलिष्ठ संस्कार-विशेष अन्य दुर्बल संस्कार-विशेषों की फलोत्पत्ति में प्रतिबन्ध है और यदि बलिष्ठ संस्कार नित्यफल नहीं देता तो उसका कारण वही है जो आपने चित्तसे सन्तान में आहित वासना के विवेचन में दिया है[1] (ऊपर पृ० २८२); हमारा मत है कि संस्कार नित्य नहीं है और उसका अन्यथात्व होता है।

किन्तु उस अवस्था में आत्मा निरर्थक होगा ? संस्कारों के बल-विशेष से चित्त-विशेष उत्पन्न होंगे, क्योंकि आपके संस्कार और हमारी वासना के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है।

[२६०] वैशेषिक—आत्मा के बिना हमारा काम नहीं चलता—स्मृति, संस्कारादि गुण पदार्थ हैं।[2] इन गुण पदार्थों का आश्रय कोई न कोई द्रव्य होना चाहिए और (पृथिवी आदि) नौ द्रव्यों में यह आत्मा ही हो सकता है, क्योंकि यह अग्राह्य है कि स्मृति तथा अन्य चैतसिक गुणों का आश्रय चेतन आत्मा के अतिरिक्त कोई दूसरा द्रव्य हो; किन्तु द्रव्य-गुण का यह सिद्धान्त सिद्ध नहीं है। आप कहते हैं कि स्मृति, संस्कारादि गुण पदार्थ हैं, द्रव्य नहीं हैं। हम इससे सहमत नहीं हैं। हमारा मत है कि यत्किंचित् विद्यमान है, वह सब द्रव्य है। सूत्र-वचन है कि "श्रामण्य फल ६ द्रव्य हैं [अर्थात् अनास्रव पञ्चस्कन्ध और

---

१. संस्कारविशेषापेक्षत्व इति आत्ममनःसंयोगस्य। यो हि बलिष्णुर् इति संस्कार-विशेषस्तेनान्येषां संस्कारविशेषणां प्रतिबन्धः। स एव बलिष्ठः कस्मान् नित्यम् न फलति इत्याचार्यवचनम्। स एव पुनराह। योऽस्य न्यायो यः संस्कारस्य न्यायो विनाशप्रतिबन्धो वा सोऽस्तु भावनाया बीजात्मिकायाः। आत्मा तु निरर्थको निष्प्रयोजनः कल्प्यते। संस्कारार्था हि तत्कल्पना स्यात् तस्य च संस्कारस्य यत् कार्यं तद् भावनयैव क्रियत इति। संस्कार, भावनाविशेष—हुई (H-Ui), पृ० १६२ देखिये।

२. स्मृत्यादिनाम् इति विस्तरः। स्यान् मतं स्मृतिसंस्कारेच्छाद्वेषादिनां गुणपदार्थत्वात् तस्य च गुणपदार्थस्यावश्यं द्रव्याश्रितत्वाद् द्रव्याश्रयश्च गुणवान् इत्येव लक्षणोपदेशात्। न चैषाम् अन्य आश्रयः पृथिव्यादिको युज्यते प्रत्यक्षादिभिः कारणैरतो य एषाम् आश्रयः स आत्मा। तस्माद् अस्त्यात्मेति।

नासिद्धेः। नैतद् एवम्। कस्मात्। स्मृत्यादिनां गुणपदार्थत्वासिद्धेः। विद्यमानं द्रव्यम् इति यत् स्वलक्षणतो विद्यमानं तद् द्रव्यम्। षड् द्रव्याणि श्रामण्यफलानीति रूपस्कन्धादीनि पञ्च संस्कृतानि श्रामण्यफलान्यसंस्कृतं च षष्ठम् इति षड् द्रव्याणि, भवन्ति। नाप्येषाम् इति स्मृत्यादीनाम्। परीक्षितो ह्याश्रयार्थ इति। यथा कः कस्याश्रयः (ऊपर पृ० २८८, टि० १, १.४)।

पदार्थ, गुण, द्रव्य पर—हुई (H-Ui), पृ० ९३ और आगे।

गुणिन और गुण का विचार, कोश, ३.१०० ए-बी।

प्रतिसंख्यानिरोध]" (६.५१)। 'आत्मा स्मृति आदि का आश्रय है, यह अयथार्थ है; क्योंकि हम अयथार्थ की परीक्षा कर चुके हैं।'

वैशेषिक का कहना है कि 'यदि आत्मा का वास्तव में अस्तित्व नहीं है, तो कार्य-फल क्या है?'

'पुद्गल का सुख-दुःख का अनुभव ही कर्मफल है।'

वैशेषिक—'आप पुद्गल से क्या समझते हैं?'

'जब हम अहम् कहते हैं, हमारा आशय पुद्गल से होता है।' यह अहम् अहंकार का विषय है (अहंकारविषय)।

[२६१] वैशेषिक—'यह विषय क्या है?'

'स्कन्धसन्तान, क्योंकि स्कन्धों में अपने रूप, वेदना आदि में सत्त्व अनुरक्त होता है; क्योंकि अहंकार उन्हीं अर्थों में उत्पन्न होता है जिनमें गौरादि संज्ञा उत्पन्न होती है। 'क्या लोक में नहीं कहते हैं कि मैं गौर, कृष्ण, वृद्ध, युवा, कृश, स्थूल हूँ?' जिसे हम गौरादि समझते हैं जो स्पष्ट ही रूप स्कन्ध है, उसे हम अहम् आत्मा भी समझते हैं, वैशेषिक इसे गौरादि से भिन्न मानते हैं; किन्तु वास्तव में अहंकार स्कन्धों के विषय में ही होता है, वैशेषिक प्रकारों के परिकल्पित आत्मा के नहीं।'

वैशेषिक—जब लोक में कहते हैं कि 'मैं गौर हूँ', तब लोक उपचार से शरीर को अहम् शब्द से ज्ञापित करता है। यह उपचार यथार्थ है क्योंकि शरीर अवितथ अहम् का उपकारी है; अवितथ अहम् का उपभोगी है, जैसे राजा अपने अमात्य को द्वितीय आत्मा कहता है।

जिसे उपचार से लोक में अहम् कहते हैं, वह अहम् का उपकारक हो सकता है। किन्तु [रूप, वेदना, विज्ञानादि के विषय में] जो इस प्रकार का प्रत्यय होता है, उसका यह विवेचन नहीं हो सकता।[1]

वैशेषिक—यदि अहंकार का विषय शरीर का रूप (वर्ण-संस्थान) तथा स्कन्ध हैं तो यह प्रत्यय दूसरे रूप (वर्ण-संस्थान) के विषय में क्यों नहीं उत्पन्न होता?

क्योंकि दूसरे स्कन्ध सन्तान और इस प्रत्यय के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। जब रूप या चित्त-चैत अहंकार से सम्बन्धित होते हैं, जब उनका कारण-कार्य भाव होता है, तब यह प्रत्यय इस रूप, उस चित्त-चैत के विषय में उत्पन्न होता है; अन्य स्कन्धों के विषय में नहीं होता। मेरी सन्तान को अहम् समझने का अभ्यास अनादि काल से मेरी अपनी सन्तान में विद्यमान है।

वैशेषिक—यदि कोई आत्मा नहीं है, तो यह अहंकार किसका है?

---

१. शुआन-चाङ्: "किन्तु अहंकार का विषय इस प्रकार का नहीं है"। भाष्य में न त्वहंकारः; व्याख्या: न त्वहम् इत्येवमाकारः प्रत्यय इत्यर्थः।

[२६२] हम इस प्रश्न का उत्तर स्मृति के प्रकरण में दे चुके हैं जहाँ हमने 'स्मृति किसकी है', इस प्रश्न का विवेचन किया है।[1] स्मृति का स्वामी केवल स्मृति-हेतु है। यही अहंकार के विषय में भी ठीक है।

वैशेषिक—अहंकार में क्या हेतु है?

यह एक संक्लिष्ट चित्त है जो इसी अहंकार से अनादि काल से वासित है और जिसका विषय वह चित्त सन्तान है जहाँ उसकी उत्पत्ति होती है।

वैशेषिक—आत्मा के अभाव में सुख-दुःख किसको होता है?

आश्रय को जहाँ सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है, जैसे वृक्ष को पुष्पित और वन को फलित कहते हैं।[2] आश्रय चतुरायतन आदि आध्यात्मिक आयतन को कहते हैं।[3] हम इसका विवेचन प्रथम कोशस्थान में कर चुके हैं।

वैशेषिक—आत्मा के अभाव में जो कर्म करता है, वह क्या है? फलाफल का उपभोग करने वाला क्या है? जो करता है, जो भोगता है; इससे आपका क्या अभिप्राय है?

हमारा आशय कर्ता उपभोक्ता से है।[4]

वैशेषिक—आपका विवेचन वचनमात्र है, यह कुछ भी प्रतिपादित नहीं करता। वैशेषिक यहाँ वैयाकरणों के सिद्धान्त का आवाहन करता है। उनका कथन है कि—

---

१. इदं पुनस्तद् एवायातम् इति किमर्थैषा षष्ठी······(ऊपर पृ० २७७, १.५)।

२. पुष्पितो वृक्ष इति दृष्टान्तो यत्र सिद्धान्ते वृक्षावयवी नेष्यते········ यत्र तु वृक्षावयव्यस्ति तत्र द्वितीयो दृष्टान्तः फलितम् वनम् इति। न हि वनं नाम किंचिद् अस्ति। यथा यस्मिन् वने फलम् उत्पन्नं तत् फलितम् इत्युच्यते तथा यस्मिन्नाश्रये षडायतन-लक्षणे सुखम् उत्पन्नं दुःखं वा स सुखितो दुःखितो वा।

३. यथा तथोक्तम् इति। यथा कृत्वाश्रयः षडायतनं तथोक्तम्। तद्विकारविकारित्वाद् आश्रयश्चक्षुरादय इत्यर्थः (१.४५ ए)। पञ्चस्कन्धकं भवान् उदाहरतीत्यधिकृतम्। [वसुबन्धु पञ्चस्कन्धक नामक अपने ग्रन्थ को उद्धृत करते हैं।]

४. शुआन-चाङ् और तिब्बती भाषान्तर (श्चेबात्स्की—परमार्थ : "अकृत कर्म जो करता है, उसे कर्ता कहते हैं। पूर्व कर्म के फल का जो प्रत्युत्पन्न अध्व में लाभ करता है, उसे उपभोक्ता कहते हैं।"

५. श्चेबात्स्की : नैयायिक; शुआन-चाङ् और परमार्थ : "जो धर्मलक्षणों का प्रतिपादन करते हैं।" किन्तु श्चेबात्स्की सिद्ध करते हैं कि इन आचार्यों का सिद्धान्त पाणिनि का है, १.४, ५४ : स्वतंत्रः कर्ता।

कोश, ३.२७ (पृ० ४१) में हम पाते हैं कि वैयाकरण अकर्तृका क्रियावाद का विरोध करते हैं। इस सम्बन्ध में कुछ वादियों का (केचिद् वादिनः) मत है कि प्रतीत्य समुत्पाद एक आश्रय अर्थात् आत्मन् की अपेक्षा करता है।

[२६३] कर्ता वह है कि जिसमें स्वातंत्र्य है; उपभोक्ता वह है जो कर्मफल भोगता है। लोक में उसे कर्ता मानते हैं जो किसी कर्म के विषय में स्वातंत्र्य रखता है : यथा देवदत्त के लिए कहा जाता है कि वह स्नान करता है, भोजन करता है, जाता है, क्योंकि उसका स्नान, भोजन, गमन में स्वातंत्र्य है।

यह लक्षण उपयुक्त नहीं है।

देवदत्त से आपका क्या आशय है ? यदि वह आत्मन् है तो उदाहरण असिद्ध है और निरर्थक है। यदि देवदत्त से स्कन्धसमुदाय विशेष का अर्थ है तो देवदत्त कर्ता हो सकता है, किन्तु वह एक स्वतंत्र कर्ता और कर्म का जनक नहीं है।[1] कर्म त्रिविध हैं[2]—कायिक, वाचिक, मानसिक। चित्त की वृत्ति काय में होती है और इस प्रकार काय कर्म-चित्त से प्रवृत्त होता है। काय और चित्तक वृत्ति भी स्वहेतु प्रत्यय परतंत्र है। हेतु प्रत्यय की वृत्ति भी स्वकारण परतंत्र है। इन सब में कोई द्रव्यसत्, कोई जनक नहीं है जो स्वाश्रित हो, दूसरे शब्दों में जिसका स्वातंत्र्य हो क्योंकि सब भाव हेतु प्रत्यय परतंत्र हैं।—आपकी आत्मा हेतु प्रत्यय परतंत्र नहीं है, वह अकिंचित्कर भी है, इसलिए वह स्वतंत्र कर्ता नहीं है।

[२६४] जिसका स्वातंत्र्य है, उसे कर्ता कहते हैं, आपका यह लक्षण है। इस लक्षण के अनुसार कर्ता का अस्तित्व कहीं नहीं सिद्ध होता। जिसे किसी कर्म का कर्ता कहते हैं वह, उसके सब कारणों में, उस कर्म का प्रधान कारण है, किन्तु कर्ता के इस लक्षण के अनुसार भी आपकी आत्मा कर्ता नहीं है।[3]

---

१. स एव कर्ता इति स एव पञ्चस्कन्धलक्षणः कर्ता नात्मेति सिद्धोऽर्थः।

२. तस्य तु स्वातंत्र्यं नास्तीति दर्शयन्नाह त्रिविधं चेदं कर्मेति विस्तरः।

कायस्य चित्तपरतन्त्रा वृत्तिः चित्तप्रवर्तितत्वात् कायकर्मणः। चित्तस्यापि काये वृत्तिः स्वकारणपरतंत्रा मनोधर्ममनस्काराविपरतंत्रा। तस्याप्येवम्। तस्य चित्तस्वकारणस्य स्वकारणपरतंत्रा वृत्तिरिति नास्ति कस्य चिद् अपि स्वातंत्र्यं कायस्य चित्तस्य चित्तकारणस्यान्यस्य वा। प्रत्ययपरतंत्रा हि सर्वे भावाः।

चतुर्भिश्चित्तचैत्ता हि समापत्तिद्वयं त्रिभिः

द्वाभ्याम् अन्ये तु जायन्ते।

इति वचनात् (२.६५)।

आत्मनोऽपि च निरपेक्षस्य बुद्धिविशेषाद्युत्पत्तावकारणत्वाभ्युपगमान् न स्वातंत्र्यं सिध्यति। तस्मान् नैवंलक्षण इति स्वतंत्रः कर्तेति।

३. एवं तर्हि कर्तेत्याह। यत् तु यस्य प्रधानकारणं तत् तस्य कर्तेत्युच्यते। प्राधान्येन तत् प्रतीत्योत्पत्तेः। स एवम् अपि कर्ता न युज्यत इति प्रधानकारणभावेनापि न युज्यत इत्यर्थः।

काय-कर्म की उत्पत्ति का प्रधान कारण वास्तव में क्या है ?[1] स्मृति कर्म के लिए छन्द (=कर्तुकामता) उत्पन्न करती है; छन्द में वितर्क उत्पन्न होता है; वितर्क से प्रयत्न प्रवृत्त होता है; इससे वायु उत्पन्न होती है—वायु से काय-कर्म होता है ।—इस प्रक्रिया में वैशेषिकों की आत्मा का क्या कारित्र है ? यह आत्मा काय-कर्म का कर्ता निश्चय यही नहीं है ।—इसी प्रकार वाचिक और मानसिक कर्म को भी समझिये ।

यह व्यर्थ ही कहते हैं कि आत्मा फल का उपभोक्ता है, क्योंकि उसको फल की उपलब्धि या विज्ञान होता है, किन्तु आत्मा का विज्ञान सामर्थ्य-प्रतिषिद्ध है जैसा, हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं ।[2]

[२६५] वैशेषिक—यदि कोई आत्मा नहीं है तो असत्त्वाख्य में कुशल और अकुशल कर्मों का विपाक क्यों नहीं होता ?[3]

क्योंकि असत्त्वाख्य के 'अनुपात्त' स्कन्ध वेदनादिक के आश्रय होने में अक्षय हैं,

---

१. तस्याकारणत्वं उपदर्शयन्नाह ।······पूर्वं स्मर्तव्यार्थे स्मृतिरुत्पद्यते । स्मर्तेश्छन्दः कर्तुकामता । छन्दाद् वितर्कः चेतनाविशेषोऽभिसंस्कारलक्षणः प्रज्ञाविशेषोऽभिसंस्कारलक्षणः प्रज्ञाविशेषो वा योगाचारनयेन वैभाषिकनयेन त्व अभिनिरूपणा विकल्पलक्षणः । ए वितर्कात् प्रयत्नो वीर्यम् । प्रयत्नाद् वायुः । ततो वायोः कर्म देशान्तरोत्पत्तिलक्षणम् इति किम् अत्रात्मा कुरुते ।

ए. कदाचिद् हस्तलिखित पोथी अशुद्ध है । शुआन-चाङ् वितर्क का अनुवाद दो अक्षरों से करते हैं जिनका अन्यत्र अनुवाद वितर्क-विचार किया जाता है । वैभाषिक नय से यहाँ वितर्क का अर्थ (अभि)निरूपणा विकल्प से है । यह कोश, १.३३ ए, में व्याख्यात तीन विकल्पों में एक है । यह एक प्रज्ञा-विशेष है जो सन्तीरणात्मक उपनिध्यानपूर्वक होता है । योगाचार नय से वितर्क प्रज्ञा विशेष है जिसका लक्षण अभिसंस्कार व्यवसाय है (प्रज्ञाविशेष अभिसंस्करण लक्षण) । एक आचार्य के मत में वितर्क चेतना है जिसका लक्षण अभिसंस्करण है (कोश, १.१५ ए) ।

२. विज्ञाने प्रतिषेधाद् इति यैवोपलब्धिस्तद् एव विज्ञानम् । विज्ञाने चात्मनः सामर्थ्यं प्रतिषिद्धं चित्ताद् एवास्तु संस्कारविशेषापेक्षान् न हि······फुटस्वाहानाम् इति (पृ० २८७, टि० १) । यथा तथोक्तम् इति । तद्विकारविकारित्वाद् आश्रयश्चक्षुरादय इति (१.४५ ए-बी) । यथा कः कस्याश्रयः······नैव स एवम् आश्रयः (पृ० २६०, टि० १) ।

३. इस वाक्य के अनुसार : न हि भिक्षवः कर्माणि कृतान्युपचितानि बाह्ये पृथिवीधातौ विपच्यन्ते । अपि तुपात्तेषु स्कन्धधात्वायतनेषु········(दिव्य, ५४ और आगे) । सत्त्वाख्य, उपात्त पर कोश, १.१० बी, पृ० १७; ३४ सी, पृ० ६३, ३६; पृ० ७३; ४.५ डी, पृ० २८ ।

केवल आध्यात्मिक षडायतन, न कि आत्मा वेदनादिक के आश्रय हैं, जैसा कि हमने सिद्ध किया है ।

वैशेषिक—आत्मा के अभाव में विनष्ट अतीत कर्म अनागत फल का उत्पाद कैसे कर सकता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में हम पहले पूछते हैं कि यदि आत्मा का अस्तित्व है तो फलोत्पादन का सामर्थ्य विनष्ट कर्म में कैसे होता है ? वैशेषिक का मत है कि फल की उत्पत्ति धर्म और अधर्म[1] से—जो आत्म द्रव्याश्रयी प्रात्य समवाय गुण हैं, होती है । किन्तु, हम आश्रय या आधार के विचार की परीक्षा कर चुके हैं[2] और हमने दिखाया है कि यह युक्तियुक्त नहीं है ।

अन्त में हम यह कहना चाहते हैं कि आर्य देशना के अनुसार अनागत फल विनष्ट कर्म से नहीं उत्पन्न होता है[3] : वह तो कर्मसंतान के परिणाम क्षण में उत्पन्न होता है ।[4] आइये हम परीक्षा करें कि—

[२९६] बीज से फल की कैसे उत्पत्ति होती है । लोक में कहते हैं कि फल बीज से उत्पन्न होता है; किन्तु इस युक्ति का अर्थ यह नहीं होता कि फल निरुद्ध बीज से उत्पन्न होता है या फल बीज के अनन्तर [अर्थात् विनश्यमान बीज से] उत्पन्न होता है । वास्तव में, बीज सन्तान के परिणाम प्रति प्रकृष्ट क्षण से फल की उत्पत्ति होती है : बीज उत्तरोत्तर अंकुर, काण्ड, पत्र का उत्पादन करता है और अन्त में पुष्प का जिससे फल का

---

१. H. Ui, वैशेषिक फिलासफी, ७५, ९८; कोश, ४.२ बी, पृ० ७ ।

२. ऊपर पृ० २२८ देखिये ।

३. सर्वास्तिवादी के मत में विपाक हेतु अतीत होकर ही फल प्रदान करता है । (२. ५७, ५९); अतः अतीत का सद्भाव है (५.२५ ए-बी, पृ० ५१) । वसुबन्धु (५, पृ० ६३) कहते हैं कि सौत्रान्तिक यह स्वीकार नहीं करते कि फल कर्म के अनन्तर ही उत्पन्न होता है ।—विविध कर्मफल पर, ४.८५ देखिये ।

मध्यमक, १७.६ और आगे देखिये : "यदि कर्म की अवस्थिति विपाककाल तक है तो यह नित्य होगा······" । वसुबन्धु जिस मत का यहाँ उल्लेख करते हैं, इसका प्रतिषेध २७.१२ में किया गया है; चन्द्रकीर्ति का मत, १७.१३ : "जब कर्म का उत्पाद होता है, तब सन्तान में चित्त-विप्रयुक्त एक धर्म भी उत्पन्न होता है । यह अव्याकृत है । यह भावना से विनष्ट होता है । इसे अविप्रणाश कहते हैं । यह कर्मफल का उत्पाद करता है ।

दूसरी दृष्टि से अंकुर न निरुद्ध बीज से और न अनिरुद्ध बीज से उत्पन्न हो सकता है, चतुस्तव से मध्यमकावतार, ९७, और बोधिचर्यावतार-पंजिका, ९.१०८ में उद्धृत ।

४. कर्मसन्तानपरिणामविशेष, देखिये २,३६ सी; पृ० १८५ ।

प्रादुर्भाव होता है।—यदि कोई यह कहता है कि बीज से फल की उत्पत्ति होती है तो इसका कारण यह है कि बीज, मध्यवर्तियों की परम्परा से, पुष्प में फलोत्पादन का सामर्थ्य आहित करता है।[1] यदि फलोत्पादन-सामर्थ्य का, जो पुष्प में पाया जाता है, पूर्व हेतु न होता तो पुष्प का बीज सदृश फल उत्पन्न न करता। इसी प्रकार कहा जाता है कि फल कर्मजनित है; किन्तु यह विनष्ट कर्म से उत्पन्न नहीं होता, यह कर्म के अनन्तर उत्पन्न नहीं होता। यह कर्म-समुत्थित सन्तान के परिणाम के अतीत प्रकृष्ट क्षण से उत्पन्न होता है।

सन्तान से हमारा अभिप्राय रूपी और अरूपी स्कन्धों से है जो अविच्छिन्न रूप से एक सन्तान में उत्तरोत्तर प्रवर्तमान होते हैं और जिस सन्तान का ५९ हेतु कर्म है। इस सन्तान के निरन्तर क्षण भिन्न हैं, इसलिए सन्तान का परिणाम अन्यथात्व होता है। इस परिणाम का अन्त्य क्षण एक विशेष या प्रकृष्ट सामर्थ्य रखता है। यह सामर्थ्य फल का तत्काल उत्पादन करता है। इस कारण यह क्षण अन्य क्षणों से विशिष्ट है, इसलिए इसे विशेष अर्थात् परिणाम का प्रकर्ष-पर्यन्त प्राप्त क्षण कहते हैं।

उदाहरण के लिए, जब मरणचित्त स-उपादान होता है, तब उसमें नवीन भव के उत्पादन का सामर्थ्य होता है। इस चित्त के पूर्ववर्ती सब प्रकार के अनेक कर्म होते हैं; तथापि यह गुरु कर्म से आप्त सामर्थ्य है जो अन्तिम चित्त का अभिसंस्कार करता है (विशिष्ट करता है)।

[२९७] गुरुकर्म के अभाव में आसन्नकर्म से आहित सामर्थ्य उसके अभाव में अभ्यस्त कर्म से आहित सामर्थ्य अन्तिम चित्त को विशिष्ट करता है।[2] [राहुल का] एक श्लोक यहाँ उदाहृत करते हैं[3] : "गुरुकर्म, आसन्नकर्म, अभ्यस्तकर्म, पूर्वकृतकर्म, ये चार इस सन्तान में विपच्यमान होते हैं।"

विपाकफल और निष्यन्दफल (२·५६, ४·८५) में विवेक करने का कारण है। जो

---

१. तदाहितं हि तद् इति तेन बीजेनाहितं तत् सामर्थ्यं इत्यर्थः।

२. शुआन-चाङ् : "उदाहरणार्थ 'रागसंप्रयुक्त' चित्त जीवन के अन्त तक। यद्यपि नवीन भव उत्पन्न करने का सामर्थ्य रखने वाले सब प्रकार के कर्म वासना-बीज आहित करते हैं, तथापि गुरु-आसन्न-अभ्यस्त कर्म से उत्पन्न [चित्त] ही [मरण-काल में] प्रादुर्भूत होता है, दूसरा नहीं। यहाँ श्लोक उदाहृत करते हैं······"।

३. यथोक्तम् इति। स्थविरराहुलेण। यद् गुरु यच्चासन्नम् इति विस्तरः। एकस्मिन् सन्ताने चत्वारि कर्माणि गुर्वासन्नम् अभ्यस्तं पूर्वकृतं च। एषां चतुर्णां गुरु कर्म पूर्वम् इति त्रिभ्यस्तत् पूर्वं विपच्यते। आसन्नाभ्यस्त-पूर्वकृतानाम् अप्यासन्नं पूर्वम् इति तत् पूर्वं द्वाभ्यां विपच्यते। अभ्यस्तपूर्वकृतयोश्चाभ्यस्तं पूर्वम् इत्येकस्मात् पूर्वं विपच्यते। असत्स्वेतेषु पूर्वजन्मकृतं विपच्यते अपरपर्यायवेदनीयम्।

सामर्थ्यं विपाक हेतु से आहित हो, विपाकफल का उत्पादन करता है। जब वह अपना फल प्रदान कर चुकता है। तब विलुप्त हो जाता है।[1] इसके विपरीत सभाग हेतु से आहित सामर्थ्य जो निष्यन्दफल का उत्पादन करता है,

[२९८] फलोत्पत्ति से विनष्ट नहीं होता। जब यह सामर्थ्य क्लिष्ट होता है, तब यह प्रतिपक्ष बल से विनष्ट होता है। जब यह क्लिष्ट नहीं होता, तो यह निर्वाण से विनष्ट होता है जो सन्तान, रूप और चित्त का निरोध करता है।

प्रश्न है कि फल से नवीन विपाक की उत्पत्ति क्यों नहीं होती ? जैसे वृक्ष के फल से एक दूसरा फल उत्पन्न होता है, क्योंकि फल बीज भी है।[2]

जैसा कि पृष्ठ ३००, टि० १ में है, हम आर्या का श्लोक उद्धार कर सकते हैं :

यद् गुरु यच्चासन्नं [यच्चाभ्यस्तं यत् पूर्वकृतं च]।
पूर्वं पूर्वं पूर्वं पश्चात् (चरमं ?) तत् कर्म विपच्यते ।।

१. यह अधिक उपयुक्त होगा ·····विपाकफल के उत्पादन का सामर्थ्य, वह सामर्थ्य जिसे एक हेतु सन्तान में आहित करता है·····। कोश, ३.३७ सी—इस प्रश्न का उल्लेख ४.५०, पृ० ११४ की टिप्पणी में हुआ है, वहाँ ग्रन्थ-सूची का एक भाग भी मिलेगा।—अन्धकों की प्रतिज्ञा है कि विपाक विपाकधर्म है : विपाक का एक अपर विपाक होता है (कथावत्थु, ७.१०); राजगिरिक और सिद्धत्थिक सुत्तनिपात (६५४) का प्रमाण देकर यह प्रतिपादित करते हैं कि—सब्बम् इदं कम्मतो; थेरवादी उनको यह कहने पर विवश करते हैं कि घातक घातविपाक से घात करता है—निर्वाण असम्भव हो जायेगा (कथावत्थु १७.३)।—मध्यमकावतार, ६.४१ यह सिद्ध करता है कि विपाक के अनन्तर अपर विपाक नहीं होता।—कर्मप्रज्ञाप्ति (मदो, ६२, आगे २४३ बी) में मौद्गल्यायन निर्ग्रन्थों के इस मत का प्रतिषेध करते हैं कि सकल वेदना पूर्वकृत कर्म से प्रवृत्त होती है (मज्झिम, २.२१४ से तुलना कीजिए) —निर्ग्रन्थ कहते हैं कि कष्ट तपवश जो दुःख वह करते हैं, सत्त्व-ग्रहण वह विपाक है। हमारे मत के अनुसार सत्त्व विपाक से अपर विपाक का अनुभव करता है।—"आप व्यवदान, मोक्ष, निर्वाण स्वीकार करते हैं ?"—"हाँ"—"तब यह न कहिए कि विपाक से एक अपर विपाक उत्पन्न होता है।"

हम, ४.५८ में देख चुके हैं कि दौर्मनस्य और चित्तक्षेप विपाक नहीं हैं, किन्तु वे विपाकभूत महाभूतों के उपद्रव से अवश्यमेव उत्पन्न हो सकते हैं।

२. यहाँ कुछ शब्दों का अनुवाद मैंने नहीं दिया है। शुआन-चाङ् के अनुसार ····· "उदाहरण धर्म-सर्व-सदृश नहीं है" और परमार्थ के अनुसार "यहाँ जो अर्थ सबने व्यवस्थित किया है, वह उदाहरण के अर्थ के सर्वथा सदृश नहीं है।"

जापानी सम्पादक इस वाक्य को वसुबन्धु के मुख में रखते हैं; इसी प्रकार श्चेर्बात्स्की जो यह अनुवाद करते हैं, "उदाहरण पूरी तरह से न घटे, किन्तु यदि मान भी लिया जाय कि यह घटित होता है तो क्या यह आपके वाद को सिद्ध करता है ? क्या नया फल पूर्व फल के अनन्तर उत्पन्न होता है ?"

किन्तु हमारा उत्तर है कि यह यथार्थ नहीं है कि फल-बीज से फलान्तर की उत्पत्ति होती है।[1] एक नये सन्तान के परिणाम से अन्यत्र फलान्तर किससे उत्पन्न होता है ? प्रथम फल बीज-परिणाम के लिए आवश्यक प्रत्यय विशेष (भूमि, उदक आदि) आसादित कर परिणाम के अतिप्रकृष्ट अन्त्य क्षण को उत्पादित करता है—

[२६६] इससे फलान्तर की उत्पत्ति होती है। जिस क्षण में यह अंकुर उत्पादित करता है, उस क्षण में पूर्वफल बीज कहलाता है। यदि किसी प्रकार के विकार के पूर्व [उत्पत्ति-क्रम के पूर्व] पूर्वक सन्तान को बीज कहते हैं, तो वह व्यपदेश भाविनी संज्ञा से होता है; अथवा इसकी बीज की व्याख्या इसलिए है, क्योंकि विकारविशेषसम्पन्न बीज का विकारविशेषरहित बीज अर्थात् पूर्वक सन्तान से सादृश्य है।—ऐसा यहाँ भी है[2]— विपाक फल[3] (शरीरादि, देखिये २·१०, ३·३७ सी, ४·११, पृ० ४०) प्रत्यय विशेष

आगे चलकर पृ० २६६, पंक्ति १३ में इस उदाहरण के विवेचन को समाप्त करते हुए शुआन-चाङ् कहते हैं कि "इसलिए उदाहरण का साधर्म्य (सधर्म) है"; परमार्थ : "इसलिए उदाहरण नियत अर्थ के समान है"—"इसलिए यह उदाहरण हमारे वाद का समर्थन करता है।"

१. हम शुआन-चाङ् का अनुसरण करते हैं। बोधिचर्यावतार के ४७२-४७३ परिच्छेद से तुलना कीजिए। – भाष्य : न फलाद् एव फलान्तरम् उत्पद्यते किं तर्हि विक्लित्तिविशेषजाद् विकारविशेषात्। यो हि तत्र भूतप्रकारोऽङ्कुरं निर्वतयति स तस्य बीजं नान्यः। भाविन्या संज्ञया पूर्वकोऽपि सन्तानो बीजम् आख्यायते सदृश्याद् वा।

व्याख्या : विक्लित्तिविशेषजाद् इति भूम्युदकसम्बन्धात् फलस्य सूक्ष्मो विकारो विक्लित्तिः। तस्य विशेषः। स एवातिप्रकृष्टः। तस्माज्जातो विकारविशेषः। तस्माद् फलान्तरम् उत्पद्यते। किदृशाद् विकारविशेषाद् इति दर्शयन्नाह। यो हि तत्र भूतप्रकारोऽङ्कुरं निर्वतयति स तस्य बीजम् इति तस्याङ्कुरस्य बीजं नान्यो भूतप्रकारो न पूर्वबीजावस्थो भूतप्रकार इत्यर्थः॥ भाविन्या तु संज्ञयेति। ओदनं पचति सक्तुं पिनष्टीति यथा भाविन्या संज्ञाया व्यपदेशः एवं पूर्वकोऽपि सन्तानो अविक्लिन्नबीजावस्थो बीजम् इत्याख्यायते। भाविन्याऽनया संज्ञयेति। सादृश्याद् वेति विक्लित्तिविशेषजेन भूतविकारविशेषेण सदृशः स पूर्वकः सन्तान इति कृत्वा बीजम् इत्याख्यायते।

२. एवम् इहापीति विस्तरः। यदि सद्धर्मश्रवणयोनिशोमनस्कारप्रत्ययविशेषाज्जातः कुशलः सास्रवश्चित्तविकार उत्पद्यते। असद्धर्मश्रवणायोनिशोमनस्कारप्रत्ययविशेषाज्जातोऽकुशलो वा चित्तविकार उत्पद्यते। तस्मात् तद् विपाकान्तरम् उत्पद्यते नान्यथा इति समानम् एतत्। तद्यथा न फलाद् एव फलान्तरम् उत्पद्यते किं तर्हि विकारविशेषाद् एवं न विपाकादेव विपाकान्तरम् उत्पद्यते किं तर्हि चित्तविकारविशेषाद् उत्पद्यत इदि तुल्यम् एतत्।

३. विपाकज पर, १.३७, पृ० ६८, २.१०, ५३ बी, पृ० २६५, ५४ सी, पृ० २७१, ५७ ए, पृ० २६०, ७१ बी, पृ० ३२०; ४.११, पृ० ४० देखिये।

आसादित करता है। यदि सद्धर्म श्रवण प्रत्यय विशेष है, तो उससे कुशलसास्रव चित्तविकार उत्पन्न होता है। यदि असद्धर्म श्रवण प्रत्यय विशेष है, तो उससे अकुशल चित्तविकार उत्पन्न होता है। इन चित्तविकारों से सन्तान-परिणाम का प्रवर्तन होता है। इस परिणाम के प्रकर्ष-पर्यन्त प्राप्त क्षण से विपाकान्तर की उत्पत्ति होती है; अन्यथा नहीं होती। इसलिए यह उदाहरण हमारे सिद्धान्त को युक्त सिद्ध करता है।

हम एक दूसरा उदाहरण देकर [जो प्रदर्शित करता है कि विपाकान्तर प्रथम विपाक के उत्तर अवश्यमेव नहीं होता] विपाक के स्वभाव का विचार कर सकते हैं। यदि हम मातुलुङ्ग पुष्प को लाक्षा रस से रक्त करें तो बीज सन्तान में एक विकारविशेष उत्पन्न होगा जो फलान्तर के केसर को रक्त कर देगा, किन्तु रक्त केसर के आरोपण से पुनः रक्त केसरान्तर उत्पन्न नहीं होगा। इसी प्रकार कर्मज विपाक से पुनः विपाकान्तर नहीं होता।[1]

---

१. व्याख्या : फले रक्तः केसर इति फलाभ्यन्तरे केसरः। यत्र बीजपूरकरसे अम्लो-ऽवतिष्ठते॥ न च स तस्मात् पुनरन्य इति। न रक्तरक्तः केसरस्तस्माद् उपतात् पुनर् उपजायते। किं तर्हि प्राकृत एवारक्तः केसर उपजायत इत्यर्थः॥ इदम् अत्रोदाहरणम्। यथा लाक्षारसरक्तमातुलंगपुष्पफलाद् (पोथी—लाक्षारसरं तद् मां) रक्तकेसरान् न रक्तं केसरान्तरं पुनर् भवति एवं कर्मजाद् विपाकान् न पुनर् विपाकान्तरम् इति। आह चात्र।

चितं हि एतद् अनन्तबीजसहितं सन्तानतो वर्तते।
तत्र तद् बीजम् उपैति पुष्टिम् उचिते स्वप्रत्यये चेतसि।
तत् पुष्टं द्रुमलब्धवृत्ति फलदं कालेन सम्पद्यते।
रंगस्येव हि मातुलंगकुसुमेऽन्यस् तस्य तत्केसरे॥

पुनर् आह।

कर्पासबीजे पुष्पे च मातुलंगस्य रञ्जिते।
लाक्षया जायते रक्तं यथा कर्पासकेसरम्॥
तस्मिन्न अस्तम् इते रंगे सन्तानाद् भावितक्रमात्।
कर्मण्यस्तम् इते चैव भावनातः फलोदयः॥

इस श्लोक से सर्वदर्शन-संग्रह (जैन अध्याय के आरम्भ में) उद्धृत श्लोकों की तुलना कीजिए :

यस्मिन्नेव संतन आहिता कर्मवासना।
फलं तत्रैव बध्नाति कार्पासे रक्तता यथा॥
कुसुमे बीजपूरादेर् यल् लक्षाद्युपसिच्यते।
शक्तिराधीयते तत्र का चित् तां किं न पश्यसि॥

इनमें से पहला श्लोक बोधिचर्यावतार, ६.७३ (इसका आरम्भ तद् उक्तम् से होता है); २.२.२७ पर (वासनावैचित्र्यात्) आनन्दगिरि के आत्मतत्त्वविवेक (कलकत्ता, १८७३)

[३००] यहाँ एक श्लोक उदाहृत करते हैं, कर्म, कर्म-भावना, भावना का वृत्ति-लाभ, उससे उत्पन्न फल—इस प्रक्रिया को बुद्ध के अतिरिक्त दूसरा सर्वथा नहीं जानता। इसलिए यह देखकर कि बुद्धों के प्रवचन की धर्मता सुखहित हेतु मार्ग से निरवद्य है और कुचक्षुवाले और कुचेष्टावाले अन्धकों के मत का परित्याग कर प्रज्ञाचक्षु वाले अभिमुख होते हैं।[1]

मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार कर्मविपाक का संक्षेप और स्थूल रूप से व्याख्यान किया है—

[३०१] लेकिन केवल बौद्ध ही जानते हैं कि स्वभाव-रञ्जित सन्तान-विशेष इसी प्रकार परिवर्तित होती जाती है कि इस परिणाम में वैसे पहुँचकर केवल यही फल देता।

वास्तव में मन्दचक्षु इस निरात्मा के सिद्धान्त को नहीं देखता। निर्वाण पुर को ले जाने वाला यह एक ही मार्ग है। तथागत-रूपी सूर्य के वचन-रूपी किरणों से भास्वर है। सहस्रों आर्य इसका अनुसरण करते हैं और यह अन्तराय से रहित है।[2]

इस ग्रन्थ में मतिमान के लिए दिग्मात्र ही उपदिष्ट किया गया है। विष व्रणदेश को प्राप्त कर अपने ही सामर्थ्य से सब अंग-प्रत्यंग में फैल जाता है।[3]

पृ० १०२ (लाक्षारसावसेकाद् वा धवलिमानम् अपहाय रक्ताम् उपादायानुवर्तमानं कार्पास-बीजम्…) से तुलना कीजिए।—दूसरे श्लोक की पहली पंक्ति का उपयोग कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में पृ० २६७ में किया है। इस पर विभिन्न उद्गम, ब्राह्मनिक उद्धरणों के अनुसार बुद्धिज्म, म्यूजिओ, १९०२ (पृ० ६३)।

१. व्याख्या—कर्मेति सर्वं तद्भावनां कर्मभावनां तस्माद् भावनाया वृत्तिलाभं तद्वृत्ति-लाभं ततस्तद्वृत्तिलाभात् फलम् इत्येतच्चातुष्टयम् नियमेन यदृच्छया। बुद्धाद् अन्यः श्रावकादिः सर्वथा सर्वाकारं न प्रजानातीत्यर्थाद् उक्तं भवति बुद्ध एव तत् सर्वं सर्वथा प्रजानातीति।

हम इस श्लोक का उद्धार कर सकते हैं—

कर्म च तद्भावनां च तस्याश्च वृत्तिलाभं ततः फलम्।
बुद्धाद् अन्यो नियमेन सर्वथा न प्रजानाति॥

उसी ग्रन्थ का है जिस ग्रन्थ से पृ० २७९, टि० २ का श्लोक उद्धृत हुआ है।

१. "निर्वाणाभिमुख होते हैं" या "इस धर्मता में प्रतिपन्न होते हैं"।

२. परमार्थ यहाँ एक श्लोक देते हैं: "भगवान् बुद्ध पूर्ण से कहते हैं—इस धर्म की रक्षा में यत्नशील हो जो दर्शन का अभ्यास करता है और इस धर्म के अनुसार आचरण करता है, निश्चय ही पाँच गुणों का लाभ करता है:

३. व्याख्या की सहायता से इन तीन श्लोकों का उद्धार हुआ है:

इत्येषां प्रवचनधर्मतां निशम्य सुविहितहेतुमार्गशुद्धाम्।
अन्धानां विविधकुदृष्टि चेष्टितानां मतम् अपविध्या यान्त्यनन्धाः॥

इमां [हि] निर्वाणपुरैकवर्तनीं तथागतादित्यवचोंऽशुभास्वतीम् ।
निरात्मताम् आर्यसहस्रवाहितां [स] मन्दचक्षुर्विवृतां न [पश्यति]॥
इति दिग्मात्रम् एवेदम् उपदिष्टं सुमेधसाम् ।
व्रणदेशे विषस्यैव स्वसामर्थ्यविसर्पिणः ॥

व्याख्या : ए. इतिकरणः परिसमाप्त्यर्थः । प्रदर्शनार्थो वा !! एषां बुद्धानां प्रवचन-धर्मतां सुविहितेन हेतोर् मार्गेण हेतुमार्गेण शुद्धां विरक्तां निशम्य दृष्ट्वा ॥ अन्धास्तीर्थ्या यथाभूतदर्शनवैकल्यात् । कुत्सिता दृष्टिः कुदृष्टिः । तस्यास्चेष्टितानि कुदृष्टिचेष्टितानि । विविधानि कुदृष्टिचेष्टितान्येषाम् इति विविधकुदृष्टिचेष्टिताः । स्वर्गापवर्गहेताव् अप्रति-पन्ना मिथ्याप्रतिपन्नाश्चेति । अर्थः ॥ तस्माद् एवं विधानां कपिलोलूकादीनां मतं दर्शनम् अपविद्या त्यक्त्वा यान्ति संसारान् निर्वाणम् इति वाक्याध्याहारः । के ते सत्त्वाः । प्रज्ञाचक्षुष्मंत आर्यश्रावकाः । अथ वा ताम् एव प्रवचनधर्मतां यान्ति प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः ।

प्रवचनधर्मता पुनरत्र नैरात्म्यं बुद्धानुशासनी वा ॥ अन्य आहुः । प्रवचनं सूत्रादि-द्वादशांगवचोगतम् । तस्य धर्मता स्वाख्यातता युक्त्युपेतत्वान् निर्वाणप्रवणता च निर्वाणद्योतनत् । यथोक्तम् । सर्व इमे धर्मा निर्वाणप्रवणाः निर्वाणप्राग्माराः निर्वाणम् एवाभिवदन्तोऽभि-वदन्तीति । अनात्मसंज्ञिनश्च निर्वाणे शान्तसंज्ञाः संतिष्ठन्ते आत्मोच्छेदाशंकापगमाद् इति तद् एवम् अनन्धा एव यान्ति नान्धाः । अन्धास्तु भ्रमन्त्येव संसारार्णवे नैरात्म्यम् अपश्यन्तः । तद् दर्शयन्नाह इमां हीतिविस्तरः ।

बी. इयं निरात्मता । निर्वाणमेव पुरं निर्वाणपुरम् । तस्यैका वर्तनीति निर्वाणपुरैक-मार्गो नान्यो मार्ग इत्यर्थः ॥ तथागत एवादित्यो गम्भीरधर्मावकाशकत्वाद् आदित्यभूतस्तथा-गतः । तस्य वचांसि । तान्येवांशवः । तैर् भास्वती आलोकवती तथागतादित्यवचोंऽशुभास्वती ॥ आर्याणां सहस्रैर् वाहितेत्यार्यसहस्रवाहिता ॥ विवृता समिता ॥ इमां निर्वाणपुरैकवर्तनीं तथागतादित्यवचोंऽशुभास्वतीं विवृताम् अपि निरात्मतां प्रज्ञाचक्षुषो विज्ञाबस्याभावाद् अविद्याकोशपटलपर्यावनद्धनेत्रत्वाद् वा मन्दचक्षुस्तीर्थिको वात्सीपुत्रीयो वा नेक्षते ।

त्रयश्चेह मार्गगुणा वर्ण्यन्ते । तद्यथैकायनता अभिप्रेतदेशप्रायणात् । सालोकता यतो निःशंको गच्छति । यतानुयातता च परिमर्दितस्थाणुकण्टकादित्वाद् येन सुखं गच्छति । तत्साधर्म्येणेयं निरात्मता वर्तनी द्रष्टव्या ॥ चतुर्भिश्च कारणैर्मार्गो न विद्यते स [······] तमस्कतया । प्रकाशितोऽप्यादित्येन अवाहिततया । बहुपुरुषवाहितोऽप्यावृततया । विवृतोऽपि द्रष्टुर्मन्दचक्षुष्कतया । तेषाम् इहैकम् एव कारणम् अस्य मार्गस्यादर्शन उक्तम् । यतो द्रष्टृदोषेणैवायं मार्गो न दृश्यते न मार्गदोषेणेति यत एष मन्दचक्षुरेतां न पश्यतीत्यव-गन्तव्यम् ।

सी. इति दिग्मात्रम् एवेदम् इति सर्वम् इति यथोक्तम् । दिग् एव दिग्मात्रम् । एवकारार्थो मात्रशब्दः । दिक् प्रमाणम् अस्येति दिग्मात्रम् इति वा । महतोऽभिधर्मशास्त्राद् अल्पम् इदम् उपदिष्टम् । मयेति वाक्यशेषः ॥ केषाम् । सुमेधसां मतिमताम् इत्यर्थः ।

तादर्थ्य षष्ठी। किंवद् इत्याह। व्रणदेशे विषस्येव स्वसामर्थ्यविसर्पिण इति। यथा वि स्वसामर्थ्याद् व्रणदेशं प्राप्य सर्वेष्वंगप्रत्यगेषु अभ्यन्तरविसर्पतीति मत्वा केन चित् तस्य व्रणदेश कृत: कथं नामेदं विसर्पतीति। एवं सुमेधस: स्वसामर्थ्यविसर्पित्वाद् विषस्थानीया इति अतस्तेषां सुमेधसाम् उद्घटितज्ञानां प्राज्ञानाम् इदम् उपदिष्टं मया कथम् अल्पेन ग्रन्थेन महद् अभिधर्मशास्त्रं काश्मीरवैभाषिकनीतिसिद्धम् अर्थत: प्रतिपद्येरन्निति ॥ अपरे पुनर् व्याचक्षेत दिग्मात्रम् एवेदम् इतीदम् एव नैरात्म्यप्रतिषेधम् अधिकृत्योक्तम् इति। काश्मीर-वैभाषिकनीतिसिद्ध: प्रायो मयायं कथितोऽभिधर्म इति (८.४०) अनेनैवार्थस्याभिहितत्वाद् इति।